प्राचीन भारत में आपद्धर्म (आपद्धर्म) का एक ऐतिहासिक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

निर्देशक :

प्रो० राम कृष्ण द्विवेदी

प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्त्री :

श्रीमती रेनू मिश्रा

प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्व विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

1991

भवत्यधर्मो धर्मो हि धर्माधर्मावुभावपि ।
कारणाद् देशकालस्य देशकाल: स तादृश: ।।

महाभारत, शान्तिपर्व, राजधर्मानुशासनपर्व 78 .32

समय और स्थान परिवर्तन के
कारण ही धर्म अधर्म स्वरूप तथा
अधर्म धर्म स्वरूप हो जाता है ।

:::::

भू मि का

" प्राचीन-भारत में आपद्धर्म का ऐतिहासिक अध्ययन " एक सारगर्भित प्रश्न है जो मानव समाज की प्राचीनतम विचारधाराओं एवं आदर्श संवेदना के संगम से प्रवाहित विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न मानक व मापदण्ड के रूपक धर्म के सापेक्ष अध्ययन से अभिप्रेरित है । एक व्यवस्थित समाज की परिकल्पना धर्म अवधारणा के अभाव में कपोल कल्पित है । सभ्यताओं का उत्थान-पतन चिरकाल से निरन्तर गति से होता रहा है किन्तु इसमें धर्म का बीज सदैव से निष्पन्न रहा है । आपद्धर्म धर्म का ही विषम परिस्थितिजन्य पूरक विषय है । आपद्धर्म विशेष परिस्थितियों में समाज द्वारा या समाज के किसी व्यक्ति विशेष द्वारा समाज की रक्षा या व्यक्ति विशेष की रक्षा हेतु प्रतिपादित कार्य या उक्त उद्देश्य की प्राप्ति हेतु क्रियान्वित कार्य प्रणाली है तथा इसका उस काल में उस समाज द्वारा मान्य धर्म की अवधारणा के अनुकूल या प्रतिकूल होना अनिवार्य नहीं है

प्राचीन भारत में उपलब्ध आदिकालीन रचनाओं ऋग्वेद, धर्मसूत्रों कौटिल्य अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, महाभारत तथा पुराणों के खण्ड पाठों के शीर्षस्थ पाश्चात्य तथा स्वदेशी विद्वानों के ग्रंथानुवाद का अवलोकन एवं अध्ययन करने से यह तथ्य निश्चय ही विदित होता है कि धर्म का स्वरूप सदैव से परिवर्तनशील रहा है तथा समाज की संरचना, प्रगति एवं आवश्यकता के अनुरूप धर्म की अवधारणाएं एवं मान्यताएं शनैः शनैः परिवर्तित होती रही है । अतः दीर्घ काल तक एक संस्कृति में धर्म का स्वरूप कुछ नियमों अथवा शब्दों का ऋणी नहीं है, न ही इसे लेखबद्ध किया जा सकता है । अतएव धर्म की अवधारणा की परिवर्तनशीलता विभिन्न कालों में दृष्टिगत आपद्धर्म की उपस्थिति को अस्थायीत्व एवं अनियमितता का स्वरूप प्रदान करती है । इन परिस्थितियों में विभिन्न कालों में विद्यमान आपद्धर्मों के स्वरूप को लेखबद्ध करना कठिन अवश्य है किन्तु इस शोध ग्रंथ में आदिकाल से समाज

में विद्यमान आपद्धर्मों को परिवर्तित काल के अनुरूप कालखण्डों में विभाजित कर आपद्धर्म के विविध विधाओं का तथा समाज में इसकी प्रबल भूमिका के ऐतिहासिक(तिथि क्रमागत विश्लेषणात्मक) अभिव्यंजना का प्रयास किया गया है ।

विविध ऐतिहासिक ग्रंथों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन इतिहास के विद्वानों का प्रमुख ध्येय धर्म की विविधताओं पर प्रकाश डालना था । डा० पी०वी०काणे के "धर्मशास्त्र का इतिहास" नामक प्रमुख ग्रंथ में धर्म के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है । इस ग्रंथ में आपद्धर्म का वर्णन यत्र-तत्र बहुत ही संक्षिप्त रूप में किया गया है । डच विद्वान जी०एच०मीज के ग्रंथ धर्म एण्ड सोसायटी में भी धर्म के सामाजिक पक्ष पर विचार किया गया है तथा आपत्कालीन परिस्थितियों का प्रसंगवश वर्णन किया गया है ।

डा० ए०एस०अल्टेकर के ग्रंथ " द पोजीशन आव वूमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन " तथा डा० आर० एस० शर्मा के ग्रंथ " शूद्राज इन एंश्यिएण्ट इण्डिया " में प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था का वर्णन उपलब्ध होता है । इन ग्रंथों में भी आपद्धर्म विषयक विचारों का वर्णन बहुत ही कम उपलब्ध होता है ।

प्रस्तुत शोध ग्रंथ का प्रमुख विषय ही " प्राचीन भारत में आपद्धर्म का ऐतिहासिक अध्ययन " है । शोध ग्रंथ के अध्यायों में आपद्धर्म का अर्थ, आपद्धर्म की संकल्पना का सूत्रपात तथा विविध प्रकार के आपद्धर्मों की सैद्धान्तिक व्याख्या तथा ऐतिहासिक कालक्रम के परिप्रेक्ष्य में आपद्धर्म की भूमिका के विस्तृत विवेचन करने का प्रयास किया गया है । शोध ग्रंथ में ऋग्वेद से लेकर 12वीं शताब्दी तक के ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है ।

शोध प्रबन्ध पूर्णता में सर्वप्रथम मैं आचार्य प्रवर डा० एस० सी० भट्टाचार्या तथा डा० वी०डी० मिश्रा जी के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मेरे कार्य में विभागीय सुविधायें उपलब्ध कराने का हर संभव प्रयास किया ।

शोध ग्रंथ की पूर्णता मेरे परम पूज्य गुरुदेव डा० रामकृष्ण द्विवेदी जी की महती कृपा का फल है । शोधकाल के दौरान उन्होंने असीम सहानुभूति

तथा कृपा का पात्र बनाया जिनके विशिष्ट संरक्षण में मेरा शोध ग्रंथ संपन्न हुआ । इसके साथ ही साथ अन्य गुरुजनों में डा० रणजीत सिंह राना जी का भी बहुत ही सहयोग है जिन्होंने समय-समय पर मुझे उचित परामर्श तथा शोध अध्ययन के गूढ़ रहस्यों को समझाया तथा मेरे लेखन में संशोधन भी किया । इसके अतिरिक्त मैं डा० यू०एन०राय, डा० एस०एन०राय, डा० ओम प्रकाश, डा० जय नारायण पाण्डेय जी के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूं जिनके वाद-विवाद के माध्यमों से मेरे शोध विषय के कुछ पक्षों पर प्रकाश पड़ा ।

मैं विभाग के पुस्तकालयाध्यक्ष , गंगानाथ झा शोध संस्थान के पुस्तकालय के कर्मचारियों तथा राजकीय पब्लिक लायब्रेरी के कर्मचारियों की भी ऋणी हूं जिन्होंने विषय अध्ययन में सभी ग्रंथों को उपलब्ध कराने में मदद की ।

शोध ग्रंथ प्रारंभ करने का प्रमुख श्रेय मेरे परिवारजनों को है । शोध अध्ययन में मेरे सास,श्वसुर, माता-पिता,पति तथा बच्चों की बड़ी ही अहम भूमिका रही जिन्होंने हर संभव सुविधायें दी ।

प्रस्तुत शोध लेखन में भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् से बहुत ही आर्थिक मदद उपलब्ध हुई । मैं वहां के निदेशक डा० बी०के०पाण्डे जी के प्रति आभार व्यक्त करती हूं ।

मेरे शोध ग्रंथ टंकण में ईश्वर शरण जी (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद) का बड़ा ही योगदान है जिन्होंने अपनी समस्याओं के बावजूद मेरा ग्रंथ टंकित किया ।

अन्ततः मैं अपने सभी कार्य का कारण ईश्वर की कृपा समझती हूं । मेरे शोध ग्रंथ का मूल मंत्र है-

' सर्वे भवन्तु सुखिनः
सर्वे संतु निरामया: '

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

:::::::::

प्रथम अध्याय

आपद्धर्म की अवधारणा

आपद्धर्म एक सापेक्ष शब्द है जिसका मूल अर्थ व्यक्ति के आपद्कालीन कर्त्तव्यों से है । आपद्धर्म का अर्थ व स्वरूप समझने से पूर्व धर्म की प्रासंगिकता को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझना अति आवश्यक है । आपद्धर्म की प्राथमिक भूमिका धर्म और सामान्य- धर्म से प्रारम्भ होती है ।

धर्म :

धर्म शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के " धृ धातु से हुई है जिसका प्रयोग धारण करने के अर्थ में किया गया है । पी०वी० काणे का विचार है" धर्म उन संस्कृत शब्दों में है जिसका प्रयोग कई अर्थों में होता आया है । यह शब्द अनेक परिवर्तनों विपर्ययों के चक्र में घूम चुका है । शब्दकोष में इसके लिए विविध शब्द प्रयुक्त किये गये हैं जैसे नियम, कर्त्तव्य, अधिकार, न्याय, नैतिकता, गुण, धर्म अच्छे कार्यों के सम्पादन और चारित्रिक गुणों से है ।[1]

भारतवर्ष के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में कई स्थलों पर धर्म शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में किया गया है । एक स्थल पर धर्माणि धारयन शब्द प्रयुक्त किया गया है जिसका अर्थ है " विष्णु सब धर्मों को धारण करता

1- पी०वी० काणे : " धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग , पृ० 3 गर्वन्मेंट ओरियण्टल सीरीज़, पूना, 1941 ।

हुआ तीन पद रखने का विक्रम करता है ।[1] एक स्थल पर धर्म को यज्ञपरक बताते हुए धर्माणि प्रथमान्यासन् शब्द प्रयुक्त किया गया है जिसका अर्थ है, देवगण यज्ञ से यज्ञ पुरुष की पूजा करते हैं, वे धर्म उत्कृष्ट है और प्राथमिक है । व यज्ञ सम्पन्न करते हुए उस सुखपूर्ण लोक को प्राप्त करते हैं जहाँ पूर्व के साधन सम्पन्न देवता रहते हैं ।[2]

एक स्थल पर धर्म को शाश्वत कहते हुए धरुणेषु और धर्माणि शब्द प्रयुक्त किया गया है, जिसका अर्थ है, मनुष्य उत्तम मार्ग पर जाने के लिए यज्ञों में विशाल बल वाले वैश्वानर अग्नि की सेवा करते हैं और रत्न प्राप्त करते हैं । मरण रहित अग्नि देवों की सेवा करता है इसलिए प्राचीन धर्म दूषित नहीं होता है, शाश्वत रहता है ।[3]

1- ऋग्वेद - अनु० दामोदर सातवलेकर : भारत मुद्रणालय, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, 1967, पृ० 42
1.22.18 - त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः । अतो धर्माणि धारयन् ।

2- ऋग्वेद- अनु० दामोदर सातवलकर, भारत मुद्राणालय, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, 1967, पृ० 445 ।
1.164.50- यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन तेह नाकं महिमानं सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।।

3- ऋग्वेद - अनु० दामोदर सातवलेकर, भारत मुद्राणालय, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, 1967, पृ० 11 ।
3.3.1 वैश्वानराय पृथुपाजसे विपो रत्ना विधन्त धरुणेषु गातवे ।
पृ० 11 अग्निर्हि देवाँ अमृतो दुवस्यत्यथा धर्माणि सनता न दूदुषत् ।।

इस प्रकार से ऋग्वेद में वर्णन है कि धर्म में धारक शक्ति होती है थी, धर्म नियमों और यज्ञों का प्रतिपादक था । अतः ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में अग्नि की श्रेष्ठता को स्वीकार किया गया है । अग्नि की पूजा थी तथा हव्य सामग्री के माध्यम से की जाती थी, जिसे यज्ञ कहा जाता था । पी० वी० काणे के अनुसार ऋग्वेद की ऋचाओं में धर्म शब्द मुख्यतः क्रिया या संज्ञा रूप में प्रयुक्त हुआ है (धर्मन् के रूप में सामान्यतः नपुंसक लिंग में) अधिक स्थानों पर धर्म का अर्थ धार्मिक विधि विधानों, धार्मिक क्रिया संस्कारों के रूप में प्रयुक्त हुआ है इस प्रकार धर्म का अर्थ निश्चित नियम, आचरण, नियम व्यवस्था या सिद्धान्त से है ।[1]

ऋग्वेद में धर्म का एक पक्ष ऋत के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है जिसका तात्पर्य नियमों एवं सत्य के पालन से है । एक मंत्र में वर्णन है, ' हे नियमों के रक्षक, सत्य धर्म का पालन करनेवाले मित्र, वरुण तुम दोनों आकाश में रथ पर बैठते हो, संसार की रक्षा करते हो जिस धुलोक को वर्षा जल बरसा कर पुष्ट करती है ।[2]

एक स्थल पर ऋत का संबंध शाश्वत नियमों से है, एक मंत्र में वर्णन है पृथ्वी लोक, धु लोक, वरुण, सूर्य और नदियां सभी अपने-अपने नियमों में रहते हैं कोई भी अपने नियमों का उलंघन नहीं करता ।[3]

जी० एच० मीज ने वेदों में प्रयुक्त ऋत शब्द की व्याख्या की है ऋत शब्द सत्य और अवैयक्तिक नियमों के लिए प्रयुक्त किया गया है । सामाजिक

1- पी०वी०काणे -' धर्मशास्त्र का इतिहास ', प्रथम भाग, पृ० 3, भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, 1930 ।

2- ऋग्वेद अनु० दामोदर सातवलेकर , भारत मुद्राणालय, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, 1979 , पृ० 286 ।

5.63.1 ऋतस्य गोपावधि तिष्ठथो रथं सत्यं धर्मणा परये व्योमिन ।
यमत्र मित्रावरुणावथो युवं तस्मै वृष्टिर्मधुमत पिवन्ते दिवः ।।

3- ऋग्वेद- अनु० दामोदर सातवलेकर, भारत मुद्राणालय, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड

1.101.3 यस्य धावापृथिवी पौंस्यं मह्य यस्य व्रते वरुणो यस्य सूर्यः ।
यस्येन्द्रस्य सिन्ध्वः सश्चति वतं मरुत्वन्त सख्याय हवामहे ।।

दृष्टिकोण से इसका प्रयोग नैतिकता के लिए भी किया गया है ।[1]

ऋग्वेद में प्रयुक्त ऋत के समानार्थक शब्दों का प्रयोग ईरानी ग्रंथ अवेस्ता में भी मिलता है ।[2] डा० लारेन्स मिल्स का मत है अवेस्ता प्रयुक्त अर्श शब्द ऋत की भाँति सृष्टि सम्बन्धी अपरिवर्तनीय व्यवस्था का द्योतक है । इसका प्रयोग दैवी नियमों के लिए किया गया है ।[3] लुई रेनु का विचार है कि आर्यों के भारतवर्ष में प्रवेश से पूर्व ही उनमें ऋत सम्बन्धी कुछ विचार विद्यमान थे जिसका प्रमाण अवेस्ता में प्रयुक्त 'अर्श' शब्द ठीक प्रतीत होता है ।[4]

बार्थ और रगोजिन के अनुसार ऋग्वेद में ऋत और सत्य को सौर जगत का धर्म बताया गया है ।[5]

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋत के सहारे ही नैतिक गुणों का विकास हुआ अत: नैतिकता सत्य से ही उद्भूत है ।[6] वैदिक विचारधारा के अनुसार हम जीवन यज्ञ में अनृत से सत्य की ओर बढ़ते है सत्य को ऋत के रूप में देवता धारण करते हैं ।[7]

1- जी० एच० मीज : धर्म एण्ड सोसाइटी, ग्रेट रसल स्ट्रीट, लन्दन, 1935, पृ० 6

2- रणजीत सिंह राणा - धर्म की हिन्दू अवधारणा, सेण्ट्रल बुक डिपो, 1977, पृ० 1
अवेस्ता यस्न, तारापुरवाला, कलकत्ता युनिवर्सिटी, मिशन प्रेस, 1922, 9.6.1

3- डा० लारेन्स मिल्स, अवेस्ता, लिपजिंग, 1910 ई०, यस्न 1 ।

4- लुई रेनु , वैदिक इण्डिया, लन्दन, 1889 ई०, पृ० 56 ।

5- बार्थ० ए० - रिलिजन्स आव इण्डिया, पृ० 42-43, लन्दन, 1882 ई० ।
रगोजिन, जेड०ए० - वैदिक इण्डिया, पृ० 146-147, लन्दन, 1889 ई० ।

6- अल्बर्ट स्वेटजर - इण्डियन थाट एण्ड इट्स डवलपमेण्ट, पृ० 45, एडम चार्ल्स ब्लैक, लन्दन, 1950 ।

7- डा० वासुदेव शरण अग्रवाल - वेदविद्या, पृ० 197, काशीपुरी, वाराणसी, ज्ञानोदय ग्रंथ माला, 1964 ई० ।

इस प्रकार से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ऋग्वैदिक धर्म में कई बातें परिलक्षित होती हैं । (1) इस धर्म में शाश्वत सत्य का वर्णन प्राप्त होता है । वे हर काल और हर जगह एक जैसा रहते हैं इनके द्वारा प्रतिपादित नियम भी श्रेष्ठ और शाश्वत है । इन देवों के नियमों का पालन करने से ज्ञान और सुख की प्राप्ती होती है । (2) ऋग्वेद में जगह-जगह यज्ञों की महिमा बतायी गयी है । यज्ञ शब्द बहुत व्यापक है । अग्नि प्रज्जलित करके उसमें हव्य सामग्री डालना तो यज्ञ का स्थूल रूप है । उसका सूक्ष्म रूप है देवों के मार्ग का अनुसरण करके स्वयं को श्रेष्ठ बनाना । इसके द्वारा राष्ट्र का उत्थान करना तथा दान देकर प्रजाओं को सुखी बनाना । देवों का कार्य तथा आदर्श सामान्य मनुष्यों के लिए अनुकरणीय है । ऋग्वेद के धर्म में स्थान-स्थान पर वर्णन प्राप्त होता है कि मनुष्य व्रत और सत्य नियमों का पालन करे जिससे संसार में उसका कल्याण हो । अत: सत्य का पालन सभी के लिए आवश्यक है ।

ऋग्वेद की ही भांति यजुर्वेद में भी धर्म का प्रयोग विभिन्न स्थलों पर किया गया है । एक स्थल पर सविता धर्म का उल्लेख है जिसका तात्पर्य है, " जिसमें यह सब लोक प्रविष्ट है । सर्वप्रेरक सविता देव इस पृथ्वी में हमें दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित करे ।[1] एक स्थल पर ध्रुवेणधर्मणा शब्द प्रयुक्त किया गया है जिसका अर्थ है, मित्रावरुण तुम्हें उत्तर दिशा में स्थापित करें तुम आह्वानीय रूप से विश्व को विघ्नों से दूर करने के लिए और संसार का कल्याण करने के लिए विश्व की रक्षा करो । आह्वानीय के तृतीय भ्राता भूतपति यज्ञादि कर्म द्वारा स्तुत हो ।[2]

1- यजुर्वेद भाष्याभाष्य - अनु० दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, सतारा, 1868 ई० ।
9.5 यस्यामिदं विश्वं भुवनमाविवेश तस्या नो देवः
पृ० (31) सविताधर्म साविषत् ।।

2- यजुर्वेद भाष्याभाष्य - दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, सतारा, 1868 ई०।
2.3 मित्रावरुणौ त्वोत्तरत: परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा
पृ०(4) विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडित: ।

यजुर्वेद के धर्म में भी तप, ऋत, यज्ञ आदि की भावना विद्यमान थी एक मंत्र में कहा गया है," यज्ञ के फलस्वरूप देवगण, व्रत, ऋत, तप, संवत्सर, अहोरात्र, ऊर्वष्ठी, वृहदरथन्तर आदि को मेरे अनुकूल करे ।[1] इस प्रकार से यजुर्वेद के धर्म में भी उपासना भाव दर्शित होता है।विघ्नों को दूर करने के लिए यज्ञों का सम्पादन होता था जिससे संसार का कल्याण हो ।

सामवेद के धर्म में भी यज्ञों का प्रचलन दृष्टिगत होता है । एक मंत्र में कहा गया है हे अग्रणी अग्नि आप यज्ञीय विचारों और यज्ञीय व्यवहारों के (होता हो) ज्ञानदाता हो तथा सब का हित करते हो प्रत्येक उत्पन्न मनुष्य में आप अपने दिव्य गुणों सहित सन्निहित हों ।[2]

सामवेद में परधर्म और अपरधर्म की चर्चा की गयी है, परधर्म का अर्थ है सत्य, ब्रह्मचर्य, तप, उपासना तथा अपरधर्म का अर्थ है सांसारिक उन्नति के लिए सुपथ द्वारा किये गये कार्य । एक मंत्र में वर्णन है," परमात्माग्नि परधर्म सेवन द्वारा प्रकट होता है तब उपासक कश्यप संज्ञा वाला हो जाता है जबकि परमात्मा कश्यप का पिता बनता है,श्रद्धा उसकी माता बनती है,मन उसका उपदेष्टा गुरु बनता है ।[3] Inferences / Conclusion ??

1- यजुर्वेद भाषाभाष्य - दामोदर सातवलेकर, सतारा, 1868 ई०
18.23 व्रतं च म ऋतवश्च मे तपश्च मे संवत्सरश्च
पृ०(77) मेऽहोरात्रे ऽऊर्वष्ठीवे वृहद्रथन्तरे चमे यज्ञेन कल्पन्ताम्

2- सामवेद संहिता - दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, बलसाड,1969 ।
1.2 त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हित: ।
देवेभिर्मानुषे जने ।।

3- सामवेद संहिता - दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, बलसाड,1969
1.9.10 जात: परेण धर्मणा यत्सवृद्भि: सहाभुव: ।
पिता यत्कश्यपस्याग्नि: श्रद्धा माता मनु: कवि: ।।

अथर्ववेद में भी धर्म शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर किया गया है एक स्थल पर धर्माणि प्रथम: शब्द का उल्लेख है, जिसका अर्थ है, " जो अन्य मनुष्यों से श्रेष्ठ बनकर विशेष धर्म नियमों का पालन करता है, इस अनुष्ठान से वह आश्चर्य कारक शक्तियों को प्रकाश करता है । तत्पश्चात वह गूढ़ वाणी को जानता है जिससे वह धारण शक्ति से युक्त होकर प्रथम स्थान के योग्य बनकर वह मूल स्थान में प्रविष्ट होता है ।[1]

एक अन्य स्थल पर धर्माणि प्रथमान्यासन शब्द प्रयुक्त किया गया है जिसका अर्थ है, देवगण यज्ञ से यज्ञ पुरुष की पूजा करते हैं । वे धर्म उत्कृष्ट है । वे महत्त्व प्राप्त करते हुए सुख पूर्ण लोक को प्राप्त होते हैं, जहाँ पूर्व के साधन संपन्न देवता रहते हैं ।[2] इसी प्रकार से अथर्ववेद के धर्म में भी सदाचार नियमों का पालन तथा यज्ञों का संपादन दर्शित होता है जो मानव सुख का हेतु है ।

अथर्ववेद में धर्म का एक अलग पक्ष पुराण धर्म के रूप में प्रकट होता है । एक मंत्र में कहा गया है -

" यह स्त्री पति कुल की कामना करती हुई,

हे मनुष्य । मृत पति को छोड़कर पुरातन धर्म का अनुपालन करती हुई अर्थात् धर्म में स्थित होकर तेरे पास आयी है । उस धर्म में स्थित नारी के लिए इस संसार में (प्रजा) संतति और (द्रविण) धन को दो ।[3]

1- अथर्ववेद संहिता - दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, गुजरात प्रान्त, 1948 ।
5.12 आयो धर्माणि प्रथम: ससाद् ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि ।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदिता चिकेत ।।

2- अथर्ववेद संहिता - दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, गुजरात प्रान्त, 1948
7.5.1 यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
तेह नाकं महिमान: सचन्त यत्र पूर्वे साध्या: सन्तिदेवा: ।।

एक अन्य स्थल पर वर्णन है, " हे स्त्री । जो तू गत प्राण अर्थात् मृत पति के पास सो रही है वह तू उस मृत पति के पास से चली आ । इस जीव लोक अर्थात् संसार के प्रति उठकर गमन कर अर्थात् संसार में चली आ । संसार में आकर तेरा विवाह करनेवाले व रक्षण करनेवाले तेरे पति की संतान को प्राप्त हो ।[1]

इस प्रकार से एक पति के मृत्यु को प्राप्त होने पर द्वितीय पति की परिकल्पना अथर्ववेद में पुराणधर्म के अन्तर्गत की गयी ।

अथर्ववेद का धर्म लौकिक था । इसके संस्थापक अथर्वन अंङ्गिरस भृगु, वशिष्ठ आदि ऋषिगण है । अथर्वन ऋषि अग्नि के प्राचीनतम पुरोहित हैं और याज्ञिक कृत्यों के समर्थक हैं । इन ऋषियों का मत है कि अथर्ववेद की दैविय शक्तियां पौधों औषधियों, मंत्रसिद्ध मणियों, मनुष्य की भावनाओं और संवेगों से सम्बन्धित है । इस समय का पुरोहित चिकित्सक और अभिचारक दोनों ही था, देवगण पौधों में निवास करते थे जो औषधियों के रूप में प्रयुक्त होते थे जिनका राजा सोम था । इस धर्म में कृत्या का बहुत महत्व था ।[2]

ब्राह्मण के ग्रंथों में भी धर्म का यज्ञात्मक स्वरूप दिखायी देता है । इस काल के धर्म में भी ऋत, सत्य, यज्ञ तथा आहुतियों की प्रमुखता थी । शतपथ ब्राह्मण में वर्णन है कि अग्नि तत्व सब देवताओं का अधिष्ठाता है । समस्त देवता अग्निमुख है सब में अग्रणी होने के कारण ही उसे अग्नि कहा गया है । एक मंत्र में कहा गया है अग्नि सब देवताओं का मनौता है ।[3] तैतरिय ब्राह्मण में भी ऋत को सत्य और सत्य को ऋत कहा गया है ।[4]

1- अथर्ववेद संहिता - दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, गुजरात प्रान्त, 1958 ।
   18.3.2 उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
   हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि स बंभूथ ।।

2- डा० राजकृत्र मिश्र : अथर्ववेद में सांस्कृतिक तत्व, आनन्द प्रकाशन, 108, नया कटरा, इलाहाबाद, 1968, पृ० 90 ।

3- डा० नित्यानन्द शुक्ल : ब्राह्मण ग्रंथों में सृष्टि विचार, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1983, पृ० 26-29 ।
   ,, शतपथ ब्राह्मण काण्ड 6 : अग्नौ सर्वेषां देवानां मनांसि ओतानि यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म ।

ज्योगीराज वसु का मत है," सृष्टि की आदि प्रक्रिया यज्ञ के माध्यम से प्रारंभ होती है । वैदिक काल से ब्राह्मण काल पर्यन्त अनेक यज्ञों का वर्णन मिलता है, जिनका मूल उद्देश्य सृष्टि ही है । यहाँ तक की यज्ञ विश्व सृष्टि का मूल स्रोत है । यह विश्व प्रथम यज्ञ से प्रादुर्भूत हुआ है जो महान देवों द्वारा निर्मित किया गया था । वह महान देव पुरुष ही था ।[1]

उपनिषदों में धर्म का स्वरूप तप, ऋत और सत्य के अर्थ में दृष्टिगत होता है । डा० गोविन्द चन्द्र पाण्डे के अनुसार धर्म को राजाओं का राजा कहा गया है । धर्म के ऊपर अन्य कोई सत्य नहीं है ठीक उसी प्रकार जैसे कोई व्यक्ति राजा की सहायता से किसी को पराभूत कर सकता है वैसे ही धर्म के माध्यम से कोई निर्बल व्यक्ति बलवान को पराभूत करने की आशा करता है । इन अर्थों में धर्म को शाश्वत नियामक माना गया है जिस पर प्रकृति के व्यापार तथा सामाजिक कल्याण एवं न्याय आश्रित है ।[2]

उपनिषदों में धर्म के नैतिक स्वरूप पर विशेष बल दिया गया है । इनमें वर्णन है कि तपोमय ब्रह्म से ऋत तथा सत्य प्रकट होते हैं । ऋत का अर्थ है निरपेक्ष सत्य (Absolute truth) तथा सत्य का अर्थ है सापेक्ष सत्य (Relative-truth) सत्य तो परिस्थिति के अनुसार बदल जाता है किन्तु ऋत परिस्थिति पर आश्रित नहीं है । मुण्डकोपनिषद में वर्णन है सत्य की ही विजय होती है अनृत की नहीं, देवयान पन्था देव की तरफ जानेवाला मार्ग सत्य से बना है । आप्तकाम ऋषि जिस मार्ग से चलते हैं वह सत्य का ही परम धाम है ।[3] छान्दोग्य उपनिषद् में सत्य का सुन्दर विश्लेषण किया गया है । सत्य में स + ति + य ये तीन अक्षर है

1- जोगीराज वसु - इण्डिया आव द एज आव द ब्राह्मन्स, पृ० 245 .

2- डा० पाण्डे, गोविन्द चन्द्र : बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० 70

3- मुण्डकोपनिषद : सत्यमेव जयति नानृतं । सत्येन पन्था विततो देवयान: ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ।।

यह जो ` सत ` है वह अमृत अर्थात् ब्रह्म का धोतक है । जो ` ति ` है वह मर्त्य अर्थात् जगत का धोतक है । जो ` यम ` है वह दोनों को मिलानेवाला है क्योंकि इससे अमृत तथा मर्त्य दोनों की प्राप्ति होती है, इसलिए यम दोनों का बन्धक है । जो व्यक्ति इस रहस्य को जानता है वह जगत से ब्रह्म और ब्रह्म से जगत का समुच्चय कर स्वर्ग लोक को जाता है ।[1]

ऋग्वैदिक काल में धर्म का स्वरूप प्रमुखत: यज्ञ प्रधान था । यज्ञ का सामान्य अर्थ तो वैदिक कर्म काण्डों से है किन्तु इसका सामाजिक परिप्रेक्ष्य में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान था । संभवत: यज्ञ सामाजिक एकता के प्रावल्य भावना का धोतक है क्योंकि ऋग्वैदिक समाज में ऊँच-नीच छुआछूत की कोई भावना नहीं थी सभी परस्पर प्रेम और प्रसन्नता के वातावरण में सम्मिलित रूप से यज्ञों का संपादन करते थे । यज्ञों में प्रयुक्त आहुतियाँ व्यक्ति के त्याग और उदारता की भावना का धोतन करती है । अति प्राचीन काल में व्यक्ति यायावर जीवन व्यतीत करता था । यज्ञों ने उस परिभ्रमण काल में स्थिरता और सामाजिक एकता का सूत्रपात किया ।[2]

किन्तु इसका विकट रूप उत्तवैदिक कालों में सामने आया, जबकि समाज में यज्ञों को संपादित करनेवाला एक प्रबल पुरोहित वर्ग का जन्म हुआ । प्रथमत: इनका कार्य यज्ञ संपादन के साथ-साथ सामाजिक चेतना और मैत्रीपूर्ण भावना का विकास करना था किन्तु धीरे-धीरे इनके कार्यों में विरूपता दर्शित होती है । धर्म को विकट और असाध्य करने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती गयी और ये धर्म के ठेकेदार बन गये । यज्ञों का संपादन अब उत्तर वैदिक कालों में विकट हो गया । साधारण लोगों के पहुंच से परे हो गया, धर्मसूत्र कालों में समाज में वर्ण-व्यवस्था जन्मगत हो गयी, ऊँच-नीच, जाति प्रथा के प्राबल्य भावना के कारण यज्ञपरक धर्म साधारण जनता से परे हो गया।ऐसी विकट स्थिति में धर्म का व्यावहारिक पक्ष समाज में प्रचलित हुआ जो व्यक्ति के आचरण से संबंधित था, ये काल धर्म सूत्रों का था ।

1- छान्दोग्य उपनिषद् 3.5 - तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतियमिति तद्यत्सत्तदमृतमथ यत्ति -
तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति यदनेनोभे
यच्छति तस्माद्यमहरहर्वा एव वित्स्वर्गं लोकमेति ।।

2- जोगीराज बसु - इण्डिया आँफ द एज आव द ब्राह्मना, पृ० [illegible]

धर्म सूत्रों में गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन, विष्णु आदि के धर्मसूत्र प्रमुख हैं, जिनमें सब से प्राचीन गौतम धर्मसूत्र है ।[1] इन धर्मसूत्रों की तिथि सातवीं या छठी सदी ई०पू० से लेकर द्वितीय सदी तक स्वीकारी जाती है ।

डा० वी०पी०काणे का मत है" धर्मशास्त्रों ने वेदों को धर्म का मूल कहा है, यह उचित ही है किन्तु यह भी सत्य है कि वेद धर्म संबंधी नियम नहीं है, वहां तो धर्म संबंधी बातें प्रसंगवश आती है । वास्तव में धर्मशास्त्र संबंधी विषयों के तथातथ्य एवं नियमनिष्ठ विवेचन के लिए हमें धर्मसूत्रों, स्मृतियों की ओर झुकना ही पड़ता है ।[2]

धर्मसूत्रों में धर्म के व्यावहारिक पक्ष का वर्णन किया गया है जो कर्मकाण्डों आदर्शों से हटकर नित्य के अनुपालन करने योग्य है जिसमें कर्तव्य भाव प्रमुख है जो कर्म प्रधान है (दैनिक कर्म)। इसमेंधर्म का विविध रूप दर्शित होता है जैसे वर्ण-धर्म ,आश्रम धर्म नैमित्तिक (प्रायश्चित) धर्म, गुणधर्म, राजा के कर्तव्य राज धर्म आदि ।[3] गौतम धर्मसूत्र में स्पष्ट वर्णन है वेद धर्म का मूल है तथा स्मृतियां और शील से ही धर्म की उत्पत्ति हुई है ।[4] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में वर्णन है जिस कार्य को आर्य लोग (उच्च वर्ण) उत्तम कहते हैं वह धर्म है तथा जिस कार्य की निन्दा करते हैं वह अधर्म है ।[5] वशिष्ठ धर्मसूत्र में वर्णन है श्रुति स्मृति द्वारा विहित आचरण ही धर्म है शिष्टाचार जिसका प्रमाण है ।[6]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में धर्म के दार्शनिक स्वरूप की अपेक्षा अत्यन्त सामाजिक स्वरूप प्राप्त होता है । इसमें वर्णाश्रम धर्म, आर्य मर्यादा , साधारण धर्म तथा श्रुति विहित नियमों के द्वारा संसार के सुखी होने का आदर्श मिलता है ।[7]

1- राणा,रणजीत सिंह - धर्म की हिन्दू अवधारणा, सेन्ट्रल बुक डिपो,इलाहाबाद पृ० 16, 1977 ।
कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, जिल्द 1,पृ० 202-203 ।
2- काणे, पी०वी० - धर्मशास्त्र का इतिहास ;गवर्मेण्ट ओरियण्टल सीरीज, पूना, पृ० 7-8, 1930 ।
3- गौतमधर्मसूत्राणि - मिताक्षरावृत्ति सहितानि,डा० उमेश चन्द्र पाण्डेय,व्याख्याकार चौखम्बा संस्कृत सीरीज,वाराणसी,पृ० 16 ।
4- ,, 1.1.2 वेदो धर्ममूलम् । तद्विदां च स्मृतिशीले ।
5- आपस्तम्ब धर्मसूत्रम्, 7.7 यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मो यं गर्हन्ते सोऽधर्म
6- वशिष्ठ धर्मसूत्रम् - 1.4. 6 श्रुति स्मृति विहितो धर्मः । तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम् । शिष्टः पुनरकामात्मा ।
7- कौटिल्य अर्थशास्त्रम् - वाचस्पति गैरोला, 1.3.4 व्यवस्थित आर्य मर्यादः कृत वर्णा स्थितिः । त्रया हि रक्षितो लोक [illegible]

स्मृतियों में भी धर्म का बड़ा ही परिष्कृत रूप दर्शित होता है । मनुस्मृति सब से प्राचीन है इसमें वर्णन है वेद, स्मृति, सदाचार और स्वयं को प्रिय लगनेवाले कार्य - ये चार धर्म के साक्षात लक्षण हैं ।[1] इन्हीं से धर्म की उत्पत्ति मानी जाती है ।

महाकाव्यों में धर्म का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण दृष्टव्य होता है । रामायण में राम के आदर्श आचरणों के कारण ही मर्यादापुरुषोत्तम कहा गया है तथा उन्हें रामोविग्रहवान धर्म की उपमा दी गयी है । इसमें राम को शरीरधारी धर्म कहा गया है ।[2]

महाभारत में धर्म के विभिन्न रूप वर्णित हैं इसमें राजधर्म, प्रजाधर्म, जातिधर्म, कुल धर्म, वर्णाश्रम धर्म, दान धर्म, आपद्धर्म, मोक्षधर्म, स्त्रीधर्म आदि का वर्णन है । धर्म को मानवमात्र के सर्वांगीण विकास का साधन बताया गया है इसलिए धर्म का एक सापेक्ष रूप दर्शित होता है । सम्यक धर्म वह है जो युग सत्य के अनुकूल एवं उत्कर्षकारी हो इसलिए महाभारत में धर्म का स्वरूप गत्यात्मक है ।[3] इसमें धर्म का एक और पक्ष दर्शित होता है आपद्धर्म के रूप में । इसमें वर्णन है कि आपत्तिकाल में कभी-कभी धर्म, अधर्म हो जाता है तथा अधर्म को ही धर्म का रूप प्राप्त हो जाता है । यहां धर्म का न्यायपरक रूप प्रतिभासित होता है । एक स्थल पर वर्णन है आहार, निद्रा, भय आदि स्वाभाविक आचरण सभी के लिए आवश्यक है स्वाभाविक प्रवृत्तियों का उचित समयाचरण और पालन करना मनुष्य के धर्म के रूप में वर्णित है । धर्महीन मनुष्य पशु के समान है ।[4] वासुदेव शरण अग्रवाल जैसे वेदों का सार गायत्री मंत्र ब में है वैसे महाभारत का सार धर्म शब्द में है ।[5]

1- मनुस्मृति : 2. 12. वेद: स्मृति: सदाचार: स्वस्य च प्रियमात्मन: ।
एतच्चतुर्विधं प्राहु: साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।।

2- रामायण उद्धृत द्वारा - डा० वासुदेव शरण अग्रवाल- " कला और संस्कृति " पृ० 181.

3- महाभारत शा०व० 36. 11 स एव धर्म: सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठित:
कदानामनृतं हिंसा धर्मो व्यावस्थिक स्मृत: ।।

4- म०भारत शा०प० - 294.29 - दामोदर सातवलेकर -
आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषाम् अधिको विशेषो धर्मेण हीना पशुभि: समाना:

5- डा० वासुदेव शरण अग्रवाल - भारत सावित्री, भूमिका, पृ० 4 ।

भागवद्गीता में धर्म का स्वरूप निष्काम कर्म के रूप में दर्शित होता है । ज्ञान, निष्काम कर्म और उपासना को ही धर्म कहा गया है । गीता में वर्णन है कि कर्म करना ही धर्म है इसलिए सर्वदा फलासक्ति से शून्य रहकर सम्यक प्रकार से कर्त्तव्य कर्मों का आचरण करना चाहिए, फलासक्ति से शून्य रहकर कर्म करनेवाला पुरुष मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।[1] गीता में ईश्वर के मानव अवतार की कल्पना धर्म संरक्षक के रूप में की गयी है । जब-जब भारत में धर्म का ह्रास होता है अधर्म की उन्नति होती है तब तब मैं अपना शरीर धारण करता हूँ जिससे साधुओं का कल्याण तथा दुष्टों का विनाश हो तथा धर्म की स्थापना युगों-युगों तक रहे ।[2] स्कन्द पुराण में सत्संग ,द्विजों में भक्ति, गुरुदेव व अग्नि का तर्पन,गोदान, वेदपाठ,सत्क्रिया,सत्य भाषण,गोभक्ति, ... भक्ति ये सब धर्म के साधन हैं ।[3]

पुराणों के धर्म में परिवर्तनशीलता के लक्षण दृष्टिगत होते हैं । गरुण पुराण में विभिन्न युगों में विभिन्न कर्मों को धर्म कहा गया है । कृतयुग में तपश्चर्या को प्रशंसा की जाती थी, त्रेता-युग में ज्ञान ही कल्याण का साधन माना जाता था, द्वापर युग में यज्ञ-यागादि करना तथा दान देना आत्म कल्याण का साधन था । कलियुग में केवल दान ही धर्म का साधन माना गया है ।[4] पुनः यह वर्णन है कि इस भू मण्डल पर जो दान किये जाते हैं वे सभी यम लोक में उस व्यक्ति के महामार्ग में पहले से ही उपस्थित हो जाते हैं ।[5]

1- श्रीमद्भागवद्गीता - 3.19 (कर्मयोग:) तस्मादसक्त: सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुष: ।।

2- ,, ,, -4.7.8(ज्ञानयोग) यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे- युगे ।।

3- स्कन्दपुराण 44.5 - सत्संगोद्विजभक्तिश्च गुरुदेवाग्नितर्पणम् ।
गोप्रदानं वेदपाठ: सत्क्रिया सत्यभाषणम् ।।

4- गरुण पुराण खण्ड 2 : 24.2 कृते तप: प्रशंसन्ति त्रेतायां ज्ञानसाधनम् ।
द्वापरे यज्ञदानञ्च दानमेकं कलौयुगे ।।

5- ,, ,, 47.5-124.3 यानि यानि दानानि कृतानि भुवि मानवै: ।
यमलोकपथे तानि तिष्ठन्त्यग्रे समीपत: ।।

भागवत पुराण जो काफी बाद का है उसमें धर्म का सम्बन्ध नैतिक गुणों से जोड़ा गया है। इसमें धार्मिक तथा नैतिक गुणों की संख्या 30 बतायी गयी है- सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, मुक्त विचार, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, आर्जव, संतोष, समदृक ,सभी की सेवा सांसारिक भोग से निवृत्ति चिंतन मौन, आत्म चिंतन, अन्न फल बांटकर खाना मानव में ईश्वर भाव , हरिकथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण ,सेवा, भगवान में दास्य, साख्य तथा आत्मार्पण का भाव ।[1] ही धर्म है ।

जैन ग्रंथों में धर्म का सम्बन्ध सदाचार तथा नीति शास्त्र से जुड़ा प्रतीत होता है । इसमें धर्म पंच महाव्रतों (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य) त्रिरत्नों (सम्यक ज्ञान, सम्यक दर्शन, सम्यक चरित्र) द्वारा संचालित होता है । इसमें अहिंसा को परमधर्म माना गया है । किसी के अनिष्ट के विचार मात्र को ही हिंसा कहा गया है । इसमें वर्णन है कि सब को अपना जीवन प्रिय है अतएव किसी प्राणी को कष्ट नहीं पहुंचाना चाहिए । वास्तव में जिसे तुम मारना चाहते हो या हानि पहुंचाना चाहते हो वह तुम्हीं हो ।[2]

बौद्ध ग्रंथों में धर्म के लिए धम्म शब्द का प्रयोग किया गया है । इसमें सांसारिक दुःखों और उसके निवारणार्थ मार्गों का वर्णन है । धर्म का स्वरूप हमें अत्यन्त ही व्यवहारिक एवं मध्यम मार्ग के पालन की ओर निर्देशित मिलता है ।

1- भागवत पुराण 7.5-12 सत्यं दयातप शौचं तितिक्षेक्षा शमोदय: ।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्याग: स्वाध्याय आर्जवन ।
सन्तोष: समदृक सवा ग्राम्येहोपरम शनै:
नृपा विपर्ययेच्छा मौनभात्यविमर्शनम्
अन्नाय संविभागो भूतेभ्य: यथार्हत ।
तप्वोत्मदेवता बुद्धि सुतरा नृषु पांडवम् ।
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतांगते
सेवेज्यावनति दास्यं सख्ययात्मपर्णम् ।।

2- आचारांङ्ग 1.4.11, 5. 5.4

चार आर्य सत्य(दु:ख, दु:ख समुदाय, दु:खनिरोध, दु:ख निरोध मार्ग) अष्टांग मार्गों (सम्मादिठि, सम्मासंकप्प, सम्यक वाक्, सम्माकम्मन्त, सम्माआजीव, सम्मा वायाम, सम्मासत (स्मृति) सम्मा समाधि) का वर्णन किया गया है । प्रसिद्ध विद्वान चन्द्रकीर्ति ने धर्म शब्द का अर्थ त्रिविधि निश्चित किया गया है स्वलक्षण धारण, कुगति गमन विधारण, पान्चगतिक संसार गमन विधारण कहा गया है ।[1]

भारतीय विद्वानों के धर्म सम्बन्ध विचार

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर महोदय ने धर्म की निम्न परिभाषा दी है -

श्रेष्ठ कर्म करना, श्रेष्ठ विचार करना, श्रेष्ठ तत्व (परमात्मा) का मनन करना, उसी का ध्यान करना, उसी में तल्लीनता प्राप्त करना । यही मनुष्य के उन्नति का उत्कृष्ट साधन है । यही धर्म है ।[2]

स्वामी श्री विद्यानन्द जी ने धर्म के सात लक्षण बताये हैं - जहाँ धर्म है वहाँ ओज है, तेज है, सहनशीलता है, बल, वाक है, जितेन्द्रिय है तथा श्री

1- प्रसन्नपदा, मध्यमक, पृ० 304 धर्म शब्दोऽयं प्रवचने त्रिधा व्यवस्थापित: स्वलक्षण धारणार्थेन कुगतिगमन विधारणार्थेन पान्चगतिक संसारगमन विधारणार्थेन् ।।

2- कल्याण, धर्माङ्क, मानव धर्म का संक्षिप्त स्वरूप" नामक लेख से उद्धृत,पृ० 39 ।

3- कल्याण, धर्माङ्क; " धर्म के लक्षण, "नामक लेख से उद्धृत, पृ० 40

यत्र धर्मश्च तत्र ओजश्च ।
यत्र धर्मश्च तत्र तेजश्च ।
यत्र धर्मश्च तत्र सहश्च ।
यत्र धर्मश्च तत्र बलं च ।
यत्र धर्मश्च तत्र वाक् च ।
यत्र धर्मश्च तत्र इन्द्रियं च ।
यत्र धर्मश्च तत्र श्री: च ।

आचार्य श्री तुलसी महोदय का मत है - आत्मा, ज्ञानमय, दर्शनमय, आनन्दमय और शक्तिमय है । ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति की जो एकरसता है वही धर्म है । आत्मा की मोह क्षोभ आदि आवेगों से रहित जो परिणति है वह धर्म है ।

हम उस युग में धर्म की पुन: प्रतिष्ठा की बात कर रहे हैं जिस युग का नाम उपलब्धि की दृष्टि से वैज्ञानिक शक्ति की दृष्टि से आणविक और शिक्षा की दृष्टि से बौद्धिक है । क्या अबौद्धिक, अवैज्ञानिक और शक्तिहीन पद्धति से धर्म का उत्कर्ष संभव है ? आज एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है जो बुद्धि से प्रचारित हो, विज्ञान से प्रतिहत न हो और शक्ति से हीन न हो ।[1]

डा० राधाकृष्णन (द हिन्दू व्यू ऑव लाइफ से संकलित) के विचार में धर्म की मानव समाज को एक सूत्र में बांधनेवाली परम वस्तु है । वास्तव में जिसकी सहायता से मानव समाज एक सूत्र में बंधता है वह धर्म ही है और जिससे मानव समाज का विघटन होता है वह अधर्म है । मानव जीवन का सार धर्म है ।[2]

इस प्रकार से मानव जीवन में वास्तविक धर्म है -

सर्वे भवन्तु सुखिन: सर्वे सन्तु निरामया: ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दु:खभाग्भवेत् ।।
अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् ।
परोपकार: पुण्याय पापाय परपीडनम् ।।

धर्म शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है । पाश्चात्य विचारकों ने भी इस इसकी व्याख्या विविध प्रकार से की है । जी०एच०मीज ने धर्म का सम्बन्ध ऋत, कर्तव्य, अच्छे कार्य, पूजा-पाठ, आदर्श, सत्य, अहिंसा , दैवियन्पाथ और सामाजिक न्याय, कर्म, भक्ति और नियमों से सम्बन्धित किया है, उनके मत से धर्म युगों में

1- कल्याण, धर्माङ्क - धर्म का तेजस्वी रूप लेख से उद्धृत, पृ० सं० 41 ।

2- कल्याण, धर्माङ्क - धर्म की महत्ता लेख से उद्धृत, पृ० सं० 43 ।

बदलता भी है, धर्म का एक रूप जातिय परंपराएं, रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, वर्णधर्म, जाति-धर्म, आर्य तथा अनार्य-धर्म, प्रवृत्ति तथा निवृत्ति-धर्म के अन्तर के रूप में दृष्टिगोचर होता है ।[1]

प्रो० मैक्सम्यूलर ने भारतीय धर्म पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है " प्राचीन भारतवासियों के लिए सब से पहले धर्म अनेक विषयों के बीच एक रुचि का विषय नहीं था, यह सब की आत्माकर्षण करनेवाली रुचि थी । इसके अन्तर्गत न केवल पूजा पाठ आती थी वरन् वह सब भी आता था जिसे हम दर्शन नैतिकता कानून और शासन कहते हैं, ये सभी धर्म में व्याप्त थे । उनका संपूर्ण जीवन धर्ममय था और सभी चीजे मानो इस जीवन की भौतिक आवश्यकताओं के लिए निमित्त सुविधा मात्र थी ।[2]

1- जी०एच०मीज-" धर्म एण्ड सोसायटी", एन वी सर्वे द ह्यू, कापीराइट 1935, पृ० 8 ।

2- प्रो० मैक्सम्यूलर -" इण्डिया ह्वाट कैन इट टीच अस", पृ० 107, लांगमैंस ग्रीन एण्ड कं०, न्यूयार्क, 1899 ।

स्पीनोजा के दर्शन में धर्म की व्याख्या इस प्रकार है - द्रव्य ही चरम सत्ता है । द्रव्य को स्पीनोजा ने ईश्वर तथा प्रकृति कहा है। स्पीनोजा का दर्शन इसी से Pantheism कहलाता है इनके अनुसार संसार की प्रत्येक घटना नियत एवं निश्चित है । इसकी तुलना हम वैदिक ऋत से कर सकते हैं । स्पीनोजा ने ईश्वर को अनन्त माना है । उसके गुण भी अनन्त है जो अनन्त सत्ताओं का जन्मदाता है ।[1]
धर्म का सब से विभत्स भयंकर और नकारात्मक स्वरूप हमें मार्क्स के दर्शन में मिलता है । उन्होंने धर्म को पीड़ित प्राणी की सिसकी कहा है । उनके अनुसार धर्म एक हृदयहीन संसार का हृदय है और नितान्त आत्महीन दशाओं की आत्मा है । यह गरीबों की अफीम है ।[2] परमात्मा की धारणा ही विकृत सभ्यता की केन्द्रशिला है । मार्क्स कहता है धर्म जो एक भ्रामक काल्पनिक आनन्द देता है उसका दमन करना वास्तविक आनन्द के दावे की स्थापना करता है ।[3]

ऐंजिल्स कहता है ` धर्म का पहला शब्द ही झूठ होता है ।

लेनिन ने लिखा है, - धर्म आत्मिक अत्याचार का एक पहलू है । शोषकों के विरुद्ध संघर्ष में शोषितों की असहायता अनिवार्य रूप से मृत्यु के पश्चात उत्कृष्टतर जीवन में विश्वास को जन्म देती है । उन लोगों को जो सारे जीवन परिश्रम करते हैं फिर भी तंगी में जीवन बिताते हैं धर्म उनको विनम्रता और धैर्य की शिक्षा देता है । उन्हें स्वर्ग में पुरस्कार मिलने की आशा द्वारा उनके आँसू पोछता है ।

1- स्पीनोजा - ` द इथिक्स `, वाल्यूम 4

सर्व
ईश्वर } - सर्वेश्वरवादी

या० मसीह - पाश्चात्य आधुनिक दर्शन की समीक्षात्मक व्याख्या , मोतीलाल बनारसीदास, 1976, पृ० 83

2- डा० राधाकृष्णन - धर्म और समाज , पृ० 77
जे०एम०मरी का अंग्रेजी अनुवाद ` दि डिफेंस आव डेमोक्रेसी `, 1939 ,पृ० 38

3- ` नुवो पार्टी `, 1884 ।

विविध धर्म केवल इसलिए असफल हो गये की हमने उन्हें गंभीरतापूर्वक ग्रहण नहीं किया । उनका मुख्य उद्देश्य मनुष्य का पुर्न निर्माण ,अपनी मनमानी, अंह भावना, अपनी ही सौदे बाजी में लगे रहना दूसरे को बुद्धू बनाकर अपना उल्लू सीधा करना ही धर्मों के विफलता के कारण हैं ।

मार्क्स ने धर्म को परलोकपरक बताकर उसकी निन्दा की है तथा उनके मत में पृथ्वी के आनन्दो को भोगना ही धर्म है ।

इस धर्म का एक रूप चीन में भी मिलता है ।'ताओ' इसका अर्थ होता है 'मार्ग'। संसार की व्यवस्था का कारण इसी सत्ता को ठहराया जाता है । संपूर्ण आचारशास्त्र के तत्वों का विकास इसी से हुआ है । मुख्यत: 4 तत्व जैसे ज्ञान, प्रेम, न्याय, रीतियों का उद्भवताओं से ही हुआ है । ईश्वर का सभी विषयों पर शासन नियमानुकूल होता है । मानव के किसी क्षेत्र में अपराध का कारण धर्म का गलत प्रयोग है ।

बेबीलोन में धर्म का रूप त्रिमूर्ति के रूप में मिलता है जिसमें स्वर्ग, पृथ्वी, सागर की उपासना होती थी जिन्हें (अनु बेल एण्ड इया) कहा जाता था ।

मिस्र में धर्म " रा " के रूप में मिलता है " रा " सूर्य का दूसरा नाम था जो कराओं का पुत्र था, यह एक ऐसी शक्ति थी जिससे संसार का निर्माण हो पाया था ।[1]

अवेस्ता में प्रयुक्त अर्श (Arsh) शब्द का प्रयोग सृष्टी सम्बन्धी अपरिवर्तनीय व्यवस्था एवं दैविय नियमों के लिए किया गया है ।

इस प्रकार से धर्म - ऋत, सत्य, नियम, कानून, धर्म आदि के रूप में हर सभ्यता में दृष्टिगोचर होता है । जिन कर्मों से अपनी उन्नति हो किन्तु दूसरे का अहित न हो वे सभी कर्म धर्म के अन्तर्गत आतें है ।

सामान्य धर्म

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । समाज में रहने के लिए व्यक्ति को सामान्य धर्मों का पालन आवश्यक हो जाता है । जिस प्रकार सृष्टि का समायोजन ऋत के अधीन है जो अटल एवं सत्य है उसी प्रकार व्यक्ति के व्यक्तित्व के समायोजन के

---

1. विनोद चन्द्र पाण्डे एवं के० सिंह - प्राचीन विश्व की सभ्यताएं. पृ० 45. 154 ।

लिए उसे परिवार ,राज्य समाज के नियमों का पालन आवश्यक हो जाता है, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में आवश्यक योगदान देते हैं ।

व्यक्ति के सामान्य धर्म विविध प्रकारों के हैं -

(1) सामान्य वर्ण धर्म

(2) सामान्य स्त्री धर्म

(3) सामान्य कुल धर्म

(4) सामान्य राजधर्म

सामान्य धर्म वह है जो कर्म सामान्य परिस्थितियों में किया जाय ।

(1) सामान्य वर्ण धर्म : वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत 4 वर्णों की कल्पना की गयी । ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में उल्लेख है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र क्रम से परम पुरुष के मुख बाहुओं ,जंघों एवं पैरों से उत्पन्न हुए हैं । इसका तात्पर्य है, ब्राह्मण इसका मुख था, राजन्य भुजाएं थीं, वैश्य जंघे थे तथा पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई ।[1]

वर्ण व्यवस्था : उत्तर वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था की स्थापना हो गयी थी । डा० आर० एस० शर्मा का मत उचित ही है कि ऋग्वेद के पुरुष सूक्त एवं अथर्ववेद के एक मंत्र में कबीलेवाले समाज के वर्गों में परिणत होने का औचित्य दृष्टिगोचर होता है ।[2] उत्तर वैदिककालीन साहित्यों में वर्ण धर्म अर्थात् वर्णों के पारस्परिक कर्तव्यों का यत्र-तत्र वर्णन मिलता है ।[3] ब्राह्मण का कर्तव्य अध्ययन एवं यज्ञ-यागादिक कार्यों में पूर्ण दक्षता प्राप्त करना था । क्षत्रिय के लिए `राजन्य` शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसका विशेष सम्बन्ध प्रशासकीय कार्यों एवं सैनिक तथा अच्छे सारथी होना प्रकट करता है ।[4] वैश्य की प्रबल इच्छा पशु प्राप्त करने के रूप में वर्णित है ।

1- ऋग्वेद 10.90.12. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य: कृत: ।
उरु तदस्य यद्वैश्य: पद्भ्यां शूद्रो अजायत ।

2- उद्धृत डा० रणजीत सिंह राणा - धर्म की हिन्दू अवधारणा, पृ० 99-101.
डा० आर० एस० शर्मा - शूद्राज इन एन्श्येण्ट इण्डिया, पृ० 28-29 ।

3- वैदिक इण्डेक्स ,जिल्द 2, पृ० 254-255 (इंग्लिश सं०)

4- जी० एस० घूर्ये - कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, पृ० 47, 49-50 ।

प्रो० आर० एस० शर्मा का मत है, धर्म सूत्रों के काल में शूद्र प्रधानत: कृषि कार्य में लगे हुए भूमिहीन मजदूर थे ।[1]

इस प्रकार से धर्मसूत्रों तथा स्मृति के काल तक आते-आते एक स्थिर सामाजिक व्यवस्था हो चुकी थी ।

<u>ब्राह्मण धर्म</u> : विष्णु धर्मसूत्र वशिष्ठ धर्मसूत्र, मनुस्मृति, महाभारत आदि में ब्राह्मण के कर्तव्यों में वेद अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, कराना तथा दान प्रतिग्रह कहे गये हैं ।[2]

<u>वेद अध्ययन - अध्यापन</u> : वेद का अध्ययन ब्राह्मणों का परम कर्तव्य माना गया है, परन्तु इसके अतिरिक्त ब्राह्मण इतिहास, पुराण, तर्कशास्त्र, ब्रह्मविद्या, नक्षत्र विद्या का भी अध्ययन करते थे ।[3] ब्राह्मण पुत्रों के लिए यज्ञ विद्या तथा वेद अध्ययन परम-आवश्यक था । छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित आरुणेय की कथा से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में पिता ही अपने पुत्रों को पढ़ाता था ।[4] ब्राह्मण की अध्यापन प्रवृत्ति होती थी इस आदर्श का प्रतिपादन गौतम, बौधायन धर्मसूत्रों तथा मनुस्मृति में भी किया गया है ।[5] मनुस्मृति में वर्णन है कि अध्ययन अध्यापन, यजन याजन, दान और प्रतिग्रह ये 6 कार्य ब्राह्मणों के हैं ।[6]

<u>यज्ञ करना एवं कराना</u> : ब्राह्मण के लिए पुरोहित का कार्य करने का विधान था । ऋग्वैदिक काल से ही पुरोहितों का उल्लेख मिलता है । प्राचीन काल में यज्ञों का विशेष महत्व था । सूत्र ग्रंथों, रामायण, मनुस्मृति से यही पता चलता है कि ऋत्विक का कार्य ब्राह्मण ही करते थे । अन्य वर्ण के व्यक्ति इसके अधिकारी नहीं थे ।[7] यज्ञों से

1- डा० आर०एस०शर्मा - शूद्राज इन एन्शियेण्ट इण्डिया, पृ० 88 ।

2- वशिष्ठ ध०सू० - 4. 1.2 - विष्णु ध०सू० 2. 13, मनुस्मृति 1.88, महा०शा० राजधर्म - 12.

3- शतपथ ब्राह्मण 11.5. 5-8

4- छान्दोग्य उप० 5. 3-1

5- गौतम ध०सू० 10. 1-2
बौधायन ,, 1. 2. 1
मनुस्मृति 10. 1-2, 75,76,80 ।

पुरोहित का कार्यभार वहन करने के लिए पारिश्रमिक रूप में दक्षिणा दी जाती थी ।[1] प्राय: सभी दार्शनिक ग्रंथों में ब्राह्मण को दक्षिणा देना आवश्यक माना गया है ।

(दान) प्रतिग्रह : यह अधिकार एक मात्र ब्राह्मण को था । इसका तात्पर्य दान ग्रहण करने से है । दान का आदिकाल से ही विशेष महत्व रहा है । दान के प्रमुख उपकरणों में स्वर्ण, अश्व, गाय, वस्त्र तथा आभूषण का वर्णन किया गया है । महाभारत में एक स्थल पर शिक्षित तथा अशिक्षित दोनों प्रकार के ब्राह्मणों को दान देने का विधान मिलता है ।[2] शिक्षित ब्राह्मण को प्रतिग्रह देना अतिश्रेष्ठ बताया गया है, स्कन्द पुराण में कहा गया है कि परिस्थितिवश यदि योग्य ब्राह्मण न मिले तो यह दाता की इच्छा पर निर्भर है कि वह किस प्रकार के ब्राह्मण को दान देगा । मनुस्मृति के भाष्यकार मेधातिथि का विचार है कि यदि व्यक्ति दु:खी है तथा दाता के दान का अर्थ उदारता है तब आवश्यकता पड़ने पर अन्य व्यक्ति को भी दान दिया जा सकता है किन्तु वह दान दान नहीं होगा क्योंकि प्रतिग्रह का एकमात्र अधिकार ब्राह्मण को ही था ।

दान देना भी ब्राह्मणों के धर्म के रूप में वर्णित था ब्राह्मण के लिए अधिक संचयी वृत्ति का निषेध है । महाभारत के शांतिपर्व में ब्राह्मण धर्म का वर्णन है, इन्द्रियों का दमन करना ,वेदों का पढ़ना ये दो ब्राह्मणों के प्रधान धर्म हैं । शान्त स्वभाववाले ब्राह्मण अपने धर्म के अनुसार धन पैदा करके विवाह करें, पुत्र पैदा करे तथा दान और यज्ञ करें । ब्राह्मण और कुछ करे या न करे वह वेद का पाठन-पठन करने से और सदाचारी होने से ब्राह्मण कहा जा सकता है ।[3]

ब्राह्मणों की श्रेष्ठता तथा ज्ञान के कारण ब्राह्मण को कुछ सुविधाएं भी प्रदान की गयी थी जो अन्य वर्णों के सदस्यों को नहीं थी । शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि ब्राह्मण कर मुक्त थे ।[4] आपस्तम्ब, वशिष्ठ तथा विष्णु

1- मनुस्मृति 10. 76

2- महा० अनु० प० 90. 2

3- महा०शा०प० 60. 12 परिनिष्ठित कार्य स्तु स्वाध्यायेनैव ब्राह्मण: ।
कुर्यादन्यत्र वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मणा उच्यते ।।

धर्मसूत्रों में कहा गया है कि राजा ब्राह्मण का कर न ग्रहण करे ।[1] ब्रह्म हत्या की गणना महापातकों में गिनायी गयी है ।[2]

शिक्षा के क्षेत्र में ब्राह्मणों का विशेषाधिकार था । सभी प्रकार की शिक्षा तथा ज्ञान ब्राह्मणों के हाथ में थी । धार्मिक क्षेत्र में ब्राह्मण वर्ण का ही प्रभुत्व था । धर्म नियंत्रण के कारण समाज के बौद्धिक या आध्यात्मिकपरक वर्ग होने के कारण पुरोहित वर्ग का सामाजिक जीवन पर विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है । ब्राह्मण हिन्दू संस्कृति के प्रचारक तथा संरक्षक थे । यही कारण है कि स्पेंगलर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने ब्राह्मणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है ।

क्षत्रिय धर्म : ब्राह्मण के पश्चात हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में दूसरा स्थान क्षत्रियों का है । गौतम, आपस्तम्ब आदि धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में क्षत्रियों के अधोलिखित कर्तव्य बताये गये हैं । वेद अध्ययन, दान देना, यज्ञ करना तथा प्रजा परिरक्षण । कौटिल्य अर्थशास्त्र एवं पुराणों में प्रजा की रक्षा करना ही क्षत्रिय का श्रेष्ठ धर्म बताया गया है ।[3] महाकाव्यों के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि क्षत्रिय वर्ण के लिए स्वयंवर प्रथा थी । आयंगर के मतानुसार गंधर्व तथा राक्षस विवाह क्षत्रिय के लिए उपयुक्त थे ।इसकी पुष्टि महाभारत से होती है । रामायण में एक स्थल पर वर्णन है कि धर्म के लिए युद्ध करना क्षत्रियों का प्रधान धर्म था ।[4] महाभारत में क्षत्रियों का धर्म विस्तृत रूप से उल्लखित है । महाभारत के शांतिपर्व में वर्णन है क्षत्रियों का धर्म ,दान और यज्ञ करना -पढ़ना और प्रजा का पालन करना क्षत्रियों का प्रधान धर्म है । मांगना,यज्ञ कराना तथा पढ़ाना उनके लिए निषिद्ध है । डकैतों का वध करने के लिए सदा उद्यत रहना, युद्ध में पराक्रम दिखाना क्षत्रियों का कर्तव्य है।जो राजा यज्ञशील, शास्त्रज्ञ और विजयी होते हैं वही संसार में श्रेष्ठ कहलाता है । जो क्षत्रिय घाव खाये बिना युद्ध से भाग खड़ा होता है उसकी प्रशंसा समझदार लोग नहीं करते

1- वशिष्ठ ध०सू० 1. 42-43, ब्राह्मणेभ्य: करदानं न कुर्यात् ।

2- डा० काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ० 144-145 ।

3- कौटिल्यअर्थशास्त्रम् 3. 6 क्षत्रियस्याध्ययनं यज्ञ दानं शस्त्रम् जीवो भूतरक्षणम् ।
विष्णु पुराण 3. 8. 26-27 ।

अर्थात् युद्ध से भागना क्षत्रियों के लिए अधर्म है । वीरों को मारने से बढ़कर राजा का कोई धर्म नहीं है । दान,अध्ययन, यज्ञ से ही राजा का भला होता है । इसलिए धार्मिक राजा को युद्ध अवश्य करना चाहिए । राजा को वह उपाय करना चाहिए जिससे प्रजा शान्त भाव से अपने धर्म में लगी रहे । राजा युद्ध करे या न करे सदाचारी होकर प्रजा की रक्षा करने से ही वह यथार्थ राजा कहलाता है ।[1]

वैश्य धर्म :

बौधायन ध०सू०, मनुस्मृति, या०ज्ञ० स्मृति में वैश्य का धर्म वेद अध्ययन यज्ञ, दान, कृषि,पशुपालन तथा कुसीद कर्म करना (ब्याज पर रुपये उधार देना) कहा गया है ।[2] सूत्र काल के पश्चात वैश्य धर्म में कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है । सामाजिक व्यवस्था का अन्तिम वर्ण शूद्र कृषिकार्य करने लगा था जिससे वैश्यों का प्रमुख कार्य व्यवसाय व्यापार रह गया था । पाणिनि ने वैश्यों के लिए अर्य शब्द का प्रयोग किया है ।[3] महाभारत में वैश्यों का धर्म विस्तृत रूप से बताया गया है जैसे दान, अध्ययन, यज्ञ, ईमानदारी से धन संचय करना पुत्र के समान पशुओं का पालन करना वैश्यों का धर्म है । ब्रह्मा ने संसार की सृष्टि करके ब्राह्मणों, क्षत्रियों को मनुष्यों की रक्षा का भार तथा वैश्यों को पशुओं की रक्षा का भार सौंपा है इसलिए वैश्य लोग पशुपालन करने से सुखी होंगे ।[4]

1- महा०शा०प०६०.14 - नाध्यापयेद धीयीत प्रजाश्च परिपालयेत ।
नित्योधुक्तो दस्यु वधे रणे कुर्यात् पराक्रमन् ।।

,, ६०.16 - अविक्षतेन देहेन समराद् यो निवर्तते ।
क्षत्रियोनास्य तत् कर्म प्रशंसन्ति पुराविद: ।।

,, ६०.20 - परिनिष्ठित कार्यास्तु नृपति: परिपालनात् ।
कुर्यादन्यत्र वा कुर्यादैन्द्रो राजन्यउच्यते ।।

2- बौ०ध०सू० 1.5.22 - वैश्य: कुसीदयुपजीवेत् ।

3- पाणिनी । अष्टाध्यायी 3.1.103 - अर्य: स्वामिवैश्ययो: ।

4- महाभारत शा०प०६०.21 - वैश्यस्यापि हियो धर्मस्तं ते कथयामि शाश्वतम् ।
दानमध्ययनं यज्ञ: शौचेन धनसंचय: ।।

वैश्यों को 6 गायों का पालन करने पर एक गाय का दूध, 100 गायों की रक्षा करने पर एक गाय और एक बैल, दूसरों से धन लेकर व्यापार करने पर लाभ का 7वां भाग मूल्यवान सींग खुर का 16वां भाग तथा खेती में पैदा हुए अन्न का 7वां हिस्सा अपने वेतन स्वरूप लेना चाहिए । वैश्यों को कभी भी अपने काम में लापरवाही नहीं करनी चाहिए ।

शूद्र धर्म :

उत्तर वैदिक काल तक शूद्रों की स्थिति अस्पष्ट है जिसके कारण निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है । गौतम तथा विष्णु धर्म सूत्रों में शूद्रों के कर्तव्यों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है उनके अनुसार द्विजाति की सेवा करना तथा उनके द्वारा प्रदत्त सामग्री पर जीवन निर्वाह करना ही शूद्र का धर्म है[1]। सूत्रों के काल से ही वह वेदाध्ययन तथा संस्कारों से वर्जित कर दिया गया था । मनुस्मृति में उल्लेख है कि ब्राह्मण की सेवा करना ही शूद्र का विशिष्ट कर्म कहा गया है । इस कर्म से भिन्न वह जो कुछ कर्म करता है , वह उसके लिए निष्फल होता है, उसे जूठा अन्न, पुराना वस्त्र, पुराना ओढ़ना बिछौना देना चाहिए ।[2]

महाभारत में ऐसा वर्णन है कि ब्रह्मा ने ब्राह्मण आदि 3 वर्णों की सेवा के लिए शूद्रों को उत्पन्न किया । अत: 3 वर्णों की सेवा करना ही शूद्रों का धर्म है । सेवा धर्म का पालन करने से शूद्रों को परमसुख मिल सकता है ।[3] शूद्रों को धन संचय नहीं करनी चाहिए क्योंकि धनवान होने पर ब्राह्मण आदि ऊँची जातियों को अपने अधीन रखने का इरादा करेंगे, इससे पाप के भागी होंगे । इसलिए शूद्र भोग की इच्छा से धन संचय न करें राजा की आज्ञा से किसी धार्मिक कार्य के लिए धन का संचय करना अनुचित नहीं है । ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों को शूद्रों का

1- गौ०ध०सू० 18. 14
   वि०ध०सू० 71. 44, 52

2- मनुस्मृति 10. 123,125 विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते ।
यदतो न्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम् ।।
उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च ।
पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः ।।

3- महाभारत शा०प०6028 - प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत ।
तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते ।।

भरण पोषण करना चाहिए उनको पुराना छाता, जूता, कपड़ा, पंखा और आसन आदि देना चाहिए यह सब शूद्रों का धर्मत: प्राप्त धन है ।

धार्मिक पुरुषों का कहना है जब कोई शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के पास सेवा के लिए जाये तो उसकी जीविका का प्रबन्ध कर देना चाहिए । यदि किसी शूद्र के पुत्र न हो तो उसके मरने पर उसका पिण्डदान उसके मालिक को कर देना चाहिए । बूढ़े तथा कमजोर होने पर उसका भरण पोषण मालिक करता रहे ।[1] मालिक पर विपत्ति पड़े तो कोई शूद्र उसका साथ न छोड़े यदि मालिक गरीब हो जाय तो सेवक को अपने परिवार पालन से बचे धन से उसकी सहायता करनी चाहिए । शूद्रों के धन का स्वामी उसका मालिक होता है । ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों के लिए जो यज्ञ बताये गये हैं वे सब शूद्रों को भी करने चाहिए किन्तु उनको स्वाहाकार षटाकार और मंत्र का अधिकार नहीं है । इसलिए शूद्रों को व्रती न होकर वैश्यदेव गृह शान्ति और शूद्र-यज्ञ करने चाहिए । इन यज्ञों की दक्षिणा पूर्ण पात्र है । पैजवन नाम के एक शूद्र ने अमन्त्रक ऐन्द्राग्न विधि के अनुसार दक्षिणास्वरूप एक लाख पूर्णपात्र दान किये थे ।[2] शूद्रों के कार्यों के बारे में भी हमें गुप्तकाल में विशेष विकास दृष्टिगोचर होता है । कृषि और दस्तकारी शूद्र के कार्यों के रूप में सर्वमान्य हो गये थे जिनको पहले बहुत कम मान्यता मिली थी ।[3] अमर कोष में शूद्र वर्ग में साधारण दस्तकार तथा श्रेणी के अध्यक्ष मालाकार, धोबी कुम्हार, ईंट निर्माता, चर्मकार, लोहार तथा तांबा आदि के कार्य करनेवालों का वर्णन किया गया है ।[4]

सामान्य स्त्री धर्म :

समाज की यदि एक अंग पुरुष है तो दूसरा अंग स्त्री, बिना स्त्री के अस्तित्व के सृष्टी रचना हो ही नहीं सकती । पुरुष सृष्टा है और नारी

1- महाभारत शा०प०६35 - कल्प्या तेन बुते प्राहुर्वृत्ति धर्मविदो जना: ।
देय: पिण्डोऽनमत्याय भर्तव्यौ वृद्ध दुर्बलौ ।।

2- ,, ६०39 - शूद्र पैजवनो नाम सहस्त्राणां शतं ददौ ।
ऐन्द्राग्ने विधानेन दक्षिणामिति न श्रुतम् ।।

3- डा० आर० एस० शर्मा : शूद्राज इन ऐन्शियण्ट इण्डिया, पृ० 235 ।

4- अमर कोष 2. 10. 5-10 ।

प्रेमिका । नारी का विशेष गुण है प्रेम, दया और कोमलता, शान्ति, समर्पण और बलिदान । जुलु शब्दकोष में नारी महत्व पर प्रकाश डालते हुए वर्णन है, पुरुष एक पशु है जिसका प्रशिक्षण नारी करती है । नारी मूलत: पुरुष की शिक्षिका है तब भी जब की वह बच्चा होता है और तब भी जब वह व्यस्क होता है ।" ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णन है कि पिता फिर अपनी पत्नी से उत्पन्न होता है । इसीलिए वह जाया कहलाती है । वह उसकी दूसरी माता है ।[1]

स्त्रियों का सामान्य धर्म है - सुखी जीवन में पुरुषों का सहभागी बनना, सहधर्मिणी और सहायिका के रूप में पुरुष का पथ-प्रदर्शन करना विवाह द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जैसे पुरुषार्थों की प्राप्ति में सहयोगी बनना, वंश वृद्धि कर पितृ ऋण से मुक्त होना आदि ।

सामान्य कुल धर्म

प्राचीन काल से लेकर आज तक समाज और परिवार में पुत्र जन्म बड़ा ही प्रसन्नता का विषय रहा है । पुत्र को कुल रक्षक, वंश वृद्धि करने का कारण माना गया है वहीं एक ऐसा व्यक्ति है जो मृत्योपरान्त अपने पूर्वजों को पिण्डदान और तर्पण दे सकता है । पुत्र के विषय में यह धारणा प्रचलित रही है कि पुत्र " पुं " नामक नरक से पिता को तारने के कारण पुत्र कहलाता है । पुत्र प्राप्त कर व्यक्ति इस लोक को विजयी करता है तथा पौत्र प्राप्त कर ब्रह्मलोक और आदित्य लोकों को प्राप्त करता है । वह तीन ऋणों से मुक्त होकर मोक्ष पद का अधिकारी बनता है । सामान्य कुल धर्म व्यक्ति का वैदिक रीति से विवाह कर पुत्र प्राप्त करना है जो अनुलोम विवाह के माध्यम से प्राप्त किया जाय वही पुत्र वास्तव में पुत्र है ।

1- ऐतरेय ब्राह्मण 2. 7. 13 " जायते पुन: "

2- मनुस्मृति 9. 138 पुंनाम्नो नरकाधस्मात् त्रायते पितरं सुत: ।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्त: स्वयमेव स्वयंभुवा ।।

सामान्य राज धर्म

ईसा के जन्म के पूर्व एवं पश्चात् कुछ शताब्दियों को छोड़कर सदैव राजतन्त्रात्मक व्यवस्था ही विद्यमान थी । भारतीय ग्रंथकारों ने सामान्यत: एक राजतन्त्रात्मक व्यवस्था का ही प्रतिपादन किया । फलत: " राजा " अन्त में शासन एवं राज्य का पर्यायवाची हो गया । प्राचीन भारत में राजा का तात्कालिक ध्येय था ऐसी दशाएं एवं वातावरण उत्पन्न कर देना कि सभी लोग शान्ति एवं सुखपूर्वक जीवन-यापन कर सके । अपने-अपने व्यवसाय कर सके,अपनी परम्पराओं रूढ़ियों एवं धर्म का पालन कर सके । निर्विरोध अपने कर्मों एवं अपनी अर्जित सम्पत्ति का फल भोग सके । वास्तव में राजा शान्ति सुव्यवस्था एवं सुख की दशाओं को उत्पन्न करने का साधन था जो ईश्वर से सहज रूप में प्राप्त माना जाता था । यदि राजा निष्पक्ष होकर सब पर चाहे वह अपना पुत्र हो या शत्रु हो समान रूप से शासन करता है और उन्हें अपराध के अनुसार दण्डित करता है तो वह अपने तथा अपने प्रजाजनों के लिए इहलोक तथा परलोक दोनों सुरक्षित रखता है । राजा का कार्य था व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं सम्पत्ति के अधिकारों की अवहेलना करनेवाले को धमकी देकर या शक्ति से रोकना , जनता के परम्परागत रीति नियमों को प्रतिपालित करने का नियम बनाना तथा सद्गुणों एवं धर्म की रक्षा करना ।[1]

आपद्धर्म

आपद्धर्म एक विशेष परिस्थिति में आचरण किये जाने वाले और माने जानेवाले मान्यताओं और नियमों की संज्ञा है । किसी असाधारण

1- कौटिल्य 3.1 राज्ञ: स्वधर्म: प्रजा धर्मेण रक्षितु: । - - - - दण्डो हि केवलो लोकं पर चेमं च रक्षति । राजा पुत्रे च शत्रौ च यथादोष सम धृत:

,, 1.3 तस्यात्स्वधर्म भूतानां राजा न व्यभिचारयेत् । स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति । व्यवस्थितार्थमर्याद: कृतवर्णाश्रम स्थिति: त्रय्या हि रक्षितो लोक: प्रसीदति न सीदति ।

परिस्थिति के उत्पन्न होने पर जब मनुष्य अपने अस्तित्व रक्षा और मूल्य रक्षा के लिए अपने विशिष्ट कर्तव्यों (सामान्य धर्म) को स्थगित कर दूसरे वैकल्पिक कर्तव्यों से (जो प्राय: विहित और अविहित दोनों ही हो सकते हैं) अपना जीवन निर्वाह करता है उसे ही आपद्धर्म कहते हैं ।

मनुष्य के धर्म और कर्तव्य समय-समय पर बदलते रहते हैं कोई भी शास्त्र या स्मृति एक समय विशेष के ही नियमों और कानूनों का वर्णन कर सकता है उसमें उल्लिखित नियम और कानून न तो सार्वदेशिक हो सकते और न ही सर्वकालिक । मनुष्य की परिस्थितियां और आवश्यकताएँ निरंतर बदलती रहती हैं जो आचार एक युग में प्रचलित था दूसरे में वर्जित ठहराया गया ।

आपद्धर्म अति प्राचीन धर्म है । जब से सृष्टि की रचना हुई और समस्याओं का जन्म हुआ उसका निराकरण ही आपद्धर्म के द्वारा हुआ । सामान्य दशा में व्यक्ति अपने सामान्य धर्मों द्वारा जीवन यापन करता था किन्तु उसके समक्ष एक ऐसी संकट की दशा आयी जब व्यक्ति को अपने सामान्य धर्मों का अनुपालन करना असंभव हो गया और उसके समक्ष जीवन मृत्यु का प्रश्न खड़ा हुआ ऐसी दशा में प्रत्युत्पन्नमति के द्वारा मानव जीवन सुरक्षा के लिए उसे अन्य कर्मों का सहारा लेना पड़ा । वे कर्म ही आपद्धर्म कहलाये - जो सामान्य धर्म से अलग थे, युग धर्म के विपरीत थे ये कर्म केवल आपत्ति की दशा में ही अनुपालनीय थे

मनुष्य के समक्ष आपद्धर्म के विविध पक्ष प्रदर्शित हुए, विविध प्रकार के संकटों से रक्षा के लिए विविध प्रकार के कर्मों की संकल्पना की गयी । संकटों के विविध प्रकार के थे जैसे - धर्म संकट, नैतिक संकट, जीवन संकट, भावनात्मक संकट, राजनैतिक संकट, स्त्री रक्षा का संकट । इन सभी प्रकार के संकटों का निराकरण व्यक्ति आपद्धर्म के अमोघ शस्त्र द्वारा करता था । गौतम, आपस्तम्ब तथा बौधायन आदि धर्मसूत्रों में वर्णन प्राप्त होता है कि किसी आकस्मिक और असाधारण परिस्थिति के उत्पन्न होने पर अपने अस्तित्व बचाव और पुर्नविकास के लिए व्यक्ति को इस बात की छूट थी कि वह अपने विशिष्ट कर्तव्यों को कुछ समय के लिए स्थगित कर दे और दूसरे वैकल्पिक कर्तव्यों

से अपना जीवन निर्वाह करे परन्तु विकल्प भी शास्त्र से विहित होना चाहिए, अविहित विकल्प अपनाने से वह पतित हो जाता है । विहित विकल्प का तात्पर्य अपने वर्ण से नीचे का कर्म ।[1] जैसे -

ब्राह्मण - क्षत्रिय, वैश्य का कर्म करे ।
क्षत्रिय - वैश्य का कर्म करे ।
वैश्य - शूद्र का कर्म करे ।
शूद्र -शिल्प आदि करे ।

सूत्र युग में आपत्तिकाल में अनेक ब्राह्मणों ने सैनिक वृति अपना ली थी जबकि सामान्य दशा में उनके लिए वर्जित था कई वैश्यवृति वाले भी ब्राह्मण दिखायी देते हैं ।[2] महाभारत के शान्तिपर्व में आपद्धर्म का एक विस्तृत अध्याय ही है जिसमें वर्णन है "मनुष्य समय के अधीन है जैसा समय आता है वैसे ही मनुष्य में उत्तम मध्यम और नीच कर्मों को करने की प्रवृति हो जाती है । सभी कर्म काल के वशीभूत ही निश्चित किये जाते हैं ।[3]

इस प्रकार इसमें वर्णन है कि आपत्तिकाल में कभी-कभी अधर्म को धर्म का स्वरूप और धर्म को अधर्म का स्वरूप प्राप्त हो जाता है । आपत्तिकाल आने पर समाज द्वारा लगाये गये सामाजिक नैतिक बन्धन शिथिल होनेवाले बताये गये हैं । आपत्तिकाल में उस व्यवस्था में भी परिवर्तन करना अनुपयुक्त

1- गौतम ध०सू० 7 . 1 से 7 . 9
आपस्तम्ब ,, 7 . 20 . 10 11 तक
दृष्टव्य - सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, श्री सरस्वती सदन मसूरी, पृ० 203, 1977 ।

2- डा० जयशंकर मिश्र - प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, सम्मेलन भवन, अदमकुँआ, पटना - 3, 1974, पृ० 45 ।

3- महाभारत - राजधर्म पर्व, 62. 10 पृ० 337
काल संचोदित कालः काल पर्याय निश्चतः ।
उत्तमाधममध्यानि कर्माणि कुरुते वशः ।।

नहीं माना गया है । संकट में पड़कर जीवन रक्षा चाहनेवाले विद्वान पुरुष दीनचित न होकर कोई उपाय ढूंढ निकालना चाहिए और सभी उपायों[1] द्वारा अपने आपकी आपत्कालीन परिस्थिति से उद्धार करना चाहिए । इस बुद्धि का सहारा लेकर जीवित रहने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि जीवित रहनेवाला पुरुष पुण्य करने का अवसर पाता है और कल्याण का भागी होता है ।[2] अपने मन को वश में रखनेवाले विद्वान पुरुष को चाहिए कि वह जगत में धर्म और अधर्म का निर्णय करने के लिए अपने ही विशुद्ध बुद्धि का आश्रय लेकर यथायोग्य बर्ताव करे ।[3]

आपद्धर्म की परिसीमाएं बहुत ही विस्तृत है जिस प्रकार आपत्तियों की कोई सीमा नहीं है । उसी प्रकार उसके निराकरण हेतु किये गये कर्मों का भी वर्णन दुष्कर है ।

आपद्धर्म के कई स्वरूप हो सकते हैं जैसे -

।1। आपद्धर्म शास्त्र विहित हो सकता था ।

।2। आपद्धर्म शास्त्र अविहित भी हो सकता था ।

।3। अविहित कर्म करने के बाद व्यक्ति प्रायश्चित करता था।

।4। आपद्धर्म में स्वेच्छाचारिता की भावना प्रबल थी ।

।5। आपद्धर्म अल्पकालिक हो सकता था ।

।6। आपद्धर्म दीर्घकालिक हो सकता था ।

निष्कर्ष : धर्म कि विविध विधाएं ग्रंथों में दर्शित होती है कहीं आदर्श के रूप में तो कहीं कर्म के रूप में, कहीं धर्म और यज्ञ के रूप में । सामान्य धर्म व्यक्ति के अपने-अपने विहित सामान्य परिस्थितियों के धर्म हैं और आपद्धर्म संकट से बचाव का एक उपाय है ।

1- महा०शा०प० - आपद्धर्म पर्व 141.100 एवं विद्वानदीनात्मा व्यसनस्थो जिजीविषु:
सर्वोपायैरुपायज्ञो दीनामात्मानमुद्धरेत ।।

2- ,, ,, - आपद्धर्म पर्व 141.101 एतां बुद्धिं समास्थाय जीवितव्यं सदा भवेत ।
जीवन पुण्यमवाप्नोति पुरुषो भद्रमश्नुते ।।

3- ,, ,, - आपद्धर्म पर्व 141. 102 तस्मात् कौन्तय विदुषा धर्माधर्मविनिश्चयो
बुद्धिमास्थाय लोकेऽस्मिन् वर्तितव्यं कृतात्मना ।।

दूसरा अध्याय

आपद्धर्म की संकल्पना का सूत्रपात

जब व्यक्ति और समाज अपने सामान्य और विहित धर्मों के आधार पर अपनी और अपने समाज की रक्षा नहीं कर सकता तब उसके सामने एक धर्म संकट उत्पन्न होता है । वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है, काल और परिस्थिति के वशीभूत होकर उसे नये मार्ग खोजने होते हैं जिनसे उसकी रक्षा हो सके । ये नये रास्ते ही संकट की परिस्थिति में पालनीय और ग्राह्य होते हैं । इन्हीं को आपद्धर्म कहते हैं ।

आपद्धर्म का सूत्रपात सामान्य धर्म के साथ ही साथ हुआ । जब व्यक्ति परिस्थितियोंवश धर्म के संपादन करने में असमर्थ हो और सुरक्षा हेतु (अर्थात् अपनी किसी भी प्रकार की सुरक्षा यथा मानसिक,कायिक, आर्थिक,सामाजिक, सांस्कृतिक आदि) वह अन्य कर्मों का सहारा लेता है ऐसे कर्म ही आपद्धर्म हैं । जहाँ पर धर्म की परिसीमाएं समाप्त हो जाती हैं वहीं से आपद्धर्म प्रारंभ होता है ।

वेदों में आपद्धर्म :

वैदिक युग में आपद्धर्म का सर्वप्रथम उदाहरण हमें ऋग्वेद में दृष्टिगत होता है इसमें विधवा स्त्री के पुर्नविवाह (आपद्स्त्री धर्म) के रूप में प्राप्त होता है । एक श्लोक में वर्णन है ।" हे स्त्री उठो, तू उसके लिए शोक कर रही हो जो मर चुका है । अपने शोक का त्याग करो और उसका वरण करो जो तुम्हें अपनावे, उसके साथ अपने जीवन का शेष भाग प्रसन्नतापूर्वक व्यतीत करो"।[1]

1- ऋग्वेद 10.18.8 उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोक गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्रामस्य दिधिषोस्तवेद पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ।।
दामोदर सातवलेकर - स्वाध्याय मण्डल, बलसाड, 1967 ।

इसी प्रकार से अथर्ववेद में आपद्धर्म का स्वरूप सनातन धर्म के रूप में दृष्टिगत होता है । इसमें वर्णन है मृत पति को प्राप्त होकर पुन: पति गृह को चाहती हुई यह स्त्री है जीवित पुरुष तुझे प्राप्त होती है । उस स्त्री के लिए तू इस गृहस्थ लोक में प्रजोत्पादन करो और धन दो ।[1] इसमें कुल की निरंतरता को बनाये रखने के लिए आपद्कुल धर्म स्त्री ने अपनाया ये आपत्तिकाल में स्त्री का धर्म था ।

वैदिक वाङ्मय में धर्म, तप, ऋत, सत्य के रूप में दृष्टिगोचर हुआ है । इसमें ऋत तथा सत्य ये दो शब्द अति प्रचलित हैं । " ऋतं च सत्यन्चा-भीद्धातपसोऽध्यनायत " तपोमय ब्रह्म से ऋत तथा सत्य प्रकट हुए हैं । ऋत का अर्थ है निरपेक्ष सत्य (Absolute truth) जो परिस्थिति के अनुसार बदल नहीं सकता तथा सत्य का अर्थ है सापेक्ष सत्य (Relative truth) जो परिस्थिति के अनुसार बदल सकता है । इसी सत्य का विषम परिस्थिति जन्य परिवर्तन ही आपद्धर्म है ।

धर्म-सूत्रों में आपद्धर्म :

सूत्र ग्रंथों के रचना का काल 600 ई0पू0 से 300 ई0पू0 तक माना जा सकता है । इस समय 3 प्रकार के सूत्र ग्रंथों की रचना हुई। श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र[2] ।

1-अथर्ववेद संहिता 18. 3. 1

इयं नारी पतिलोकं वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्यप्रेतम् ।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ।।

दामोदार सातवलेकर - स्वाध्याय मण्डल, पारडी, 1948, पृ0 34 ।

2- सूत्रग्रंथों का समय :

आपस्तम्ब धर्मसूत्र	600 से 300 ई0पू0
गौतम धर्मसूत्र	600 से 400 ई0पू0
बौधायन धर्मसूत्र	500 से 200 ई0पू0
वशिष्ठ धर्मसूत्र	300 से 200 ई0पू0
शंखलिखित, विष्णु धर्मसूत्र	300 से 100 ई0पू0

सूत्रकालीन इन धर्मसूत्र रचनाओं में वर्ण व्यवस्था के उस स्वरूप का विकास होता है जिसमें बन्धन और अवरोध की प्रक्रिया थी । वर्णों के उद्गम में जन्म ही प्रमुख आधार था अर्थात् वर्ण व्यवस्था पूर्णत: आनुवंशिक हो गयी थी । इस प्रकार से चारो वर्णों का उत्कर्ष और उनमें जटिलता का समावेश इस युग से प्रारंभ हो जाता है ।

जब वर्ण व्यवस्था जन्मगत हो गयी और वर्णों के कठोर नियम हो गये ऐसी दशा में आपत्तिकाल में आपद्धर्मों का स्पष्ट स्वरूप दर्शित होता है ।

इस समय जब ब्राह्मण अपने शास्त्रोक्त कर्मों (अध्ययन, अध्यापन, यजन-याजन, दान-प्रतिग्रह) से आपत्तिकाल में जीवन यापन न कर सके तो उसके लिए अन्य कर्मों को संपन्न करने का निर्देश दिया गया जैसे क्षत्रिय या वैश्य के कर्म । इस काल में अनेक ब्राह्मणों ने प्राणासंशय की अवस्था में सैनिक वृत्ति अपना ली थी । शस्त्र धारणकर लिया था ।[1] वैसे साधारणत: सैनिक बनना उनके लिए वर्जित था किन्तु अत्यन्त विषम और कठिन परिस्थिति में ही उन्हें सैनिक जीवन बिताने के लिए कहा गया था । वैश्य वृत्ति भी ब्राह्मण संकट काल में अपना सकता था ।[2] यद्यपि सूत्रकारों ने उन्हें रस गंधतिल आदि अनेक वस्तुएं न बेचने के लिए निर्दिष्ट किया है । आपत्तिकाल में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों को पढ़ा भी सकता था ।[3]

1- मिताक्षर वृत्ति - उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 1968
बौध०सू० 1. 120 - (प्राणसंशये ब्राह्मणोऽपि शस्त्रमाददीत ।)
गौ०ध०सू० 1. 7. 25
मिताक्षर वृत्ति- उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 1966 ।
उद्धृत - डा० जयशंकर मिश्र -' प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास', बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, सम्मेलन भवन, पटना, 1974, पृ० 45 ।

2- बौ०ध०सू० 1. 5. 101 - तस्य वैश्यवृत्ते ब्राह्मणस्यापण्येन विक्रयं वक्ष्यते ।
गौ०ध०सू० 1. 7 ,7-8 - तदलाभे वैश्यवृत्ति, तस्यापण्यम् ।
उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 1966, पृ० 65 ।

3- आ०ध०सू० : 2. 24. 25-28 - आपदि ब्राह्मणेन राजन्योवैश्ये वाध्ययनम् ।

आपत्तिकाल में क्षत्रिय अपने कर्मों से जीवन यापन न कर सके तो उसके लिए वैश्य वृत्ति करने की छूट थी ।[1] इसी प्रकार से वैश्य का प्रधान कर्म, कृषि और वाणिज्य था किन्तु आपत्तिकाल में जीविकोपार्जन के निमित्त वह वर्ण विरुद्ध कर्म भी कर सकता था । गौ ब्राह्मण और वर्ण रक्षा के निमित्त वह शस्त्र ग्रहण कर सकता था[2] । इस प्रकार से धर्मसूत्रों में अपने कर्तव्यों और कर्मों से जीवनयापन न कर सकने के कारण आपत्तिकाल में उसके लिए आपद्धर्म की व्यवस्था की गयी थी ।प्रतिकूल परिस्थितियों और विपत्ति के क्षणों में व्यक्ति को दृढ़ रखने के लिए आपत्कर्तव्यों का निवेशन किया गया था।

<u>कौटिल्य अर्थशास्त्र में आपद्धर्म</u> - कौटिल्य अर्थशास्त्र राजनीतिशास्त्र का एक वृहद कोष है । कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णन है कि आपत्काल में राजा बल द्वारा अपनी प्रजा की रक्षा करता है । शक्तिहीन राजाओं को सर्वदा बलवान राजा का आश्रय लेना चाहिए। दुर्बल राजा का आश्रय लेनेवाला सर्वदा दु:ख उठाता है।[3] कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजनीति से संबंधित कई कूटनीतिक आख्यान उपलब्ध होते हैं जो राजा के आपत्तिकाल में अनुपालनीय थे ।

<u>मनुस्मृति में आपद्धर्म</u> - मनुस्मृति में आपद्धर्म का वर्णन बहुत ही स्पष्ट शब्दों में किया गया है । जैसे आकाश कीचड़ से लिप्त नहीं होता वैसे ही प्राण जाने के भय से यदि प्राणी इधर-उधर का अन्न खा लेता है वह प्राणी भी पाप लिप्त नहीं होता है ।[4] मनुस्मृति में अत्यन्त आपत्तिकाल में ऋषियों द्वारा किये गये जघन्य कर्मों का उल्लेख है जिसमें वर्णन है कि धर्मज्ञाता ऋषियों ने किस प्रकार भयंकर दुर्भिक्ष काल में प्राण रक्षा

1- गौ०ध०सू०-1. 7. 26 राजन्यो वैश्यकर्म: ।
उमेश चन्द्र पाण्डय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी , 1966, प० 69 ।

2- बौ०ध०सू० - 2. 2. 18 गवार्थे ब्राह्मणार्थे वा वर्णानां वापि संकरे ।
गृह्णीतयात विप्रविशौ शस्त्रधर्म व्यपेक्षमा ।।
डा० जयशंकर मिश्र -' भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, सम्मेलन भवन, पटना, 1967, पृ० 47 ।

3- कौटिल्य अर्थशास्त्र वाचस्पति गैरोला, 62-65(चाणक्य प्रणीत सूत्र)
शक्तिहीनो बलवन्तमाश्रयेत् । दुर्बलाश्रमों दु:खभावहति अग्नि वद्राजानमाश्रयेत ।
राज्ञ पतिकूलं ना चरेत् ।

4- मनुस्मृति 10. 104 जीवितात्ययमापन्नो योऽन्न भति यतस्तत: ।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ।
गणेशदत्त पाठक , ठाकुर प्रसाद एण्ड संस, वाराणसी, संवत 2031 ।

के लिए मांस भक्षण किया था ।[1] मनु द्वारा संचालित आपद्धर्म की व्यवस्था भविष्य के लोगों के लिए एक देन ही नहीं बल्कि सर्वदा के लिए मार्ग प्रदर्शक भी बनी । मनु द्वारा निर्देशित आपद्धर्म तत्कालीन समाज का सचित्र दर्पण है जिससे यह ज्ञात होता है कि व्यक्ति का जीवित रहना ही सब से बड़ा धर्म है । यदि व्यक्ति का जीवन नहीं तो धर्म का कोई महत्व नहीं है क्योंकि जीवित व्यक्ति ही धर्माधर्म का विवेचन कर सकता है ।

महाकाव्यों में आपद्धर्म का स्वरूप :

रामायण - रामायण हिन्दुओं का धर्म ग्रंथ है । इसमें श्रीराम को मर्यादा पुरुषोत्तम कहा गया है । रामायण में भी आपद्धर्म का यत्र तत्र दृष्टान्त मिलता है । वाल्मीकि रामायण में एक स्थल पर वर्णन है कि वन गमन के समय राम लक्ष्मण सीता ने निषाद राजा गुह के आतिथ्य को स्वीकार किया गया था ।[2] (केवट) निषाद निम्न जाति थी, सामान्य दशा में निम्न जाति के लोगों का छुआ भोजन अग्राह्य था क्योंकि व अछूत समझे जाते थे । इसी प्रकार से एक स्थल पर वर्णन है राम ने सबरी के आश्रम में उसका दिया कन्द मूल फल ग्रहण किया ।[3] सबरी भी अधम जाति की थी । शबरी जाति से वर्ण बाह्य थी किन्तु विज्ञान (परमात्मज्ञान) में बहिष्कृत नहीं थी ।

महाभारत - महाभारत में उल्लेख है कि मनुष्य समय के अधीन है जैसा समय आता है वैसे ही मनुष्य की उत्तम, मध्यम और नीच कर्मों को करने की प्रवृत्ति हो जाती है ।[4] एक स्थल पर कहा गया है कि आपत्तिकाल में कभी-कभी अधर्म

1- मनुस्मृति 10. 105-108 अजीगर्तः सुतं ----------
-------------- धर्माधर्म विचक्षणः

2- वाल्मीकि रामायण , अयोध्या काण्ड , 5. 45

3- वाल्मीकि रामायण, अरण्य काण्ड, 74. 12

4- महाभारत , शा०प० 62.10

कालः संचोदितः कालः काल पर्यायनिश्चितः ।
उत्तमाधममध्यानि कर्माणि कुरुतेऽवशः ।।

दामोदर सातवलेकर, पारडी, बलसाड, 1979 ।

को ही धर्म और धर्म को अधर्म का स्वरूप प्राप्त हो जाता है । योग्य समय और योग्य स्थान पर जो धर्म आचरणीय है वही अयोग्य समय और अनुपयुक्त स्थान पर अधर्म बन जाता है ।[1] आपत्तिकाल आने पर समाज द्वारा लगाये गये बन्धन शिथिल हो जाते हैं । महाभारत में ही परशुराम जी का एक दृष्टान्त प्राप्त होता है जिन्होंने प्राण रक्षा के लिए ब्राह्मण होकर भी शस्त्र धारण किया था और 21 बार क्षत्रियों का संहार किया था ।[2] धर्मराज युधिष्ठिर जो अत्यन्त सत्यवादी थे आपत्ति के समय युद्ध भूमि में झूठ बोले " अश्वात्थामा मरो नरो वा कुञ्जरो वा ।"[3] महाभारत के युद्ध में पाण्डवों ने अपने गुरु को मार डाला, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य जो गुरु भी थे और ब्राह्मण भी, जबकि सामान्य दशा में ब्राह्मण अवध्य है ।[4]

इस प्रकार से महाभारत के आपद्धर्मों में विविधता दृष्टिगत होती है । आपद्धर्म का सब से वृहद और विविधता पूर्ण कोष संग्रह महाभारत ही है ।

आपद्धर्म का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण महाभारत के विराट पर्व में दृष्टिगत होता है जब महापराक्रमी पाण्डव विराट की सभा में विविध कर्म करते थे । धर्मराज युधिष्ठिर कहते हैं कि मैं राजा का सभासद बनूंगा तथा अपनी जाति ब्राह्मण और नाम कड़्० तथा कर्म जुआ खेलना बताऊँगा । भीम कहते हैं कि मैं अपने को राजा युधिष्ठिर के यहाँ का आरालिक (अन्न पकानेवाला) गोविकर्ता (तैलान्न बनानेवाला) सूपकर्ता (साग बनानेवाला) और योद्धा था ऐसा बताऊँगा । अर्जुन कहते हैं कि मैं विराट के महल में स्त्रियों को गाना- नाचना तथा अनेक के बाजे सिखाऊँगा । नकुल कहते हैं मैं ग्रंथिक के नाम से राजा विराट के घोड़ों का साईस बनूंगा यह काम मुझे बहुत प्रिय है । सहदेव कहते हैं मैं विराट राजा के गौओं को गिनने , रोकने और दुहनेवाला बनूंगा । मैं गौओं को गिनने में निपुण हूं । द्रौपदी कहती है कि

1- महाभारत, अ०प० 209 , क०प० 69 , शा०प० 33
दामोदर सातवलेकर, बलसाड , 1979 ।

2- महाभारत, अनु०प० (आश्वमेधिक पर्व) 29 . 22

3- महाभारत, द्रोण०प० 190 . 59

4- महाभारत, द्रोण० प० 192 . 70

मैं अपने को सैरन्धी बताकर उनका (रानी का) सिर गुथूंगी क्योंकि मैं सिर गूंथने में बहुत निपुण हूँ और इस प्रकार अपने को छिपाऊंगी ।[1]

पुराणों में आपद्धर्म :

पुराणों में भी अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं जिससे जाति के कर्म परिवर्तनों का संकेत मिलता है किन्तु इसमें यह निश्चित कर पाना कि किस प्रकार की आपत्तियां थी दुष्कर है किन्तु यह तो निश्चित ही है कि व्यक्ति अपने वर्ण के कार्यों में परिवर्तन कर सकता था । विष्णु पुराण में वर्णन है कि नृप दुरुदाय के पुत्र ने बाद में विप्रत्व स्वीकार कर लिया था ।[2] शूद्रा से उत्पन्न कक्षीवान के विषय में वायु ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों का कथन है कि तपश्चर्या के कारण इन्हें ब्राह्मणत्व की प्राप्ति हुई थी ।[3] विष्णु पुराण के अनुसार राजा त्रिशंकु नीच कर्म के कारण चाण्डालत्व को प्राप्त हुए थे ।[4]

1- महाभारत विराट पर्व -

(युधिष्ठिर) 1. 20 : सभास्तारो भविष्यामि तस्य राज्ञो महात्मन: ।
कङ्को नाम-द्विजो भूत्वा मताक्ष: प्रिय देविता ।।

(भीम) 2. 7 : आरालिको गोविकर्ता सूपकर्ता नियोधिक: ।
आसं युधिष्ठिर स्याहमिति वक्ष्यामि पृच्छत: ।।

(अर्जुन) 2. 24: गीत नृत्तं विचित्रं च वादित्रं विविधं तथा ।
शिक्षयिष्याम्यहं राजन्विराट भवने स्त्रिय: ।।

(नकुल) 3. 2 : अश्वबन्धो भविष्यामि विराट नृपतेरहम् ।
ग्रन्थिको नाम नाम्नाहं कर्मैतत्सुप्रियं मम ।।

(सहदेव) 3. 6 : गोसंख्याता भविष्यामि विराटस्य महीपत: ।
प्रतिषेद्धा च दोग्धा च संख्याने कुशलो गवाम् ।।

(द्रौपदी) 3.17 : साहं ब्रुवाणा सैरंध्री कुशला केशकर्मणि ।
आत्म गुप्ता चरिष्यामि यन्मां त्वमनुपृच्छसि ।।

2- विष्णु पुराण 4. 19. 26 तच्च पुत्रत्रितयं पश्चाद्विप्रतामुपजगाम ।

3- वायु० पु० 99. 94 / ब्रह्माण्ड पु० 3. 74. 96)- विधूय सानुजो दोषान् ब्राह्मण्यं प्राप्तवान्प्रभु: ।
मत्स्य पुराण 48. 86 विधूय मातृजं कायं ब्राह्मण्यं प्राप्तवान्विभु: ।

4- विष्णु पुराण 4. 3. 21-23 यो सौ त्रिशंकुसंज्ञामवाप ।

इस प्रकार से ज्ञात होता है कि इस काल में भी व्यक्ति विशेष परिस्थितियों में अपने वर्ण विहित कर्मों में परिवर्तन कर लेता था । इस समय समाज में विविध जातियां बन चुकी थी और जाति परिवर्तनों में धर्म का स्थान न्यूनाधिक अंशों में विद्यमान थी ।[1]

याज्ञवल्क्य स्मृति में आपद्धर्म :

याज्ञवल्क्य स्मृति में आपद्धर्म का एक प्रकरण ही है । इसमें वर्णन है कि ब्राह्मण किसी भी वृत्ति से जीविकोपार्जन न कर सके तो वह चोर कर्म कर सकता है ।[2]

पराशर स्मृति और नारद स्मृति में भी आपद्धर्मों का उल्लेख है जिसका विस्तृत वर्णन बाद के अध्यायों में किया गया है ।

ऐतिहासिक घटना क्रमों में आपद्धर्म की अवधारणा का सूत्रपात :-

शुंगों के समय आपद्धर्म व्यवस्था में और दृढ़ता आ गयी थी । अंतिम मौर्य शासक बृहद्रथ का हत्यारा पुष्यमित्र शुंग ब्राह्मण जाति का था ब्राह्मण इस समय सैन्य वृत्ति अपनाने लगे थे । अपने जीविकोपार्जन हेतु (यह आपद् राज धर्म का उदाहरण है (वह मौर्य सेना का प्रधान सेनापति भी था । इसके उपरान्त सातवाहन और कण्व वंश भी ब्राह्मण वंश के थे जो राजा बने ।

मौर्य युग के परवर्ती काल से ही भारत पर अनवरत रूप से विदेशी आक्रमण होने लगे । इनमें इंडोग्रीक, शक, पह्लव, कुषाण आदि जातियां यहां आयी यहां शासन किये ऐसे आपद्ग्रस्त वातावरण में इन विदेशी जातियों का भारतीय समाज में आर्यीकरण होना स्वाभाविक ही था । फलतः ये यहां के सामाजिक जीवन में धुल मिल गये । महाभारत तथा रामायण में भी इनका उल्लेख है। पातंजलि तथा मनु ने भी शक, यवन, पौण्ड्रक, औड्र, द्रविण, कम्बोज, किरात, दरद, चीन, खश, यवन, शक, पारद, पह्लव जैसी जातियों का वर्णन किया है।[3] भारतीय शास्त्रकारों ने इनको शूद्र के अन्तर्गत रखकर अपनी चातुर्वर्ण की सामाजिक व्यवस्था में ग्रहित किया ।[4]

1- एस०एन०राय, ' पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ० 157-158 ।

2- याज्ञवल्क्य स्मृति - आपद्धर्म प्रकरण 2.43 क्षुधितस्त्र्यहं ------ धर्मतः ।।

3- मनुस्मृति 10.44 पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः कम्बोजा यवनाः शकाः ।

जी० एस० घूर्ये - " वैदिक दास धीरे-धीरे शूद्र हो गये जो वाह्य जातियाँ थी जैसे निषाद पुल्कस चाण्डाल आदि वे शूद्रों में मिल गयी ।"[1]

हरिषेण की प्रयाग प्रशस्ति में भी इन विदेशियों के भारतीयकरण का उल्लेख मिलता है, जो समुद्रगुप्त के समय का है । इसमें शक, मुरुण्डो, कुषाणों की कन्याओं के आदान-प्रदान का वर्णन है[2] ।

सभी शास्त्रकार वर्णानुकूल कर्म की प्रशंसा करते हैं । इसी से व्यक्ति, परिवार और समाज का उत्कर्ष मानते हैं । उन्होंने व्यवहारिकता को दृष्टिगत करके परिस्थितियों की प्रतिकूलता पर भी विचार किया है । इसीलिए आपत्तिकाल में व्यक्ति को जीविकोपार्जन के निमित्त अन्य वर्णों के कर्मों को अनुपालित करने का निर्देश दिया गया है । क्षत्रिय को आपद्धर्म के अन्तर्गत वैश्य कर्म अपनाने की सलाह दी गयी किंतु उन्हें हिंसा प्रधान कृषि कर्म करने की अनुमति नहीं थी । आचार्य लक्ष्मीधर ने प्राचीन शास्त्रकारों को उद्धृत करते हुए यह व्यवस्था दी है कि क्षत्रिय कृषिकर्म और व्यापार कर सकता है ।[3]

10वीं तथा 11वीं० शताब्दी में आपद्धर्म का स्वरूप कलिवर्ज्यों के सूची के अन्तर्गत दर्शित होता है । कलियुग में कुछ कर्म जो वर्णविहित नहीं थे किन्तु आपत्तिकाल में उनको संपादित करने के पश्चात प्रायश्चित विधान का सूत्रपात किया गया था । धर्मशास्त्रों में कलिवर्ज्यों की सूची प्रस्तुत की गयी है ।कलिवर्ज्य संबंधी विवेचन उन लोगों का मुँहतोड़ जवाब है जो " अप्रगतिशील पूर्ण " सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं । प्राचीनकाल के अत्याधिक स्थिर समाज के अन्तर्गत भी सामाजिक भावनाओं एवं आचार विचारों में पर्याप्त गंभीर परिवर्तन होते रहे हैं । बहुत से ऐसे आचार एवं व्यवहार जिनके पीछे वेदों (जो स्वयमुद्भूत एवं अमर माने गये हैं) का आधार था और जिनके पीछे आपस्तम्ब, मनु एवं याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों की प्रामाणिकता थी । वे या तो त्याज्य ठहराये गये या प्रचलित मनोभावों के कारण गर्हित माने गये ।[4]

1- जी०एस०घूर्ये : दि कास्ट एण्ड रेस इन इंडिया, पापुलर बुक डिपो, बाम्बे,1957, पृ०82 ।

2- प्र० प्र० : दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहिशकमुरुण्डैः सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभि-
रात्मनिवेदन कन्योपायनदानगरुत्मदङ्क० स्वविषयभुक्तिशासनयाचनः ।

3- कृत्यकल्पतरु, गृहस्थ काण्ड, पृ० 191 ।

4- पी०वी०काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, गर्वन्मेण्ट ओरियन्टल सीरीज़, पूना, 1941, पृ० 109 ।

महान विचारकों ने कलियुग के लिए ऐसी व्यवस्थाएं प्रचलित की जिनके फलस्वरूप धार्मिक आचार-विचारों एवं नैतिकता संबंधी भावनाओं में यथोचित परिवर्तन किया जा सका कलिवर्ज्य वचनों ने ऐसे लोगों को भी पूर्ण उत्तर दिया जो धर्म को (आचार धर्म) अपरिवर्तनीय एवं निर्विकार मानते रहे हैं । सर्वप्रथम कलिवर्ज्यों की सूचियां स्मृत्यर्थसार, स्मृतिचंद्रिका एवं हेमाद्रि द्वारा ही प्रकाशित की गयी । ये ग्रंथ लेखक 12वीं, 13वीं शताब्दी के हैं । अत: अत्यन्त संभव अनुमान यह है कि कलिवर्ज्यों की सूचियां सर्वप्रथम 10वीं या 11वीं शताब्दी में उपस्थित की गयी थी ।[1]

11वीं सदी का लेखक अल्बरुनी का कथन है कि प्राचीन काल में अत्यन्त कर्त्तव्य परायण राजा जनता को अनेक श्रेणियों और कर्मों में विभक्त करने में योग देते थे। साथ ही उन्हें एक दूसरे से मिलने और क्रम तोड़ने से रोकने का यत्न करते थे। कुछ लोग वर्ण विरुद्ध कर्म भी कर रहे थे । अल्बरुनी स्वयं कहता है कि अनेक ब्राह्मण वैश्यों की भांति व्यापार करते थे । (संभवत: ब्राह्मणों के समक्ष जीवन मृत्यु का प्रश्न हो अत: जीवन यापन हेतु ये वृत्ति अपनाये थे)क्षत्रिय पढ़ लिख सकते थे । वे पौराणिक नियमों के अनुसार आहुति देते थे । वैश्यों की स्थिति निश्चित रूप से हीन हो गयी थी । वे शूद्रों की कोटि में रखे जाने लगे थे । अल्बरुनी कहता है कि यदि कोई शूद्र या वैश्य वेद पाठ करता था तो उसकी जिहवा काट ली जाती थी । ये दोनों जातियां खेती और सेवा कार्य करती थी । ब्राह्मण अपनी पवित्रता का बड़ा ध्यान रखते थे यदि कोई ब्राह्मण कुछ दिनों तक शूद्र के घर भोजन कर लेता था तो वह जाति से बाहर समझा जाता था।[2]

12वीं सदी के आरंभ में वैश्यों ने सामाजिक परिस्थितियों के कारण कृषि कर्म छोड़ दिया उनका मुख्य कार्य व्यवसाय ही रह गया । इसका मुख्य कारण वैश्यों पर बौद्ध और जैन धर्म की शिक्षाओं का अन्य वर्णों से अधिक प्रभाव पड़ा । उनके अहिंसा के सिद्धान्त से वैश्य वर्ण के समक्ष एक धर्म संकट स्थिति आयी जो उनके वर्ण विहित कृषि कर्म से विरत कर दिया अन्ततोगत्वा कृषि कर्म वैश्यों से छूटकर शूद्रों के कर्म में सम्मिलित हो गया तथा वैश्य शूद्रों के स्तर तक पहुंच गये ।[3]

अनवरत मुस्लिम आक्रमणों के फलस्वरूप समस्त हिन्दू समाज में विषमता और अव्यवस्था व्याप्त हो चली । ऐसे आपत्ति के समय विदेशी जातियों के जो लोग राज

1- पी०वी०काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास,भाग 2,गवर्नमेण्ट ओरियण्टल सीरीज़,भण्डारकर आरिण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट,पूना,1941,पृ० 1010 ।

2-(अल्बरुनी)- ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 98-110 । (जय शंकर मिश्र)

3- घूर्ये, जी० एस० : कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, पापुलर बुक डिपो, बाम्बे, 1957.पृ० 57. 64. 88. 96 ।

परिवारों और ऊँचे पदों से सम्बद्ध थे उनका तो समाज में उच्च स्थान था । राज परिवारों का ये वर्ग धीरे-धीरे क्षत्रिय वर्ग के निकट आ गया । चूँकि दोनों का धर्म युद्ध और शासन करना था इसलिए दोनों में समीपता स्वाभाविक थी । कालान्तर में यही वर्ग राजपूत कहलाया । जो विदेशी जातियाँ साधारण वर्ग से संबंधित थी वे शूद्रों के अन्तर्गत आयी । इस प्रकार से विदेशी जातियां विषम परिस्थितियों में भारतीय जन समुदाय में घुल-मिल गयी और उनका आर्यीकरण हुआ[1] ।

आपद् स्त्री धर्म : आपद् स्त्री धर्म की संकल्पना का सूत्रपात वैदिक युग से ही हो चुकी थी । समाज में बाहर से आये आर्यों की संख्या कम थी । वे अपने को सभ्य और सुसंस्कृत मानते थे । अपनी संख्या वृद्धि के लिए उन्होंने अनेक नियमों को बनाया ।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में कुछ मंत्रों में यह वर्णन मिलता है कि स्त्री अपने पति की मृत्यु के बाद वंश वृद्धि के लिए दूसरे पति का वरण कर सकती थी[2] । इस प्रकार प्राचीनकाल में एक जाति का व्यक्ति दूसरे जाति की विधवा से विवाह कर सकता था । इन कार्यों की छूट थी[3] ।

महाभारत और रामायण में ऐसा वर्णन प्राप्त होता है कि पति की मृत्यु के बाद विधवा स्त्री उसके शव के साथ सति हो जाती थी । प्रो० वाश-ब्यूरो हापकिंस का मत है पहले यह प्रथा राज परिवारों तक सीमित थी जैसा कि महाकाव्यों में वर्णन मिलता है किन्तु धीरे-धीरे यह सभी के लिए मान्य हो गयी[4] । इसका विस्तार बाद के अध्यायों में किया गया है ।

इस प्रकार से धर्म के साथ ही आपद्धर्म का भी सूत्रपात हुआ जब व्यक्ति का अपने कर्तव्य का ज्ञान हुआ धर्म के नियमों में कठोरता आयी उस समय संकट काल में अपने वर्ण की पवित्रता को बनाये रखने के लिए प्राण रक्षा हेतु व्यक्ति ने आपद्धर्मों को किया । जो आपद्धर्म कहलाया । इसको विविध रूपों में देखा जा सकता कहीं धर्म के रूप में, कहीं वर्ण के कर्मों के रूप में कहीं राजनीति के कर्म के रूप तो कहीं रक्षा हेतु प्रयासों के रूपमें में इस प्रकार से आपद्कर्मों में वैविध्यता थी ।

1- मीज,जी०एच० : धर्म एण्ड सोसायटी,ग्रेट रसल स्ट्रीट,लन्दन,1953,पृ० 83 ।

2- ऋग्वेद 10. 18. 8 - उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ।।
अथर्ववेद 5. 17. 8

3- मीज, जी० एच० : धर्म एण्ड सोसायटी, ग्रेट रसल स्ट्रीट,लन्दन,1953,पृ० 105 ।

4- कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, वाल्यूम 1,पृ० 292 ।

अध्याय - 3

आपद्धर्म का स्वरूप एवं विशेषताएं

आपद्धर्म का स्वरूप और विशेषताएं समझने के लिए इसका विविध खण्डों में वर्गीकरण किया जा सकता है जैसे -

। अ । आपद् वर्ण- धर्म
। ब । आपद् स्त्री- धर्म
। स । आपद् कुल -धर्म
। द । आपद् राज- धर्म

अब इस अध्याय में इन पर विस्तृत प्रकाश डाला जायेगा -

। अ । आपद् वर्ण धर्म :-

इस अध्याय में वर्णों के सामान्य कर्त्तव्य और आपात्कालिक कर्त्तव्यों पर प्रकाश डाला जायेगा । मनुष्य समय के आधीन होता है जैसा समय आता है वैसा ही व्यक्ति उत्तम, मध्यम और नीच कर्मों को करने लगता है । मानव जीवन बड़ा ही अनमोल एवं दुर्लभ है और धर्म भी तभी तक है जब तक जीवन है । मानव जीवन की रक्षा के लिए धर्मशास्त्रकारों, सूत्रकारों स्मृतिकारों ने वर्ण व्यवस्था की कठोरता में कुछ ढील दी जिससे आपत्तिकाल में भी व्यक्ति अपने जीवन रक्षा का उपाय कर सके ।

सर्वप्रथम वैदिक काल में 2 वर्णों की चर्चा की गयी है जो आर्य और दस्यु थे । दस्यु वर्ण ही कालान्तर में शूद्र हो गये तथा आर्यों के

तीन वर्ण हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य । ब्राह्मण पृथ्वी पर देवता थे ।
जब वे मंत्रोच्चार करते थे ।

इन्डो यूरोपियन सभ्यता में भी समाज तीन वर्गों में विभक्त था ।
(1) (तंत्र-मंत्र), (2) न्याय प्रशासन से संबंधित (3) सैन्य वर्ग और कृषि कर्म ।

यही विचारधारा रोम के प्राचीन सभ्यता में भी दृष्टिगत होती है जिसके देवता हैं - जूपिटर, मार्स, क्यूरेनियस । रोम के प्राचीन इतिहास में भी ये तीन वर्ण पाये जाते हैं ।

ग्रीक सभ्यता में भी यही तथ्य दृष्टिगत होता है। यूरोपियनों का समाजभी 3 वर्गों में बंटा था -(1) दार्शनिक वर्ग (2) सैनिक वर्ग (3) सामान्य वर्ग-मजदूर, कृषक आदि ।

ईरानी सभ्यता में भी समाज तीन या चार वर्गों में बंटा था -
(1) पुजारी वर्ग (2) सैन्य वर्ग (3) कृषक (4) परिश्रमिक वर्ग ।[1]

प्राचीन भारतीय समाज चार वर्णों में विभक्त था जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे । ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वर्णन प्राप्त होता है कि प्रजापति का मुख ब्राह्मण है, बाहु क्षत्रिय, जंघे वैश्य तथा पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई ।[2] संभवतः वर्णों के कर्मों को दृष्टिगत करते हुए उनको उच्च,मध्यम और निम्न स्थान दिया गया ।

ब्राह्मण वर्ण :

विष्णु धर्मसूत्र, वशिष्ठ धर्मसूत्र, मनुस्मृति तथा महाभारत आदि में ब्राह्मण के सामान्य कर्त्तव्यों में वेद अध्ययन - अध्यापन , यजन- याजन तथा

1- राबर्ट लिंगट : द क्लासिकल ला आँव इण्डया, थामसन प्रेस,
न्यू दिल्ली, 1974, पृ० 35-37 ।

2- ऋग्वेद 10. 90. 12 : ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
उरुतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोजायत ।।
दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड़, 1967 ।

दान और प्रतिग्रह कहा गया है ।[1] सामान्य जीवन में ब्राह्मण इन कर्मों द्वारा अपना जीविकोपार्जन करता था ।

रावर्टलिंगट का मत - जब ब्राह्मण मंत्रोच्चार करता था तो वह पृथ्वी का देवता प्रतीत होता था ।[2]

जी० एच० मीज का मत है कि धर्म समाज को समायोजित करने और सामाजिक उद्देश्यों (वर्ण,धर्म, समाज व्यवस्था) को पूर्ण करने का एक साधन बन गया था । इस प्रकार धर्म ब्राह्मण वर्ण के हाथ में आया जो धर्माधिकारी बन गये और जाति धर्म के कर्ताधर्ता और नियामक के रूप में प्रतिष्ठित हुए ।[3]

1- वशिष्ठ ध०सू० 4. 12

विष्णु ध०सू० 2. 13

मनु स्मृति 1. 88 अध्यापनमध्ययन यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रह चव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।।
गणेशदत्त पाठक, ठाकुर प्रसाद एण्ड संस,वाराणसी, संवत् 2031

महा० शा० राज०६·12

दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड़, 1984 ।

2- राबर्टलिंगट - द क्लासिकल ला आव इण्डिया, पृ० 35 ।

3- जी० एच० मीज - धर्म एण्ड सोसाइटी, पृ० 102 ।

मीज ने अन्यत्र यह मत प्रकट किया है कि चर्तु-वर्णों की परिकल्पना समाज को एक सुव्यवस्थित गति देने का प्रयास मात्र था । किसी भी वर्ण के कार्य सभी कालों में एक जैसे नहीं थे, ये कोई अटल सत्य या शाश्वत नियम नहीं था न हीं कोई निश्चित मापदण्ड था वरन् यह युग-युग में वर्णों की सुविधानुसार समयानुसार वर्णों के कर्मों में (फेर बदल) परिवर्तन की गतिशीलता दिखती है ।[1]

(अ) आपत्तिकालीन ब्राह्मण की ब्राह्मणवृत्ति :

आपत्तिकाल में ब्राह्मण , ब्राह्मण गुरु के अभाव में क्षत्रियों से अध्ययन कर सकते थे । शतपथ ब्राह्मण एवं उपनिषदों में भी कुछ ब्रह्मविद् क्षत्रियों के नाम आते हैं जिनके यहाँ ब्राह्मण लोग शिष्य के रूप में उपस्थित होते थे । जैसे याज्ञवल्क्य ने राजा जनक से (शतपथ ब्राह्मण 6. 21. 5) बालाकि गर्ग्य ने काशीराज अजातशत्रु से (वृहदारण्यक 2. 1 एवं कौषीतकी उप० 4) श्वेत केतु आरुणेय ने प्रवाहण जैबलि से (छान्दोग्य उप० 5. 3) पंच ब्राह्मणों ने केकय राज अश्वपति से (छान्दोग्य उप० 5. 2) ज्ञान प्राप्त किया था ।[2]

गौतमधर्मसूत्र में ऐसा वर्णन आया है कि ब्राह्मण का ब्राह्मणेत्तर (क्षत्रिय या वैश्य) वर्णों से विधा ग्रहण करना आपातकालीन नियम है ।[3] आपत्तिकाल में ब्राह्मण सभी अयोग्य व्यक्तियों का यज्ञ करा सकता है । सब को

1- जी०एच०मीज -' धर्म एण्ड सोसायटी', अध्याय 10, पृ० 186

2- पी०वी०काणे -' धर्मशास्त्र का इतिहास , प्रथम भाग ,पृ० 142
गर्वनमेण्ट ओरियण्टल सीरीज़, पूना, 1963

3- गौतमधर्मसूत्राणि 1. 7.1. आपत्कल्पो ब्राह्मणस्याब्राह्मणाद्विधोपयोगः ।
मिताक्षर वृत्ति, उमेश चन्द्र पाण्ड, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 1966, पृ० 64 ।

पढ़ा सकता है और सब का दान ले सकता है । गौतमधर्मसूत्र के अनुसार ब्राह्मण को आपत्तिकाल में पहले दान लेकर जीविका चलानी चाहिए उससे जीविका न चले तो उसे याजन द्वारा जीविका चलानी चाहिए ।[1] (सर्व वर्णों का तात्पर्य यहां शूद्र वर्णों से है) आपस्तम्बधर्मसूत्र में भी वर्णन है कि गुरु केवल ब्राह्मण ही हो सकते हैं किन्तु आपातकाल में ब्राह्मण गुरु की अनुपस्थिति में ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य से पढ़ सकता है । ब्राह्मण शिष्य क्षत्रिय या वैश्य गुरु के पीछे-पीछे चल सकता है किन्तु पैर दबाने की सेवा या अन्य किसी प्रकार की सेवा नहीं कर सकता । पढ़ने के उपरान्त वह गुरु के आगे-आगे भी जा सकता है ।[2] इसी में आगे वर्णन प्राप्त होता है कि ब्राह्मण को आपत्तिकाल में जब जीविका के कोई साधन उपलब्ध न हो तो भिक्षावृत्ति भी अपना सकता था । उसे केवल निम्न कार्यों के लिए ही भिक्षा मांगनी चाहिए - (1) आचार्य के लिए (2) अपने प्रथम विवाह के लिए (3) यज्ञ के लिए (4) माता पिता के रक्षण के लिए (5) योग्य पुरुष के कर्तव्यों के विलोप को दूर करने के लिए । ऐसे अवसर पर लोगों को यथाशक्ति दान देना चाहिए और जो केवल अपने सुख के लिए मांगे उसे दान नहीं देना चाहिए ।[3] यही विचार मनु ने भी व्यक्त किये हैं कि गुरुओं (माता-पिता) और भृत्यों के पोषणार्थ तथा देवता और अतिथियों के पूजनार्थ सब से (शूद्रादि से) दान ले किन्तु उस धन या वस्तु का स्वयं उपयोग न करे ।[4]

1- गौतमधर्मसूत्राणि 1. 7. 9, 5, याजनाध्यापन प्रतिग्रहा: सर्वेषाम् ।4।।
,, ,, पृ० 64-65 पूर्व: पूर्वो गुरु: ।।1 5 ।।

2- आपस्तम्ब धर्मसूत्राणि- उमेश चन्द्र पाण्डे, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़,वाराणसी 1964, 2.2. 4, 25,28

3- ,, ,, 5. 2. 10,1,4 भिक्षणे निमित्तयाचार्यो विवाहो यज्ञो
,, मातापित्रो र्बुभूषार्हतश्च नियमविलोप: । तत्र:गुणान समीक्ष्य यथाशक्ति देयम् । इन्द्रिप्रीत्यर्थस्य तु भिक्षणमनिमित्तम् । तस्यात्र तदाद्रियते ।

4- मनुस्मृति 4. 251. गुरु भृत्याश्चोज्जिहीर्षन्नर्चिष्यन्देवतातिथीन् ।
सर्वत: प्रतिगृह्णीयात्र तु तृप्येत्स्वयं तत: ।।

मनुस्मृति में ऐसा वर्णन है कि उत्तम विद्या को नीच से भी लेना चाहिए । चाण्डाल से भी मोक्षधर्म की शिक्षा लेनी चाहिए और नीच कुल से भी स्त्री धन को लेना चाहिए ।[1] आपत्तिकाल में अब्राह्मण से भी पढ़ने का विधान है किन्तु ऐसे गुरु की सेवा अध्ययन काल तक ही करनी चाहिए ।[2] ब्राह्मणेतर गुरु के पास ब्राह्मण शिष्य अत्यन्त वास न करे । परमगति को चाहने वाला शिष्य वेद वेदान्त की शिक्षा न देनेवाले ब्राह्मण के पास भी न रहे ।[3] मनु का मत है ब्राह्मणों के लिए नीचों को पढ़ाना यज्ञ कराना तथा उनसे दान लेना इन तीन कर्मों में नीच से प्रतिग्रह (दान) लेना निकृष्ट है । मरने पर यही परलोक में नरक का कारण होता है । अतएव जीविका निर्वाह न होवे तभी उसे नीचों से प्रतिग्रह लेना चाहिए ।[4] मनुस्मृति में ही ऐसा उल्लेख है कि आपत्ति में फँसा ब्राह्मण दान लेवे क्योंकि धर्मशास्त्रों में उल्लेख है कि पवित्र वस्तु दूषित नहीं होती । अध्यापन (आपाद से पढ़ाने से) याजन (यज्ञ करने से) अथवा निष्कृष्ट दान लेने से ब्राह्मणों को दोष नहीं होता क्योंकि ब्राह्मण अग्नि और जल के बराबर है । जैसे आकाश कीचड़ से लिप्त नहीं होता वैसे ही प्राणी प्राण जाने के भय से कहीं इधर-उधर का अन्न खा लेता है । वह प्राणी भी पाप लिप्त नहीं होता है ।[5] मनुस्मृति में ऐसे ब्राह्मणों का भी उल्लेख है जिन्होंने आपत्तिकाल में मांसभक्षण किया था । भूख से व्याकुल अजीगर्त ऋषि

1- मनुस्मृति 2. 238 श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ।।
अनु० गणेशदत्त पाठक, ठाकुर प्रसाद एण्ड संस, वाराणसी, संवत् 2031 ।

2- मनुस्मृति 2. 241 अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ।।

3- ,, 2. 242 ना ब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत् ।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम् ।।

4- ,, 10. 109 प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादपि ।
प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ।

5- ,, 10. 104 जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ।।

अनु० गणेशदत्त पाठक, ठाकुर प्रसाद एण्ड संस, वाराणसी, संवत् 2031 ।

पुत्र को मारने के लिए तैयार हो गये (यज्ञ में बलि देने को) किन्तु क्षुधा को मिटाने के लिए ऐसा करने पर भी वह पाप लिप्त नहीं हुए ।[1] धर्म-अधर्म को जाननेवाले बामदेव ऋषि प्राणों की रक्षा के लिए क्षुधा से आर्त्त होकर कुत्ते का मांस खाने की इच्छा की तो भी उस पाप से लिप्त नहीं हुए ।[2] निर्जन वन में क्षुधा पीड़ित महातपस्वी भरद्वाज ऋषि पुत्रों के सहित वृधु नामक बढ़ई से बहुत सी गायें मांगी थी ।[3] भूख से आर्त होकर धर्म-अधर्म को जाननेवाले विश्वामित्र ऋषि ने चाण्डाल के हाथ से कुत्ते का मांस लेकर खाने को तैयार हो गये ।[4]

आपत्तिकालीन ब्राह्मण की क्षात्रिय वृत्ति :

गौतमधर्मसूत्र में वर्णन है कि प्राण संकट की दशा में ब्राह्मण को क्षात्रियवृत्ति करनी चाहिए । ब्राह्मणशस्त्र धारण करे ।[5] बौधायन ने कहा है कि गौओं और ब्राह्मणों की रक्षा करने एवं वर्णसंकरता को रोकने के लिए ब्राह्मण एवं वैश्य भी आयुध ग्रहण कर सकते हैं ।[6]

1- मनुस्मृति : 10.105 अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद्बुभुक्षितः ।
न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन् ।।

2- ,, 10. 106 श्वमांसमिच्छन्नार्तोऽत्तुं धर्माधर्म विचक्षण ।
प्राणानां परिरक्षार्थं न लिप्तवान ।।

3- ,, 10. 107 भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु स पुत्रो विजने वने ।
बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह वृधोस्तक्ष्णो महातपाः ।।

4- ,, 10. 108 क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् ।
चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्म विचक्षणः ।।

5- गौतमधर्मसूत्रम 1.7.25 प्राणसंशये ब्राह्मणोपि शस्त्रमाददीत ।
मिताक्षरावृत्ति, उमेश चन्द्र पाण्डे, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1966 पृ० 69

6- बौधायनधर्मसूत्रम् 2. 2.18 अथाप्युदाहरन्ति । गवार्थे ब्राह्मणार्थे वा वर्णानां वापि संकरे ।

कौटिल्य स्वयं ब्राह्मण होते हुए भी परिस्थितिवश क्षात्र धर्म अपनाया था नन्दों से बदला लेने के लिए । कौटिल्य ने सेना में गुणावगुण की चर्चा करते हुए ब्राह्मण सेना की भी चर्चा की है और कहा है कि शत्रु प्रणिपात प्रणतभाव द्वारा ब्राह्मणों की सेना को अपने अधीन कर सकता है ।[1]

मनु का कथन है कि यदि अपने कर्म द्वारा ब्राह्मण अपना जीवन निर्वाह नहीं कर सकता तो वह क्षात्रिय कर्म को अपना सकता है ।[2] द्विज को शस्त्र ग्रहण करने के लिए मनु का उद्गार है कि दु:साहसी मनुष्यों द्वारा ब्रह्मचर्य आदि आश्रमवासियों के धर्म का अवरोध होने के कारण राज्य के अराजक हो जाने के कारण युद्ध आदि की संभावना में, आत्मरक्षा में, दक्षिणा द्रव्य (गौ आदि) के अपहरण सम्बन्धी युद्ध में तथा स्त्रियों और ब्राह्मणों की रक्षा में द्विजातियों को शस्त्र ग्रहण करना चाहिए ।[3]

याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण के आपद्कालीन कर्त्तव्यों के लिए कहा है कि ब्राह्मण अपने वर्णवृत्ति के कर्म करने में असमर्थ होने पर आपत्तिकाल में क्षात्रिय के कर्म द्वारा अथवा वैश्य के कर्म द्वारा जीवन निर्वाह करे किन्तु आपद्काल समाप्त हो जाने पर पुन: अपने वर्ण वृत्ति को अपना लेवे ।[4]

1- कौटिल्य अर्थशास्त्रम् 9 . 2 प्रणिपातेन ब्राह्मणबलं परोऽभिहारयेत् ।
गैरोला, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, 1984

2- मनुस्मृति 10 . 81 - आजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मण स्वेन कर्मणा ।
जीवे क्षात्रिय धर्मेण स ह्यस्य प्रत्यन्तर: ।।

3- मनुस्मृति 8 . 348-49 शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते ।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ।।
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च सङ्गरे ।
स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति ।।

4- याज्ञवल्क्यस्मृति : आपद्धर्मप्रकरणम् प्रायश्चिताध्यय: 34
क्षात्रेण कर्मणा जीवेद्विशां वाऽप्यापदि द्विज:
निस्तीर्य तामथाऽऽत्मानं पावयित्वा न्यसेत्पथि ।।

महाभारत से विदित होता है कि तत्कालीन समाज में ऐसे अनेक ब्राह्मण थे जो शस्त्रोपजीवी थे तथा अपने क्षात्रिय कर्म से विख्यात थे जैसे परशुराम (वे क्षात्रियों के वध के लिए 21 बार शस्त्र उठाया) कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा (जीविका के लिए क्षात्रिय वृत्ति अपनायी शल्यपर्व में वर्णन है कि राजा की आज्ञा से ब्राह्मणों को युद्ध करना चाहिए शान्ति पर्व में वर्णन है कि ब्राह्मणों को आत्मरक्षा, वर्णदोष और दुर्ग का नियमन करने के वास्ते (इन तीन समयों में) ही शस्त्र ग्रहण कर सकता है उसमें उसे दोष नहीं होता ।[2]

विष्णु पुराण में वर्णन है कि आपत्तिकाल में ब्राह्मण को क्षात्रिय या वैश्य वृत्ति का आलम्बन करना उचित है और क्षात्रिय को केवल वैश्य वृत्ति का आश्रय लेना चाहिए । इनको शूद्र वृत्ति का आश्रय लेना कदापि उचित नहीं है । जब पुन: समर्थ हो जाय तो इन उपरोक्त वृत्तियों को छोड़ दे क्योंकि ये तो केवल आपातकाल में ही अवलम्बन करने योग्य हैं अन्यथा कर्म संकरत्व की प्राप्ति होगी ।[3]

प्राचीन ऐतिहासिक काल में जब समाज में अयोग्य राजा के कारण विश्रृंखलता की स्थिति व्याप्त हुई उस समय राज्य की सुरक्षा के लिए

1- शल्यपर्व (महाभारतम्) 65. 4. राज्ञो नियोगाद् योद्धव्यं ब्राह्मणेन विशेषत:
वर्तता क्षात्रधर्मेण ह्येवं धर्मविदो विदु: ।।

2- शान्तिपर्व (महाभारतम्) 79. 33. ब्राह्मणस्त्रिषु कालेषु शस्त्रं गृह्णन्न दुष्यति
आत्मत्राणे वर्णदोषे दुर्गस्य नियमेषु च ।।

3- विष्णु पुराण 38-40 गुणास्तथापद्धर्माश्च विप्रादीनामिमान्छृणु ।।38।।
क्षात्रं कर्म द्विजस्योक्तं वैश्यं कर्म तथापदि ।
राजन्यस्य च वैश्योक्तं शूद्रकर्म न चैतयो: ।। 39 ।।
सामर्थ्ये सति तत्त्याज्यमुभाभ्यामपि पार्थिव ।
तदेवापदि कर्तव्यं न कुर्यात्कर्मसङ्करम् ।। 40 ।।

ब्राह्मण वर्ण ने राज्य भार संभाला और विदेशी आक्रमणों स भारत की रक्षा की । इस प्रकार से ऐसे कई उदाहरण ब्राह्मण सेनापति और राज्य संस्थापकों के मिलते हैं । मौर्य वंश के पश्चात हमें ऐसे अनेक तथ्य मिलते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणों ने क्षात्र धर्म अपनाना शुरु कर दिया था । अन्तिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ का सेनापति पुष्यमित्र शुंग ब्राह्मण ही था जिसने सैनिकों के सम्मुख अपने स्वामी की हत्या कर शुंग वंश की स्थापना की थी (ईसा पू० 184 ई०) । शुंगों के उपरान्त काण्वायनों ने राज्य किया जिसका संस्थापक वासुदेव नामक ब्राह्मण था, जो अन्तिम शुंग राजा का मंत्री था (ईसा पू० 72 ई०) । कदम्बों का संस्थापक मयूर शर्मा ब्राह्मण ही था । (काकुस्थवर्मा का तालगुण्ड नामक स्तम्भ लेख) । इसी प्रकार मरहठों के पेशवा ब्राह्मण ही थे जिन्होंने शस्त्र के आधार पर अपनी प्रमुखता स्थापित की थी ।

शुक्र का कथन है कि ब्राह्मण अपने जीवनयापन के लिए क्षात्रिय कर्म का अनुगमन कर सकता है ।[1] कल्हण ने ऐसे ब्राह्मण सैनिकों का उल्लेख किया है जो युद्ध भूमि में भाग लेते थे ।[2] सैनिक शास्त्र का विद्वान कल्याणराज नामक ब्राह्मण युद्ध में लड़ता हुआ मारा गया था ।[3]

हेमचन्द्र ने लिखा है कि सपालक्ष के राजा आठ्य की सेना का नेतृत्व एक ब्राह्मण ने किया था ।[4] अनेक अभि० से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण सेनानायक और सेनापति के पद को गौरवान्वित करते थे । पूर्वमध्ययुगीन चौलुक्य कल्चुरि और चन्देल जैसे राजपूत राजवंशों की सेनाओं में अनेक ब्राह्मण सेनापति के पद पर नियुक्त थे । सेम्रप्लेट से विदित होता है कि ब्राह्मण सेनापति

1- शुक्र 4. 1013. 1071.

2- राजतरंगिणी 7. 1980 द्वौ रय्यावटविजयौ द्विजो पौरोगस्त था ।
कोष्ठक: संजकारण्कश्च योद्धा युद्धे हता वयु: ।।

3- ,, ,, 8. 1071 पर व्यायामविधाविद्द्रुते निखिले बले ।
द्विज: कल्याणराजारथ: समरेभिमुखोहत: ।।

कल्हण का पुत्र अजयपाल भी सेनापति था । इच्छावर प्लेट के अनुसार चन्देल शासक परमर्दि का सेनापति मदनपाल शर्मन ब्राह्मण था ।[1] बलिपट्टन प्लेट पर उल्लखित शिलाहार शासक रतराज का सेनापति नागमैय ब्राह्मण वंश का था ।[2] इस प्रकार ऐसे अनेक क्षात्र ब्राह्मण प्राचीन काल में हुए जिन्होंने क्षात्रिय वृत्ति अपना कर अपने परिवार, देश का उत्कर्ष किया है ।

ब्राह्मण राज्य सेवा :

अनेक ब्राह्मण राज सेवा में संलग्न रहते थे । अपनी योग्यता और प्रतिभा से ऊंचे पदों को सुशोभित करते थे । कल्हण ने लिखा है कि शिवाय नामक ब्राह्मण शिवरात्री के अवसर पर राज्य के सभी विभागों का अध्यक्ष बना दिया गया था ।[3] यही नहीं ब्राह्मण मंत्री होते थे नगराधिकारी (नगर मुख्य)[4] होते थे । दण्डनायक होते थे ।[5] साथ ही मूर्तिकार[6] और अभिलेख के रचयिता भी होते थे ।[7]

1- प्राचीन भारत का इतिहास : जयशंकर मिश्रा, इण्डि० ऐति० 25, पृ० 205, पृ० 89

2- प्राचीन भारत का इतिहास : ,, इण्डि०हि०क्वा० 1941 पृ० 35

3- कल्हण राजतरंगिणी 8. 111 शिवराभुत्सवे श्लोक मर्मु शिवरथामिय: विद्वान पठस्तेन हठात्सर्वाध्यक्षोऽध्यधीयता

4- ,, 7. 108 पार्थ: परमदुर्येन्धा: स्यातो भ्रातृलभग: । निर्विचारेण यतेन नगराधिकृत: कृत: ।।

5- बाकुलस्वामी, गिरिनार अभि०

6- इपि० इ० 11. 394, 1. 31, XV 57.

7- अभि० श्लोक 373. 383.

आपाद्काल में ब्राह्मण द्वारा वैश्यवृत्ति का अनुसरण

कृषि : ब्राह्मण आपत्तिकाल में जब क्षात्रिय वृत्ति से अपना-अपना जीवन-यापन न कर सके तो उसे वैश्यवृत्ति अपनाने की छूट थी । ब्राह्मण आपत्तिकाल में वैश्य वृत्ति कर सकता था किन्तु कृषि वाणिज्य पशुपालन ब्याज पर धनादि देने के सम्बन्ध में कई नियन्त्रण थे ।

बौधायन धर्मसूत्र का कहना है कि वेदाध्ययन से कृषि का नाश होता है तथा कृषि प्रेम से वेदाध्ययन की हानि होती है । जो दोनों के लिए समर्थ हो वो दोनों को करे जो दोनों को करने में असमर्थ हो उसे कृषि त्याग देनी चाहिए।[1] बौधायन का पुन: मत है कि ब्राह्मण को प्रात:काल भोजन के पूर्व कृषि कर्म करना चाहिए उसे ऐसे बैलों को जिनकी नाक न छिदी हो जिनके अण्डकोष न निकाल लिये गये हो उनसे जोतना या बार-बार उकसाना चाहिए और तीखी चर्मभदिका से उन्हें खोदना (आघात) नहीं चाहिए ।[2] गौतम धर्मसूत्र के अनुसार यदि खेती और वाणिज्य (क्रय विक्रय) ब्राह्मण स्वयं अपने हाथों से न करके किसी दूसरे द्वारा कराये तो वह इन कर्मों को भी कर सकता है[3] ।

मनु का मत है कि यदि ब्राह्मण क्षात्रिय वृत्ति से आपात्काल में जीविका न निर्वाह कर सके तो ब्राह्मण वैश्य कर्म कृषि गोपालन व्यापार आदि कर सकता था ।[4] मनु ने आगे कृषि कर्म को ब्राह्मणों के लिए आपत्तिजनक

1- बौधायन धर्मसूत्रम् 1.5. 31 वेद: कृषि विनाशाय कृषिर्वेदविनाशिनी ।
शक्तिमानुभयं कुर्यादशक्तस्तु कृषिं त्यजेत् ।।

2- ,, ,, 2. 2. 82-83 प्राक् प्रातराशात्कर्षी स्यात् । अस्यूतनासिकाभ्यां समुष्काभ्यायतुदन्नारयामुहुर्मुहुरभ्युच्छन्दयन् ।।

3- गौतमधर्मसूत्राणि 2. 1. 5 कृषि वाणिज्ये वाऽस्वयंकृते ।
मिताक्षरा वृत्ति, उमेश चन्द्र पाण्डे, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 1966, पृ० 94 ।

4- मनुस्मृति 10. 82 उभाभ्याम् व्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेम्दवेत् ।
कृषिगोरक्षामास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ।।

बताया है । इनका मत है कि यदि आपत्तिकाल में ब्राह्मण या क्षत्रिय को वैश्य कर्म करना ही पड़े तो उन्हें कृषि नहीं करनी चाहिए क्योंकि इससे जीव-हत्या होती है और दूसरों पर (मजदूर, बैल) आधारित है ।[1] मनु ने कृषि कर्म को इसलिए भी निन्दित माना है कि लोहे के मुँहवाला काष्ठ अर्थात् हल भूमि में स्थिति जीवों को मार डालता है ।[2] पराशर ने ब्राह्मणों के आपत्तिकाल में कृषि कर्म वर्जित नहीं माना है बल्कि उन पर बहुत से प्रतिबंध लगाये हैं ।[3] वृद्धहारीत[4] ने भी कृषि कर्म सब वर्णों के लिए उचित माना है ।

आचार्य लक्ष्मीधर ने कृत्यकल्पतरु में यह विवेचन किया है कि यदि ब्राह्मण (आपत्तिकाल में) कृषि कर्म उत्पादन से अगर वह 1/6 राज्यकर देता, 1/12 भगवान के नाम पर निकाल देता था, 1/30 ब्राह्मण को दान देता था तो वह कोई पाप नहीं करता था ।[5] आचार्य शुक्र ने भी ब्राह्मणों को विशेष परिस्थिति में खेती करने का निर्देश दिया है ।[6]

1- मनुस्मृति : 10. 83 वैश्यवृत्यापि जीवस्तु ब्राह्मण: क्षत्रियोऽपि वा ।
हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ।।

2- मनुस्मृति 10. 84 कृषिं साध्विति मन्यते सा वृत्ति: सद्विगर्हिता ।
भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम् ।।

3- पराशर (2.2.4 षट्कर्म निरतो विप्र: कृषिकर्माणि कारयेत् ।
2. 12-13) हलमष्टगवं धर्म्यं षड्गवं मध्यमं स्मृतम् चतुर्गवं नृशंसानां द्विगवं वृषघातिनाम् ।। 2.2. 4
ब्राह्मणस्तु कृषिं कृत्वा महादोषमवाप्नुयात् । राज्ञे दत्वा तु षड्भागं देवानां चैकविंशकम् । विप्राणां त्रिंशकं भागं कृषिकर्ता न लिप्यते । 2. 12-13

4- वृद्धहारीत 7. 179 कृषिस्तु सर्ववर्णानां सामन्यो धर्म उच्यते ।।

5- लक्ष्मीधर कृत्य कल्पतरु गृहस्थकाण्ड, पृ० 194-195 ।

6- शुक्रनीति 4. 3.19 ।

व्यापार : आपत्तिकाल में ब्राह्मण व्यापार और वाणिज्य भी कर सकता था किन्तु धर्मशास्त्रकारों ने ब्राह्मण द्वारा व्यापार विनिमय की वस्तुओं पर बहुत से प्रतिबन्ध लगाये थे । गौतम धर्मसूत्र में वर्णन ह कि आपत्तिकाल में वैश्य वृत्ति से जीवन निर्वाह करनेवाले ब्राह्मण को आगे की निर्दिष्ट वस्तुएं नहीं बेंचनी चाहिए, जैसे गंध (चन्दनादि) रस (तेल, घी, नमक, गुड़) बना हुआ भोजन, तिल सन से बने पदार्थ, रेशमी वस्त्र मृग-चर्म चटाई आदि अविक्रेय होती है । लाक्षा आदि रंगों से रंगे हुए धोबी द्वारा धोये गये वस्त्र, वैश्यवृत्तिवाला ब्राह्मण न बेंचें । दही घी (विकार के साथ) दूध, मूल (अदरख हल्दी) फल, फूल, औषधि, मांस , तृण, जल और विष आदि अपथ्य पदार्थ, हिंसा के लिए पशु, दास-दासी, गाय, बछिया , गर्भ गिरा देनेवाली गाय, बकरी, साढ़, ब्यायी गाय, भूमिधन, घोड़ा आदि का कभी भी विक्रय न करे ।[1] पुन: वर्णन है कि ब्राह्मण अविक्रेय पदार्थों का विनिमय पदार्थों से कर सकता है जैसे - रस (तिल, तेल) का विनिमय रस से । पशु का विनिमय पशु से व्याज पर धन देने का कार्य भी ब्राह्मण दूसरों द्वारा करा सकता है।[2] गौतम धर्म सूत्र का समर्थन करते हुए आपस्तम्ब धर्मसूत्र में वर्णन है कि ब्राह्मण के लिए वाणिज्य विहित नहीं है आपत्ति के समय वह उन्हीं वस्तुओं का व्यापार कर सकता है जिनका क्रय-विक्रय करना विहित हो, किन्तु जिन वस्तुओं का क्रय विक्रय अविहित हो उसका व्यापार कदापि न करे (जिन अविहित पदार्थों की सूची गौतम धर्म सूत्र में है पुन: उसी का समर्थन आपस्तम्ब ने भी किया है कि उन पदार्थों को नहीं

1- गौतम धर्मसूत्राणि 1. 7. 8-15 तस्यापण्यम् । गन्धरसकृतान्नतिलशाणक्षौमा-
जिनानि । रक्तनिर्णिक्ते वाससी । क्षीरं सविकारम् ।
मूलफलपुष्पौषधमधु मांसतृणोदकापथ्यानि । पशवश्च हिंससंयोगे ।
पुरुषवशाकुमारीवेहतश्च नित्यम् भूमि व्रीहियवा जाव्यश्वऋषभ-
धेन्वनडुहश्चैके ।

मिताक्षर वृत्ति - उमेश चन्द्र पाण्डे, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 1966, पृ० 65-67 ।

2- गौतम धर्मसूत्राणि 1. 7. 16-18 नियमस्तु , रसानां रसैः । पशूनांच ।।
पृ० 67, 1 2. 1. 6 कुसीदं च ।

बेंचना चाहिए ।[1] पुन: इन्होंने भी अन्न से अन्न मनुष्यों से मनुष्यों रसों से रसो, गंधों से गंधों तथा विद्या से विद्या के विनिमय का नियम बताया है ।[2] इसमें आगे वर्णन है कि अपने योग्य जीवनवृत्ति सुलभ होते ही इस प्रकार के व्यापार का परित्याग कर दे ।[3]

इसी प्रकार से मनु का भी मत है आपत्तिकाल में मांस लाख और नमक बेंचनेवाला ब्राह्मण पतित होता है तथा दूध बेंचने से 3 दिन में शूद्र तथा शास्त्र वर्जित अन्य पदार्थों को बेंचने से ब्राह्मण 7 रात्रि में वैश्यत्व को प्राप्त कर लेता है ।[4]

आपत्तिकाल में जीविका के साधन के लिए मनु ने 10 उपक्रम बताये हैं - विद्या, कलायें, शिल्प, पारिश्रमिक पर कार्य, नौकरी, पशुपालन, वस्तु-विक्रय , भिक्षा एवं कृषि कुसीद (व्याज पर धन देना) ।[5]

1- आपस्तम्ब धर्मसूत्रम् - 7. 20. 10-13 अविहिता ब्राह्मणस्य वाणिज्या । आपदि व्यवहरेत् पण्यानामपण्यानि व्युदस्यन् । अपव्यान्याह मनुष्यान् रसान् रागान् गन्धान्न चर्म गवां वशां श्लेष्मोदके तोमकिण्वे पिप्पलीमरीचेधान्यं मांसमायुध सुकृताशां च । तिलतण्डुलास्त्वेव धान्यस्य विशेषण न विक्रीणीयात् ।

2- ,, - 7. 20. 15 अन्नेन चाऽन्नस्य मनुष्याणां च मनुष्यैं रसानां च रसैर्गन्धा नां च गन्धैर्विधया च विद्यानाम् ।

3- ,, - 7. 21. 4 वृत्तिं प्राप्य विरमेत् ।

4- मनुस्मृति - 10. 92-93- सद्य: पतति मांसेन लाक्षाया लवणेन च ।
त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मण: क्षीरविक्रयात् ।।
इतरेषां तु पण्यानां विक्रियादिह कामत: ।
ब्राह्मण: सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति ।।

5- मनुस्मृति - 10. 116 विद्या शिल्पं भृति: सेवा गोरक्ष्यं विपणि: कृषि:
धृतिर्भैक्ष्य कुसीदं च दस जीवन हेतव: ।।

इसी प्रकार के विचार याज्ञवल्क्य के भी हैं - सोम, पंक, बकरी, ऊन, कंबल, चमरी हिरन के बाल, खली आदि निर्दिष्ट वस्तुओं को जोड़ा है ।[1] याज्ञवल्क्य ने भी मनु की तरह आपद्काल में ब्राह्मणों के जीवन रक्षा के लिए कृषि, शिल्प, गाड़ी हांकना, व्यापार, कुसीद, नृप सेवा तथा भिक्षावृत्ति अपनाने की राय दी है ।[2]

इसी प्रकार से महाभारत के शान्तिपर्व के (प्रथम भाग) राज धर्म पर्व में वर्णन है कि वैश्य धर्म का पालन करनेवाले ब्राह्मण को सुरा, लवण, तिल, घोड़े, गऊ, भैंस, पशु, बैल, मधु, मांस और पक्कवान आदि सब वस्तुओं को किसी भी अवस्था में ब्राह्मण न बेचें क्योंकि इन्हें बेचनें से ब्राह्मण नरकगामी होता है ।[3] इसी में आगे कहा गया है कि बकरा अग्निरूप, भेड़ वरुणरूप घोड़ा सूर्य रूप, पृथ्वी विराट् रूप और गौ यज्ञ तथा सोमरूप है इस कारण इनका विक्रय नहीं करना चाहिए ।[4]

1- याज्ञवल्क्य स्मृति : आपद्धर्मप्रकरणम् 2. 36.- 38.

फलोपलक्षौमसोममनुष्यापूपवीरुधः ।
तिलौदनरसक्षारान्दधि क्षीरं घृतं जलम् ।। 36 ।।

शस्त्रासवमधूच्छिष्टं मधु लाक्षा च बर्हिषः ।
मृच्चर्मपुष्पकुतपकेशतक्रविषक्षितीः ।। 37 ।।

कौशेयनीललवणमांसैकशफसीसकान् ।
शाकार्द्रौषधिपिण्याकपशुगन्धांस्तथैव च ।। 38 ।।

वैश्यवृत्यापि जीवन्नो विक्रीणीत कदाचन ।

2- ,, 2. 4.2. कृषिः शिल्पं भृतिर्विद्या कुसीदं शकटं गिरिः ।
सेवानूपं नृपो भैक्षमापत्तौ जीवनानि तु ।।

3- महाभारत शांतिपर्व । भाग, राजधर्म पर्व, 79. 4-5.

सुरालवणमित्येव तिलान्केसरिणः पशून् ।
ऋषभान्मधु मांसं च कृतान्नं च युधिष्ठिर ।।4।।

सर्वास्ववस्थास्वेतानि ब्राह्मणः परिवर्जयेत् ।
एतेषां विक्रयात्तात ब्राह्मणो नरकं व्रजेत ।। 5 ।।

अल्बरुनी का मत है कि व्यापार की अनुज्ञा ब्राह्मणों की विकटतम स्थिति में थी जब उसके पास जीविका का कोई और साधन नहीं बच सकता था ।[1] उनके अनुसार ब्राह्मण कपड़े, सुपारियों के व्यापार में भाग्य आजमा सकता था । उत्तम यह था कि वह इस कार्य के लिए वैश्य रखे जो स्वयं व्यापार न करता हो क्योंकि व्यापार में झूठ और धोखा रहता है जो उसके लिए वर्जित था । गाय घोड़े आदि पशुओं का व्यापार करना उसके लिए निषिध था किन्तु नवीं सदी के पेहोआ अभिलेख से ज्ञात होता है कि भट्ट विरुक का पुत्र वायुक घोड़े के व्यापारियों में से था । प्राय: व्याज का कर्म ब्राह्मणों के लिए वर्जित था । अल्बरुनी लिखता है कि ब्राह्मणों को व्याज से लाभ उठाने की आज्ञा नहीं थी ।[2]

लक्ष्मीधर के अनुसार आपत्तिकाल में ब्राह्मण द्रव्य का लेन-देन कर सकता था ।[3]

संस्कृत साहित्य में विभिन्न स्थलों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण चारुदत्त को एक सुसंपन्न व्यापारी होने का अवसर मिला था अतएव नाटककार ने उसे द्विज सार्थवाह की संज्ञा दी थी ।[4]

राबर्ट लिंगट का मत - विपत्ति के समय उच्च वर्ण के व्यक्तियों को निम्न वर्ण के कार्यों को ही करने की अनुमति थी । निम्न वर्ण के व्यक्ति उच्च वर्णों का कार्य नहीं कर सकते थे । विपत्ति के समय ब्राह्मण क्षत्रियों या वैश्यों के धर्म ग्रहण कर सकता था तथा ब्राह्मण व्यापार और वाणिज्य भी कर सकता था किन्तु उसे कुछ निर्दिष्ट वस्तुएं ही बेंचने की अनुमति थी ।[5]

1-(अल्बरुनी) ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 105 । जय शंकर मिश्र

2-(अल्बरुनी) ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 115 । जय शंकर मिश्र

3- लक्ष्मीधर कृत्य कल्पतरु गृहस्थकाण्ड, पृ० 214 - 21 ।

4- शूद्रक मृच्छकटिकम् (एक सामाजिक अनुशीलन) हिन्दुस्तानी, 1965, पृ० 267 ।

5- राबर्ट लिंगट - द क्लासिकल ला आँव इण्डिया, पृ० 39 ।

जे० डी० एम० डेरिट का मत है कि गौतम आदि धर्मसूत्रों में वर्णन है कि ब्राह्मण पुरोहित का कार्य करता था किन्तु आपत्तिकाल में ब्राह्मण दूसरे कार्यों द्वारा भी जीविका का प्रबन्ध कर सकता था । ब्राह्मण के प्रमुख कार्य उपहार ग्रहण करना (धनिक वर्ग का जिसे सत् प्रतिग्रह कहते थे) वेदों का अध्ययन अध्यापन, लोगों के यज्ञों का संपादन करनाथा। अन्य स्थानों पर अच्छे धन और खराब धनों का भी वर्णन है । विविध प्रकार के धर्म ग्रंथ इस विषय पर मौन है कि धन का उपयोग वह किस प्रकार करता था ।[1]

आपत्तिकालीन ब्राह्मण की शूद्रवृत्ति :

जब ब्राह्मण किसी भी वृत्ति द्वारा अपनी जीविका आपत्तिकाल में न चला सके या करने में असमर्थ हो तो वह उसे कठिन विपत्ति के स्थिति में जीवन रक्षा के लिए शूद्र वृत्ति अपनानें की छूट थी ।

गौतम धर्मसूत्र में लिखा है कि कुछ आचार्य प्राण संकट की दशा में शूद्रवृत्ति को ब्राह्मण के लिए विहित करते हैं ।[2] इसमें यह वर्णन भी प्राप्त होता है कि यदि किसी अन्य प्रकार से वृत्ति न चले तो शूद्र से जीवन निर्वाह की वस्तुएं ली जा सकती हैं ।[3] दैनिक जीवन से संबंधित रहनेवाले शूद्र के घर भोजन भी किया जा सकता था जैसे - नाई, चरवाहा, कुल परंपरा के मित्र, हलवाहा, परिचारक आदि[4] ।

1- जे०डी०एम०डेरिट - रिलिजन ला एण्ड द स्टेट इन इण्डिया, फेवर एण्ड फेवर रसल स्क्वेयर, लन्दन, 1968, पृ० 125-126 ।

2- गौतमधर्मसूत्राणि 1. 7. 23 तदुप्येके प्राणशंसये ।
मिताक्षर वृत्ति - उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़,वाराणसी, 1966 पृ० 68

3- ,, ,, 2. 8. 5 वृत्तिश्चेन्नान्तरेण शूद्रम् (2) पृ० 180

4- ,, ,, 2. 8. 6 पशु पाल क्षेत्र कर्षक कुलसंगत कारयितृपरिचारका भोज्यन्ना: । पृ० 180

मनु ने भी इसे माना है[1]।

मनुस्मृति में भी वर्णित है कि ब्राह्मण के लिए दान से, अध्यापन से और यज्ञ से - इन तीन कर्मों से प्रतिग्रह लेना निकृष्ट है। मरने पर यही परलोक में नरक का कारण बनता है। अतएव जीविका निर्वाह न हो सके तभी उसे नीचों से प्रतिग्रह लेना चाहिए।[2]

याज्ञवल्क्य स्मृति में यह उल्लेख मिलता है कि जब ब्राह्मण किसी भी वृत्ति से अपना जीवन निर्वाह न कर सके तो वह चौर कर्म अपना सकता है।[3]

महाभारत में भी ब्राह्मण के कर्मों की विवेचना की गयी है इसमें कहा गया है ब्राह्मणों के बीच जो जन्मोचित कर्म से हीन हो, महानीच कर्म करनेवाले और ब्राह्मणत्व से भ्रष्ट ब्राह्मण को शूद्र समझना चाहिए।[4] इस प्रकार से स्वधर्म और आपद्धर्म के कारण ब्राह्मणों के कई प्रकार हो गये लगता है। आर्थिक परिस्थितियों के कारण ब्राह्मणों ने विभिन्न कर्म अपना लिया था। महाभारत में इनकी विभिन्न श्रेणियाँ बतायी गयी हैं जैसे - ब्रह्मसम,[5] देवसम,[6] क्षात्रसम,[7] वैश्यसम,[8] शूद्रसम[9] और चाण्डालसम[10] ब्राह्मण।

1- मनुस्मृति 4.253 पशुपाल क्षेत्र कर्षक कुलसंगत कारयितृपरिचारका भोज्यान्ना: का समर्थन।

2- ,, 10.109 प्रतिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादि ।
प्रतिग्रह प्रत्यवर: प्रेत्य विप्रस्य गर्हित: ।।

3- याज्ञवल्क्यस्मृति:, प्रायश्चित्ताध्याये, आपद्धर्मप्रकरणम् 2.43
क्षुधितस्त्र्यहं स्थित्वा धान्यमब्राह्मणाद्धरेत्
प्रतिगृह्स्य तदाख्येयमभियुक्तेन् धर्मत: ।।

4- महाभारत, शान्तिपर्व, राजधर्म पर्व 77.6
जन्म कर्म विहिना ये कदर्या ब्रह्मबन्धव: ।
एते शूद्रसमा राज-ब्राह्मणानां भवन्त्युत ।।

5- महाभारत शान्तिपर्व, राजधर्म पर्व 77.2
विद्या लक्षण संपन्ना: सर्वत्राम्नायदर्शिन: ।
एते ब्रह्मसमा राजन्ब्राह्मणा: परिकीर्तिता: ।।

6- ,, ,, ,, 77.3
ऋत्विगाचार्यसंपन्ना: स्वेषु कर्मस्ववस्थिता: ।
एते देवसमा राजन्ब्राह्मणानां भवन्त्युत ।।

7- ,, ,, ,, 77.4
ऋत्विक्पुरोहितो मन्त्री दूतोऽथार्थानुशासक: ।
एते क्षात्रसमा राजन्ब्राह्मणानां भवन्त्युत ।।

क्षत्रिय वर्ण

ब्राह्मण वर्ण के पश्चात् हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में दूसरा वर्ण क्षत्रियों का था । क्षत्रियों का प्रधान कर्म वेदाध्ययन, दान देना, यज्ञ करना, प्रजा रक्षण और विषयों में आसक्त न होना था । मनुस्मृति में क्षत्रियों के 5 कर्म निश्चित किये गये है । सामान्य दशा में क्षत्रियों को प्रजा की रक्षा करना, दान, यज्ञ करना, पढ़ना और विषयों में (गीत नृत्यादि में) आसक्ति न होना है ।[1] मनु के इस मत को धर्मसूत्रों स्मृतियों और महाकाव्यों को भी मान्य है ।

आपद्धिकाल में क्षत्रियों के कर्म :

क्षत्रियों के लिए हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने यह व्यवस्था दी थी कि संकट काल में वे अपने से नीचे वर्ण के कर्म अपना सकते थे । कभी-कभी ऐसा होता था कि व्यक्ति अपने वर्ण के कर्म करने में असमर्थ हो जाता था । उसके समक्ष जीवन मरण का प्रश्न उठता था ऐसे असमय के लिए उसे धर्मशास्त्रकारों ने यह छूट दी थी कि वह दूसरे वर्ण के कर्म द्वारा अपना जीवन सुरक्षित कर सके ।

आपत्काल में क्षत्रियों के वर्जित कर्म :

ब्राह्मणों के कुछ कार्य क्षत्रियों के आपत्काल के लिए वर्जित थे । मनु का मत है कि ब्राह्मणों के कर्मों में से क्षत्रियों के लिए ये कर्म अविहित है जैसे पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना ।[2] मनु का मत था कि आपत्ति में फंसा

पीछे से - 8
महाभारत शान्तिपर्व राजधर्म पर्व 77 . 5
अश्वारोहा गजारोहा रथिनोऽथ पदातय: ।
एते वैश्यसमा राजन्ब्राह्मणानां भवन्त्युत ।

9- ,, ,, 77 . 6 शूद्रसम ब्राह्मण का पूर्व वर्णन है
10- ,, ,, 77 . 8 आह्वायका देवलका नक्षत्रग्रामयाजका ।
एते ब्राह्मणचाण्डाला महापथिकपञ्चमा: ।।
1- मनुस्मृति: 1. 89 प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासत: ।।
2- ,, 10.77 त्रयोधर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति ।
अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रह: ।।

हुआ क्षत्रिय अपनी जीविका का प्रयत्न करे किन्तु कभी भी ब्राह्मण वृत्ति का आलम्बन न ले ।[1]

आपत्तिकाल में क्षत्रिय की वैश्यवृत्ति :

हिन्दू धर्मशास्त्रकारों आपत्तिकाल में केवल यह छूट दी थी कि व्यक्ति अपने से नीचे के वर्ण का ही कर्म करे । उच्च वर्ण के कर्म करने का विधान नहीं प्राप्त होता है । अत: इस अवस्था में क्षत्रियों को वैश्य कर्म करने की अनुमति थी ।

कृषि :

गौतमधर्मसूत्र के अनुसार क्षत्रिय प्राण संकट के समय जीविकोपार्जन के निमित्त वैश्य कर्म अपना सकता था ।[2] इसी प्रकार का मत बौधायनधर्मसूत्र का भी है ।[3] मनु ने भी आपद्ग्रस्त क्षत्रिय को वैश्यवृत्ति अपनाने की सलाह दी है किन्तु कृषिकर्म उसके लिए वर्जित माना है ।[4] मनु के अनुसार वैश्यवृत्ति से जीता हुआ ब्राह्मण या क्षत्रिय हिंसावाली पराधीन कृषि को यत्न से त्याग दे क्योंकि कृषि के औजारों से भूमि और भूमि में रहनेवाले जीवों का नाश होता है ।

मध्यकालीन विद्वान लक्ष्मीधर ने आपत्तिकाल में क्षत्रियों को कृषि कर्म करने का विधान किया है ।[5] राजा भोज के समकालीन क्षत्रिय पुत्र मेमाक का कृषि कर्म करते हुए उल्लेख हुआ है ।[6]

1- मनुस्मृति: 10.95 जीवदेतेन राजन्य: सर्वेणाप्यनयं गत: ।
न त्वेव ज्यायसी वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित् ।।

2- गौतमधर्मसूत्राणि 1. 7. 26 राजन्यो वैश्यकर्म: ।
प्राणसंशये राजन्यो कर्माऽऽददीत तोनाऽऽत्मानं रक्षेत्।
मिताक्षर वृत्ति डा0 उमेश चन्द्र पाण्डे, चौखम्बा संस्कृत सीरीज,वाराणसी, 1966, पृ0 69 ।

3- बौधायन धर्मसूत्राणि 2. 2. 19 वैश्यवृत्तिरनुष्ठेया प्रत्यनन्तरत्वात् ।।

4- मनुस्मृति: 10. 83 वैश्यवृत्यापि जीवंस्तु ब्राह्मण: क्षत्रियोऽपिवा ।
हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत् ।।

5- लक्ष्मीधर, कृत्यकल्पतरु, दानकाण्ड, पृ0 37.

6- डा0 जयशंकर मिश्र, भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 96 ।

व्यापार :

मनु का मत है कि संकट की स्थिति में वह व्यापार और वाणिज्य भी कर सकता था । व्यापार करते समय वह सभी प्रकार के रस, तिल, नमक, पत्थर, पशु और मनुष्य का क्रय विक्रय करना त्याग सकता था ।[1] दूध मधु, विष, माँस का व्यापार करना भी उसके लिए निषिद्ध था ।[2] मनु के अनुसार शीशा, लोहा, तैजस पदार्थों का व्यापार भी नहीं करना चाहिए । मनु के अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय कभी भी सूद के लिए धन न दे[3] किन्तु धर्म कार्य के लिए यदि पापी भी चाहे तो थोड़े ब्याज पर धन देदें । उनके लिए यह व्यवस्था थी कि वे शिल्प, कृषि, वाणिज्य, कुसीद आदि के कार्य कर सके ।

विष्णु पुराण में वर्णन है कि आपत्तिकाल में क्षत्रिय केवल वैश्यवृत्ति का आश्रय लेना चाहिए । इनको शूद्र वृत्ति का आश्रय लेना कदापि उचित नहीं है ।[4]

आपत्तिकाल में क्षत्रियों की शूद्रवृत्ति :

आपत्तिकाल में क्षत्रियों द्वारा शूद्रवृत्ति का उदाहरण यत्र तत्र प्राप्त होता है । रामायण में वर्णन है आपत्तिकाल में रामचन्द्र जी वन गमन के समय सबरी के जूठे बैर खाये थे तथा सीता और लक्ष्मण सहित निषाद राजा गुहा का आतिथ्य स्वीकार किया था जबकि निषाद जन्मत:

1- मनुस्मृति: 10. 86 सर्वान् रसानपोहेत कृतान्नं च तिलै: सह ।
अश्मनो लवणं चैव पशवो ये च मानुषा: ।।

2- ,, 10. 88 अप: शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धाश्च सर्वश: ।
क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान ।

3- ,, 10. 117 ब्राह्मण: क्षत्रियोवाऽपि वृद्धिं नैवं प्रयोजयेत् ।
कामं तु खलु धर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽल्पिकाम् ।।

4- विष्णु पुराण 39. राजन्यस्य च वैश्योक्तं शूद्रकर्म न चैतयो: ।

शूद्र जाति से संबंधित था ।[1]

इसी प्रकार से विष्णु वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में आख्यात है कि गोवध के कारण नृप पुत्र पृषध शूद्रता को प्राप्त हुआ था ।[2] विष्णु पुराण[3] के अनुसार राजा त्रिशंकु नीच कर्म के कारण चाण्डलत्व को प्राप्त हुए थे ।

जे० डी० एम० डेरिट का मत है कि परशुराम की कथा में ऐसा वर्णन प्राप्त होता है कि उन्होंने कई बार क्षत्रियों का विनाश किया किन्तु ऐतिहासिक काल में जब भारत में मुगलों का आगमन हुआ तो इस वर्ण में परिवर्तन परिलक्षित होता है । इस समय क्षत्रिय वर्ण प्रशासकीय कार्यों के करनेवाले परिवारों, योद्धाओं, सेनापतियों, राजपुत्रों (राजपूतो) के मिले-जुले वर्ण का प्रतिनिधित्व करता था ।[4]

जी० एच० मीज का मत :

विदेशी जातियों में जो लोग राज परिवारों और ऊँचे पदों से सम्बद्ध थे उनका तो समाज में ऊँचा स्थान था और जो साधारण वर्ग से सम्बद्ध थे उनका निम्न स्थान था । विदेशी जातियों के राज परिवारों का वर्ग क्षत्रिय वर्ग के निकट आया चूंकि दोनों का धर्म युद्ध और शासन करना था इसलिए दानों मे समीपता स्वाभाविक थी ।

1- रामायण वाल्मीकीय - अरण्यकाण्ड - 74. 12
अयोध्या काण्ड- 5. 40

2- विष्णु पुराण 4. 1. 17 पृषध्रस्तु मनुपुत्रों गुरुगोवधाच्छूद्रत्वमगमत ।
पृषध्रो हिंसायित्वा तु गुरोर्गां निशि तत्क्षये ।।

ब्रह्माण्ड पुराण 3. 61.2 शापाच्छूद्रत्वमापन्नश्च्यवनस्य महात्मन: ।

मत्स्य पुराण 12. 25 पृषध्रो गोवधाच्छूद्रो गुरुशापादजायत ।

3- विष्णु पुराण 4. 3. 21-22 योऽसो त्रिशंकुसंज्ञामवाप ।
स चाण्डालतामुपागतश्च ।

दृष्टव्य एस०एन०राय - पौराणिक धर्म एवं समाज - पृ० 157-158 ।

4- जे०डी०एम०डेरिट - रिलिजन ला एण्ड स्टेट इन इण्डिया, पृ० 172 ।
फेबर एण्ड फेबर, रसलस्क्वेयर, लन्दन, 1968 ।

कालान्तर में यही वर्ग राजपूत कहलाया । इस प्रकार विदेशी जातियों का आर्यीकरण हुआ और वे हिन्दू धर्म के अन्तर्गत क्षत्रिय वर्ण में समाहित हो गये ।[1]

वैश्य वर्ण

सामान्य दशा में वैश्यों का कर्म पशुओं की रक्षा करना दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, रोजगार करना, सूद पर रुपया देना और कृषि करना ये वैश्यों का कर्म है ।[2]

आपातकालीन वैश्य कर्म :

ब्राह्मण और क्षत्रियों की भांति वैश्य को भी आपत्तिकाल में दूसरे कर्म अपनाने का निर्देश दिया गया था । युद्ध कर्म और सैनिक वृत्ति प्रधानत: क्षत्रियों का कर्म था किन्तु बौ० ध० सूत्र में यह व्यवस्था दी गयी थी कि गौ, ब्राह्मण और वर्ण संकरता की रक्षा के लिए ब्राह्मण और वैश्य भी शस्त्र ग्रहण कर सकता है ।[3] महाभारत में भी यह विधान किया गया है कि जब डाकू लोग धर्म मर्यादा का उल्लंघन करके स्वेच्छाचारी हुए हो और जातिनाश वर्णसंकर करने में प्रवृत्त होंगे । उस समय सब वर्ण की शास्त्र ग्रहण कर ऐसी दशा को रोके तो वे दोषयुक्त नहीं होंगे ।[4]

1- जी० एच० मीज : धर्म एण्ड सोसायटी, पृ० 84, ग्रेटरसल, लन्दन, 1965 ।

2- मनुस्मृति 1.90 पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वाणिज्यं च कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ।।

3- बौ०ध०सूत्र 2. 2. 18 गवार्थे ब्राह्मणार्थे वा वर्णानां वापि संकरे गृह्णीयाता ।
विप्र विशौ शास्त्रधर्म व्यपेक्षया ।।

4- महाभारत शान्तिपर्व राजधर्म पर्व 79 . 18
उन्मर्यादे प्रवृत्ते तु दस्युभि: संकरे कृते
सर्वे वर्णा न दुष्येयु: शस्त्रवन्तो युधिष्ठिर ।

आपत्तिकाल में वैश्य द्वारा शूद्रवृत्ति :

गौतम धर्मसूत्र में वर्णन है कि प्राण संकट की दशा में द्विज शूद्र के कर्म अपनावे ।[1] बौधायन धर्मसूत्र में वर्णन है कि वैश्य कुसीद का कर्म करे ।[2] मनु का मत था कि प्राण संकट की दशा में अपने धर्म से जीवन निर्वाह नहीं कर सकनेवाला वैश्य निषिद्ध कर्मों का त्याग करता हुआ अर्थात् द्विजो की सेवा में ~~(जूठा आदि नहीं खाता हुआ)~~ शूद्रवृत्ति (द्विज सेवा) से जीविका करे और समर्थ होकर अर्थात् आपत्तिकाल के दूर होने पर शूद्र वृत्ति से निवृत्त हो जाये ।[3]

वैश्य के आपद्धर्म पर मेधातिथि का भाष्य है कि वह शूद्रों की तरह पैर प्रक्षालन करता था, जूठा खाता था तथा अन्य निम्न कार्य सम्पन्न कर सकता था किन्तु जब उसकी संकट की स्थिति समाप्त हो जाती थी तो वह इन कर्मों को त्याग देता था । प्राय: ब्राह्मणों के लिए यह कर्म उचित नहीं था साधारणत: ये समस्त कार्य यथास्थिति होने पर त्याग दिये जाते थे ।[4]

1- गौतमधर्मसूत्राणि 7. 23 तदप्येके प्राणसंशये: ।।

एके त्वाचार्या: प्राणसंशये सति तदपि शौद्रकर्माप्यनुमन्यते ।

उमेश चन्द्र पाण्डे, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 1966 ।

2- बौधायन ,, 1.5. 22 वैश्य: कुसीदयुपजीवेत् ।

3- मनुस्मृति: 10. 98 वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्यापि वर्तयेत ।

आनचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान् ।।

4- (मनु पर) मेधातिथिभाष्य (10. 98) स्वधर्मेणा जीवतो वैश्यस्य शूद्रवृत्तिरनुज्ञायते पाद-धाव नादिशु श्रूणया अनाचरन्न-कार्याणि उच्छिष्टापमार्जनायकार्य तत्परिहर्तर्थ शक्ति-मान्नि वर्तेत सर्वशिणा । ...... इति तदुक्तन त्वस्यायमर्थो ब्राह्मणस्य शूद्रवृत्तिरनुज्ञायते सामर्थ्यादिति किं तर्हि निवर्तित च शक्तिमानिति यदस्माभिसर्के सर्वशेष इति ।

मनु पर कुल्लूक ने टिप्पणी करते हुए कहा है कि वैश्य द्विजाति की शुश्रुषा और उच्छिष्ट भोजन ग्रहण करने जैसे निम्न कार्य केवल तभी तक कर सकता था जब तक वह संकट ग्रस्त रहता था , अपनी स्थिति सुदृढ़ हो जाने पर वह इन कर्मों का परित्याग करके प्रायश्चित करता था ।[1] सामान्यतया वह ब्राह्मण क्षत्रिय वर्णों की विभिन्न प्रकार से सेवा करता था तथा उनके उच्छिष्ट भोजन पर अपनी जीविका चलाता था ।

धूर्ये का मत है कि -" 12वीं सदी के आरंभ में वैश्यों ने कृषि कर्म छोड़ दिया । उनका मुख्य कार्य व्यवसाय ही रह गया । इसका मुख्य कारण वैश्यों पर जैन और बौद्धधर्म की शिक्षाओं का अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ा । उनके अहिंसा सिद्धान्त ने वैश्यों को उनके कार्यों से विरत किया जहां हिंसा की अधिक संभावनाएं थी ; कृषि कर्म उनमें प्रमुख था और अन्ततोगत्वा यह वैश्यों से छूट गया । कालान्तर में वैश्य और शूद्र में अधिक अन्तर नहीं रह गया वैश्य निश्चित रूप से शूद्र की स्थिति तक पहुंच गये ।"[2]

अल्बरूनी का मत है कि अनवरत मुस्लिम आक्रमण के फलस्वरूप समस्त हिन्दू समाज में विषमता और अव्यवस्था व्याप्त हो गयी जो सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण से बड़ी भयावह थी । अपने पूर्व निर्धारित कर्मों से उच्च वर्ण को लोग धीरे-धीरे च्युत होने लगे और शूद्र वर्ण के निकट पहुंच गये । स्वयं अल्बरूनी वैश्य और शूद्र में कोई अन्तर नहीं पाता । वह इन दोनों वर्णों के विषय में लिखता है पिछले दो वर्णों में कोई अन्तर नहीं यद्यपि ये वर्ण एक दूसरे से विपरीत हैं तथापि एक ही घर मुहल्लों में एक साथ रहते हुए उसी गांव व नगर में निवास करते हैं ।[3]

1- कुल्लूक (मनु० 10.98) वैश्य: स्ववृत्या जीवितमशक्नुवन् शूद्र वृत्यापि द्विजाति शुश्रूषा योच्छिष्ट भोजनादिन्य कुर्वन्यर्तेत निस्तीर्ण कार्याणि उच्छिष्ट-भक्षणा दीनि । निवर्तेत शूद्रवृत्ते शक्तिमान लब्धस्ववृत्तिश्चेव लब्धवृत्यो-र्पिप्रदा निवृत्ति: प्रायश्चितपूर्विका शक्तिमानित्यकेनसूचिता ।

2- धूर्ये - कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, पृ० 57,64,88,96 ।

3-(अल्बरूनी) - ग्यारहवीं सदी का भारत , पृ० 116 ।
दृष्टव्य - जयशंकर मिश्र,

पूर्व मध्ययुग में उनका महत्व घट गया और वे शूद्र स्तर तक आ गये यह बात मानी जा सकती है । प्राचीनकाल से 11वीं सदी तक वैश्यों को कई विभिन्न अवस्थाओं में अग्रसर होना पड़ा । इस प्रक्रिया में उसे कई स्थितियों को भी देखना पड़ा । अध्ययन मनन का कार्य तो उससे बहुत पहले ही छूट गया था, अब वह पूर्णरूपेण कृषि कर्म और वाणिज्य में संलग्न हो गया ।

वैश्य लोग जब कृषि कर्म से विमुख होने लगे तथा अपनी रुचि प्रधानत: व्यापार और वाणिज्य में लगाने लगे तब शूद्र वर्ण ने कृषि कर्म ग्रहण कर लिया ।[1] यद्यपि पुराणों के अनुसार शूद्र का प्रधान कार्य सेवावृत्ति था ।[1]

शूद्र वर्ण

शूद्रों का कर्म उच्च वर्णों की सेवा करना था । वह पूर्ण रूपेण द्विजो की दया पर निर्भर रहता था । गौतमधर्मसूत्र में वर्णन है कि शूद्र अपने से उच्च वर्णों की सेवा करे । उन्हीं से जीविका निर्वाह की इच्छा रखे । उन वर्णों में भी यथासंभव पहले वर्ण की सेवा करे अर्थात् ब्राह्मण की सेवा करे । ऐसा संभव न होने पर क्षत्रिय और फिर वैश्य की सेवा करे । द्विजों द्वारा दिये गये पुराने छाते जूते वस्त्र और चटाई आदि का उपयोग करे । द्विजातियों का जूठा अन्न खाये, शिल्प कर्म द्वारा भी जीविका निर्वाह करे । जिस व्यक्ति की शूद्र सेवा करता हो वह उस (शूद्र) के दुर्बल या असमर्थ होने पर भी उसका भरण पोषण करे । वह शूद्र भी स्वामी के वृत्तिहीन या क्षीण होने पर उस स्वामी की सेवा करता रहे ।[2]

1- डा० जयशंकर मिश्र : भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार ग्रंथ हिन्दी अकादमी, पटना, 1974, पृ० 65-67 ।

2- गौतमधर्मसूत्राणि 2. 1 57-64 परिचर्या चोत्तरेषाम् । तेभ्यो वृत्तिलिप्सेत् तत्र पूर्वं पूर्वं परिचरेत् । जीर्णान्युपानच्छत्रवास: कूर्चादीनि । उच्छिष्टाशनम् । शिल्पवृत्तिश्च । यं चार्यमाश्रयेद्भर्तव्यस्तेन क्षीणोऽपि । तेन चोत्तर: ।

उमेश चन्द्र पाण्डे, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 1966, पृ० 105-106 ।

मनु ने भी शूद्र के इस कर्म की पुष्टि की है कि शूद्र को जूठा अन्न, पुराना वस्त्र, सारहीन, अन्न, पुराना, ओढ़ना और बिछौना देना चाहिए ।[1]

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में दृष्टिक्षेप करने पर यह ज्ञात होता है कि भारतीय समाज में मौर्य युग के परवर्ती काल से भारत पर विदेशियों के आक्रमण प्रारंभ हो गये जिनमें इंडोग्रीक, शक, पहलव, कुषाण आदि जातियाँ यहाँ आयी, युद्ध किये, शासन किये और यहाँ की सामाजिक व्यवस्था में धुल-मिल गयी । इनके संपर्क का यह परिणाम हुआ कि इनको एक अलग वर्ग बन गयी । रामायण और महाभारत में भी इन विदेशियों का उल्लेख हुआ है जो यवन शक पहलव किरात, चीन आदि जातियाँ थी । इनका उल्लेख पंतजलि और मनु ने भी किया है जो कालान्तर में शूद्र हो गयी । मनु का मत है - पौड्रक, औड्र, द्रविड़, कम्बोज, यवन, शक, पारद, पहलव चीन, किरात दरद और खस - ये क्रियालोपादि के कारण ब्राह्मणो कादर्शनहोने से (अध्यापन) शूद्रत्व को प्राप्त हो गयी हैं ।[2]

राबर्ट लिंगट ने सेनार्ट का मत व्यक्त किया है कि शूद्र वास्तव में आर्यों द्वारा विजित दस्यु जाति ही थी जो काले रंग के होते थे । वास्तव में वे विभिन्न आक्रमणकारियों द्वारा प्रदत्त मिश्रित निम्नकोटि की जातियाँ थी जो आर्यों की भाषा बोल सकते थे । वे भारतीय समाज में मिल - जुल गये थे और शूद्र वर्ण के अन्तर्गत आते थे । इसे हिन्दू समाज में मलेच्छ कहा जाता था ।

1- मनुस्मृति 10. 125 उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च ।
पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदा: ।

2- मनुस्मृति - 10. 43 शनकैस्तु क्रियालोपादिया: क्षत्रियजातय: ।
वृषलत्वं गाता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ।

,, 10. 44 पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडा: कम्बोजा यवना: शका: ।
पारदा पह्लवाश्चीना: किराता: दरदा: खशा: ।।

दृष्टव्य जी० एच० मीज - धर्म एण्ड सोसाइटी, ग्रेटरसल, लन्दन, 1965, पृ० 84

डा० जयशंकर मिश्र - भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1974, पृ० 70 ।

आपस्तम्ब आदि धर्मसूत्रों में इनको भोजन बनाने का कार्य उच्च वर्णों के संरक्षण में सौंपा गया था । कभी-कभी ब्राह्मण उनका छुआ भोजन नहीं ग्रहण करते थे ।[1]

आर० एस० शर्मा का मत : उत्तर वैदिक काल में शूद्र सेवक वर्ण था ; धर्म सूत्रकाल में शूद्र तीनों उच्च वर्णों की सेवा करता था । ऐसा प्रतीत होता है कि शूद्र वर्ग के कार्य बढ़ई, लोहार, दर्जी, कुम्भकार, चित्रकार आदि के थे, इन कार्यों का उल्लेख पाली ग्रंथों में भी हुए है । वह कोई यज्ञ नहीं कर सकता था, इसका शूद्र वर्ग को बड़ा ही लाभ मिला क्योंकि इस प्रकार वह सभी दायित्वों से मुक्त था । गौतम का मत था कि वह पत्नी रख सकता था । भाष्यकार हरदत्त का मत है कि वह केवल गृहस्थ जीवन व्यतीत कर सकता था । वह ब्रह्मचर्य, सन्यास और पवित्र जीवन नहीं बिता सकता था।[2]

आपद्‌कालीन शूद्रों की अन्य वृत्तियां :

मनुस्मृति में शूद्रों के आपातकालीन कर्मों पर प्रकाश डाला गया है । ब्राह्मण की सेवा द्वारा जीवन निर्वाह नहीं होने से जीविका को चाहनेवाला शूद्र क्षत्रिय या धनिक वैश्य की सेवा करता हुआ जीवन निर्वाह करे ।[3] द्विजो की सेवा करने में असमर्थ शूद्र (भूखादि से) स्त्री पुत्रादि के पीड़ित होने पर कारीगरी (सूप आदि बनाने) के कार्यों से जीविकोपार्जन करे ।[4] जिन कर्मों से द्विजो की सेवा हो (जैसे बढ़ई, चित्रकारी, शिल्प) उसे करे ।[5] इस प्रकार से मनु ने आपद्ग्रस्त शूद्रों के लिए शिल्प तथा उद्योग धंधों की अनुमति दी ।

1- राबर्ट लिंगट - द क्लासिकल ला आव इण्डिया, थामसन प्रेस, दिल्ली 1973, पृ०41

2- आर० एस० शर्मा - शूद्राज् इन एंशियण्ट इण्डिया, प० 98, 135, 136 ।

3- मनुस्मृति 10. 121 शूद्रस्तु वृत्तिमाकाङ्क्षन्क्षत्रमाराधयेधपि ।
धनिनं वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत् ।।

4- ,, 10. 99 अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः ।।

5- ,, 10. 100 यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः ।
तानि कारुकर्माणि शिल्पानि विविधानि च ।।

मेधातिथि ने कारुकर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है कि भोजन बनाने, कपड़ा बुनने बढ़ईगिरी के कार्य सम्पन्न कर शूद्र अपनी भार्या और संतान का भरण-पोषण कर सकता था ।[1] कुल्लूक के अनुसार संकटकाल आने पर शूद्र भोजन पकाना, चित्रकारिता, शिल्पकला का कार्य करता था ।[2]

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी शूद्र के इन आपत्कर्मों की पुष्टि होती है इसमें वर्णन है कि शूद्र के लिए द्विजातियों की सेवा करना प्रधान कर्म है उससे जीविका न चलने पर वणिग्वृत्ति का सहारा ले अथवा द्विजातियों के अनुकूल आचरण करते हुए अनेक प्रकार के शिल्पों द्वारा जीवन निर्वाह करे ।[3] देवल ने लिखा है कि शूद्र द्विजातियों की सेवा करे तथा कृषि, पशुपालन, भारवहन, क्रय-विक्रय, चित्रकारी, नृत्य, संगीत, वेणु, वीणा, ढोलक, मृदंग आदि वाद्य यंत्रों का वादन भी करे ।[4]

ऐतिहासिक काल में कुछ शूद्रों के राजा होने और सैन्यवृत्ति के भी प्रमाण प्राप्त होते हैं । जैसे नन्द राजा शूद्र था ।[5] कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में शूद्रों की सेना का भी वर्णन किया है ।

1- मेधातिथि (मनु 10. 100) कारुका: शिल्पिन: सुदतन्तु वायादयस्तेषां कर्माणि पाकपवनादीनि प्रसिद्धानि तैर्जीवेत पुत्रदारात्ययस्तद्-भरणासमर्थत ।

2- कुल्लूक (मनु 10. 99-100) शूद्र द्विजातिशुश्रूषां कर्तुमक्षम: क्षुदवसन्न: पुत्रकलत्र: सूपकारादिकर्म जीवेत् । पूर्वोक्त कारुकर्म विशेषाभिधानार्थमिदं यै: कर्मभि: कृतैर्द्विजातय: परिचर्यन्ते तानि च कर्माणि तक्षणा-दीनि शिल्पानि च चित्रलिखिता दीनि नाना प्रकाराणि कुर्यात् ।

3- याज्ञवल्क्य स्मृति (आचार ध्याय) 1. 120
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तथाऽजीवन्वणिग्भवेत् ।
शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद् द्विजातिहितमाचरन् ।।

4- देवल 1. 120 देवलोक्तानि शूद्रधर्मो द्विजाति शुश्रूषा पापवर्जनं कलत्रादि-पोषणकर्षण पशुपालन भारोद्वहन पण्य व्यवहार चित्रकर्म नृत्य गीत वेणुवीणा मुरजमृदङ्गवादन दीनि ।।

इस प्रकार से कर्मों के कारण शूद्रों के भी कई वर्ग हो गये जैसे -

(अ)

(1) अनिरवसितशूद्र (बढ़ई, लोहार)

(2) निरवसित शूद्र (चाण्डाल)[1]

(ब)

।1। भोज्यान्न जिसका बनाया भोजन ब्राह्मण कर सके पशुपाल, नाई, हलवाहा ।[2]

।2। अभोज्यान्न जिसका छुआ अन्न ग्रहण न किया जा सके जैसे धोबी, रंगरेज, बधिक, मद्य बेचनेवाले तेली, गाड़ीवान ।[3]

[illegible] -

इस प्रकार से धर्मशास्त्रों का यह विधान था कि आपत्तिकाल में व्यक्ति अपने वर्ण से नीचे वर्ण का ही कार्य जीविकोपार्जन के निमित्त कर सकता था जैसे -

ब्राह्मण का आपद्धर्म	क्षत्रिय वैश्य शूद्र के कर्म
क्षत्रिय का आपद्धर्म	वैश्य, शूद्र के कर्म
वैश्य का आपद्धर्म	शूद्र के कर्म
शूद्र का आपद्धर्म	शिल्प वृत्ति (शूद्र के कर्म)

1- माहाभाष्य पाणिनी 2. 4. 10

2- गौतमधर्मसूत्र - उमेश चन्द्र पाण्डे, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 1966, पृ० 180

गौतमधर्मसूत्र - 2.86 पशुपाल क्षेत्रकर्षक ------- भोज्यान्न:

मनुस्मृति - 4. 253 आर्धिक, कुल मित्र च गोपाल दासनापितौ ।

याज्ञवल्क्यस्मृति- 1. 66 शूद्रेषु दासगोपाल कुलमित्रार्धसीरिण: । भोज्यान्ना .... निवेदयेत ।।

3- याज्ञवल्क्यस्मृति - 1. 164, 165

नृशंसराजरजककृतघ्न वध जीविनान् ।

इसके विपरीत कर्म करने का विधान नहीं था । आपत्ति में फंसा क्षत्रिय अपनी जीविका करे किन्तु कभी भी ब्राह्मण वृति न करे । इसकी पुष्टि मनुस्मृति[1], याज्ञवल्क्यस्मृति[2] से होती है । आपत्तिकाल टल जाने पर उपयुक्त प्रायश्चित करके अपने विशिष्ट वृत्ति की ओर लौट आना चाहिए । निम्न वर्ण के लोग उच्च वर्ण की वृत्ति नहीं कर सकते थे अन्यथा राजा उनकी सम्पत्ति जब्त कर सकता था[3] ।

रामायण में वर्णित शम्बूक की कहानी भी इसी प्रकार से है (73.76) भवभूति के उत्तर रामचरित में भी यही मनोभाव झलकता है । यदि कोई शूद्र तप जप होम करे या सन्यासी हो जाय या वैदिक मंत्र पढ़े तो राजा उसे प्राण दण्ड देता था ।

शूद्रों के लिए वेदाध्ययन मना था । उनके समीप भी वेदपाठ नहीं किया जा सकता था । गौतम ने तो यहां तक कहा है जहां शूद्र हो वहां वेदपाठ करना ही नहीं चाहिए[4] । यदि शूद्र जानबूझकर स्मरण करने के लिए वेदपाठ सुने तो उसके कर्ण कुहारों में सीसा और लाख भर देना चाहिए यदि उसने वेद पर अधिकार कर लिया हो तो उसके शरीर को छेद देना चाहिए[5] ।

1- मनुस्मृति 10. 95 जीवेदेतेन राजन्य: सर्वेकाव्यनयं गत: ।
न त्वेव ज्यायसी वृत्तिमभिमन्यते कर्हिचित ।।

2- याज्ञवल्क्यस्मृति 3. 35 क्षात्रेण कर्मणा जीवेद्विशां वाप्यापदि द्विज: ।
निस्तीर्य तामथात्मनं पावयित्वा न्यसेत्पथि ।।

3- मनुस्मृति 10. 96 यो लोभाद्धमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभि: ।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेता ।।

4- मिताक्षरावृत्ति - उमेश चन्द्र पाण्डे, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 1966
गौतमधर्मसूत्रम् - 2. 7. 19 पूतिगन्धान्त: शवदिवाकीर्त्यशूद्र संनिधाने ।।पृ०172

5- गौतमधर्मसूत्रम् 12. 4 अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपूरणमुदाहरणे
जिह्वाच्छेदो धारणे शरीर भेद: ।
मृच्छकटिक 9. 21 वेदार्थान् प्राकृतस्त्वं वदसि न च ते जिह्वा निपतिता ।

यद्यपि शूद्रों को वेदाध्ययन मना था किन्तु वे इतिहास, पुराण सुन सक्ते थे। महाभारत के शान्तिपर्व में वर्णन है कि चारों वर्ण के लोग ब्राह्मण पाठक से महाभारत सुन सक्ते हैं।[1]

जे०डी०एम०डेरिट का मत है कि द्विजों द्वारा प्राचीन काल में शूद्रों का बहुत ही शोषण होता रहा है। द्विज पढ़े लिखे थे तथा शूद्र अशिक्षित होते थे। शूद्र प्राय: खेतिहर वर्ग होता था किन्तु धीरे-धीरे ये सम्पन्न होने लगे। दक्षिणी भारत में शूद्रों की दशा बड़ी ही सम्मानजनक दर्शित होती है। इसके विपरीत उत्तर भारत में शूद्र व्यापार ~~वर्ग~~ कार्य करने में रत थे। कुछ शूद्र परिवार ऐसे भी थे जो राज्यसत्ता प्राप्त कर क्षत्रिय वर्ण के समकक्षी हो गये थे। रानादुग्र्या जो छठी शताब्दी का था वहीकाकतियों का वंशज था। इसका प्रमुख उदाहरण है। इस प्रकार से विविध ~~और स्मृति~~ ग्रंथों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि शूद्रों की दशा में धीरे-धीरे सुधार होने लगा था।[2] प्रतापरुद्र काकतिय इसी जाति का सदस्य होकर भी संस्कृत लेखक था।

::::
::::

1- शान्तिपर्व 328. 49 श्रावयेच्चतुरो वर्णान्कृत्वा ब्राह्मणाग्रत:।

2- जे०डी०एम०डेरित : रिलिजन ला, एण्ड स्टेट इन इण्डिया, फेवर एण्ड फेवर, रसल स्क्वेयर, लन्दन, 1968 पृ० 172-173।

(ब) स्त्री धर्म

इस अध्याय में स्त्रियों का सामान्य धर्म और उनके आपत्तिकालिक कर्तव्यों का वर्णन किया गया है ।

समाज का एक अंग यदि पुरुष है तो दूसरा अंग स्त्री, बिना स्त्री के समाज की संरचना एकांगी ही नहीं असंभव भी है । स्त्री ही तो सृष्टि रचना का एक अमूल्य स्रोत है जिसके द्वारा सृष्टि का सृजन हुआ है । किसी भी सभ्यता और संस्कृति के उत्थान पतन का मूल स्त्रियों की दशा पर ही निर्भर करता है, भारतीयों की तो ये प्राचीनतम धारणा रही है कि " यत्र नार्यास्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता " तथा प्राचीन काल में नारी पूजा (मातृपूजा) नारियों के सम्मान वृद्धि का ही एक अंग रहा है । नारी के विविध रूप हैं, उमा, दुर्गा, काली, गौरी, लक्ष्मी, सीता, सावित्री, गार्गी, मान्धान्ता, अहिल्या, गांधारी , द्रौपदी, रानी लक्ष्मीबाई, दुर्गावती आदि प्राचीनतम भारत की नारियां स्त्रियों के विविध गुणों, पराक्रम और क्षमता की द्योतक थी । रामचरितमानस में वर्णन है धैर्य, धर्म, मित्र और नारी को आपद्काल में ही परखा जा सकता है ।[1]

काल के चक्र और कुचक्र का सामना स्त्रियों को भी करना पड़ा है, जिससे प्रभावित होकर कभी वे पुरुषों की समकक्षी रही और कभी पुरुषों की प्रताड़ना का शिकार बनी ।

वैसे तो स्त्रियों का सामान्य धर्म है सुखी जीवन में पुरुषों की सहभागी बनना, सहधर्मिणी और एक सहायिका के रूप में पुरुष का पथ-प्रदर्शन करना । विवाह द्वारा धर्म, अर्थ और काम, मोक्ष जैसे पुरुषार्थों की

1- रामचरितमानस , तुलसी कृत - अरण्यक काण्ड, पृ० 322

धीरज धर्म मित्र अरु नारी ।

आपदकाल परिखिअहि चारी ।।

प्राप्ति में सहयोगी बनना वंशवृद्धि कर पितृ ऋण से मुक्त होना और मानव जीवन को अधिक सुखमय बनाना । ऋग्वेद में वर्णन है - अविवाहित पुत्रियों को पिता की सम्पत्ति में पुत्र के समान अधिकार था ।[1] अथर्ववेद में स्त्रियों के महत्व का वर्णन किया गया है । याज्ञिक क्रियाओं में तथा मनोरंजनार्थ मेलों में स्त्रियां आगे जाती थी ।[2] स्त्रियां अपने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने में सक्षम होती हैं ।[3] एक स्थल पर वर्णन है कि इन्द्र की पत्नी कहती है कि युद्ध स्थल में बाणों के समक्ष यह शर युक्त प्रहारकर्ता मुझे अवीरा (कायर) समझता है किन्तु मैं वीर इन्द्र की पत्नी हूं ।[4] अन्यत्र कहा गया है कि स्त्रियां वीर पुत्रों को उत्पन्न कर अग्नि देव को व हविष प्रदान करने की कामना के साथ गृहस्थ्य जीवन व्यतीत करे ।[5] शतपथ ब्राह्मण में वर्णन है कि स्त्री की दृष्टि में पति की प्रतिष्ठा है ।[6] इसलिए स्त्रियां पुरुषों की अनुगामिनी व भावुक होती हैं ।[7] स्त्रियां अबला होती हैं ।[8] स्त्रियों को मारना नहीं चाहिए ।[9] जब तक पत्नी को प्राप्त

1- ऋग्वेद 2.7.7 अमाजूरिव पित्रोः सचा सती ।
समानादा सदसस्त्वामिये भगम् ।।

2- अथर्ववेद 20. 126. 10 सहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वावगच्छति ।

3- ,, 1. 27. 4 इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतायुषिता पुरः ।

4- ,, 20. 126. 9 अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते ।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्र पत्नी ।।

5- ,, 11. 2. 18 प्रजावती वीरसूर्देवकामा स्योनेममग्निं
गार्हपत्यं सपर्य ।

6- शत० ब्रा० 2. 6. 2. 14 पत्यो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा ।

7- ,, 13. 2. 2. 4 तस्मात् स्त्रियः पुंसोऽनुवर्त्मानो भावुकाः ।

8- ,, 2. 5. 2. 26 अवीर्या वै स्त्री ।

9- ,, 5. 2. 1. 10 यावद् जायां न विन्दते नैव तावत
प्रजायते असर्वो हि तावद् भवति ।

नहीं करता तब तक संतान नहीं उत्पन्न कर सकता । निश्चय ही तब तक अपूर्ण रहता है ।

तैतरिय ब्राह्मण में वर्णन है कि पत्नी आत्मा की आधी होती है अर्थात् अर्धाङ्गिनी होती है ।[1] जो बिना पत्नी का होता है वह यज्ञ का अधिकारी नहीं होता है ।[2] मनुस्मृति में वर्णन है कि स्त्रियां सन्तान उत्पन्न करने के कारण उपकार करनेवाली पूज्यनीय और गृह की शोभा रूप हैं । गृह में लक्ष्मी और स्त्रियों में कोई विशेषता नहीं होती है अर्थात् जैसे लक्ष्मी बिना गृह की शोभा नहीं वैसे ही स्त्रियों के बिना घर की शोभा नहीं है ।[3] सन्तान उत्पन्न करना, उत्पन्न हुए का पालन नित्य गृह का कार्य करना , इन सभी वस्तु के प्रत्यक्ष का कारण स्त्रियां ही हैं ।[4] सन्तान, धर्म कार्य, सेवा उत्तमरति, पितरों और अपना स्वर्ग साधन ये सभी कार्य स्त्रियों के ही अधीन हैं ।[5] जो स्त्री मन,वाणी और शरीर का संयम कर पति के विरुद्ध आचरण नहीं करती वह मरने के बाद पति लोक को जाती है और इस लोक में भी पतिव्रता कहलाती है।

1- तैत्ति० ब्रा० 3. 3 3. 5 अथो अर्धो वा एष आत्मन यत पत्नी ।

2- ,, 2. 2. 2. 6 अयज्ञो वा एष: । योऽपत्नीक: ।

3- मनुस्मृति 9. 26 प्रजनार्थं महाभाग: पूजार्हा गृहदीप्तय: ।
स्त्रिय: श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ।।
गणेशदत्त पाठक, ठाकुर प्रसाद एण्ड संस, वाराणसी, संवत 2031 ।

4- मनुस्मृति 9. 27 उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्राया: प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ।।

5- ,, 9. 28 अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्ग: पितॄणामात्मनश्च ह ।।

6- ,, 9. 29 पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता ।
सा भर्तृलोकानाप्नोति सद्भि: साध्वीति चोच्यते ।।

स्त्री के सामान्य धर्म :

विवाह : विवाह संस्कार की स्थापना के पूर्व भारतवर्ष में स्त्री पुरुष के संबंध में असंयम और अविविक्तता थी । वैदिक ग्रंथों में इस विषय में कोई संकेत नहीं प्राप्त होता है । महाभारत[1] में पाण्डु ने कुन्ती से कहा कि प्राचीनकाल में स्त्रियां संयम के बाहर थी, जिस प्रकार चाहती थी मिथुन जीवन व्यतीत करती थी । एक पुरुष को छोड़कर अन्य को ग्रहण कर सकती थी यह स्थिति पाण्डु के काल में उत्तर देश में विद्यमान थी । इसे सनातन धर्म की उपमा दी गयी है । उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतु ने सर्वप्रथम इस प्रकार के असंयमित जीवन के विरोध में स्वर ऊंचा किया और नियम बनाया कि यदि स्त्री पुरुष के प्रति असत्य होगी तो वह भयंकर पाप की भागी होगी ।

विवाह के दो प्रमुख उद्देश्य थे (1) पत्नी पति को धार्मिक कृत्यों के योग्य बनाती है (2) वह पुत्रों की माता होती है और पुत्र ही नरक से रक्षा करते हैं । मनु[2] के अनुसार पत्नी पर पुत्रोत्पत्ति, धार्मिक कृत्य, सेवा, सर्वोत्तमआनन्द (परमानन्द) अपने तथा अपने पूर्वजो के लिए स्वर्ग की प्राप्ती पर निर्भर होती है।[2] अत: स्पष्ट है कि धर्म, सम्पत्ति, प्रजा (नरक में गिरने से रक्षा) एवं रति (यौनिक तथा अन्य स्वाभाविक आनन्दोत्पत्ति) ये तीन विवाह सम्बन्धी प्रमुख उद्देश्य स्मृतियों एवं निबन्धकारों ने माने हैं । यही बात

1- महाभारत, आदिपर्व 113.4.-7 अनावृता: --------------
---------------------- धर्म: सनातन: ।।
दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बसलास, 1979

2- मनुस्मृति 9 . 28 अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्ग: पितृणामात्मनश्च ।।
गणेशदत्त पाठक, ठाकुर प्रसाद एण्ड संस, वाराणसी, संवत् 2031 .

याज्ञवल्क्य स्मृति आपस्त॰में भी पत्नी के महत्व पर प्रकाश डाला है । याज्ञवल्क्य ने यहाँ पर मनु का समर्थन किया है जो स्त्री अपने कर्तव्यों का पालन करती है वह पुत्र पौत्र प्रपौत्रों के द्वारा दिव्य लोक, अनन्त लोकों को प्राप्त करती है ।[1] जैमिनी पूर्व मीमांसा सूत्र[2], आपस्तम्ब धर्मसूत्र[3] मे भी इसका समर्थन किया है ।

मनुस्मृति में विवाह के आठ प्रकार बताये गये हैं -

(1) ब्राह्म विवाह : अच्छे शील स्वभाववाले वर को स्वयं बुलाकर उसे अलंकृत और पूजित कर कन्या का विवाह कर देना ब्राह्म विवाह है ।[4]

(2) दैव विवाह : यज्ञ में सम्यक प्रकार से कार्य करते हुए ऋत्विज को अलंकृत कर कन्या देने को दैव विवाह कहते हैं ।[5]

(3) आर्ष विवाह : वर से एक या दो जोड़े गाय बैल धर्मार्थ लेकर विधिपूर्वक कन्या देने को आर्ष विवाह कहते हैं ।[6]

(4) प्राजापत्य विवाह : तुम दोनों एक साथ गृह धर्म की रक्षा करो " यह कहकर और पूजन करके जो कन्यादान किया जाता है वह प्राजापत्य विवाह कहलाता है ।[7]

1-याज्ञवल्क्य स्मृति 1. 78 लोकनन्त्यं दिव:प्राप्ति: पुत्रपौत्रप्रपौत्रकै: ।
यस्मात्तस्यास्त्रिय: सेव्या: कर्तव्याश्च सुरक्षित: ।।

2- जैमिनि पूर्व मिमांसासूत्र 6. 1.17

3- आपस्तम्ब धर्मसूत्र 11. 6. 13. 16-17
डा० उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 1966 ।

4- मनुस्मृति 3. 27 आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्म: प्रकीर्तित: ।।

5- ,, 3.28 यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ।।

6- ,, 3. 29 एकं गो मिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मत: ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्म: स उच्यते ।।

7- ,, 3. 30 सहो भौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्रजापत्यो विधि: स्मृत: ।।

(5) आसुर विवाह : कन्या के पिता आदि को और कन्या को भी यथाशक्ति धन देकर स्वच्छन्दतापूर्वक कन्या को ग्रहण करना आसुर विवाह है ।[1]

(6) गान्धर्व विवाह : कन्या और वर की इच्छा से दोनों का संयोग होना गान्धर्व विवाह है । यह काम भोग की इच्छा से होता है तथा मैथुन के लिए हितकर है ।[2]

(7) राक्षस विवाह : (बाधा डालनेवालों को) मार कर, घायल कर, घर के दरवाजे आदि को तोड़कर रोती हुई कन्या को घर से जबरदस्ती हरण कर ले जाने का नाम राक्षस विवाह है ।[3]

(8) पैशाच विवाह : सोई हुई मद से मतवाली या जो कन्या पागल हो उसके साथ एकान्त में संभोग करना अत्यन्त निकृष्ट पापों से भरा हुआ पैशाच विवाह है ।[4]

इस प्रकार से विवाह के इन 8 प्रकारों में दैव, ब्रह्म, आर्ष, प्राजापत्य अच्छे माने जाते थे तथा राक्षस, पैशाच, आसुर और गान्धर्व प्रकार के विवाह निम्नस्तरीय थे फिर भी तत्कालीन समाज में प्रचलित थे । इसका समर्थन स्मृति ग्रंथों, महाकाव्यों और धर्मशास्त्रों से होता है ।[5]

1- मनुस्मृति 3. 31 ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तित: ।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्धादासुरो धर्म उच्यते ।।

2- ,, 3. 32 इच्छयान्योन्यसंयोग: कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्व: स तु विज्ञेयो मैथुन्य: कामसंभव: ।।

3- ,, 3. 33 हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ।।

4- ,, 3. 34 सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधम: ।।

5- डा० राधाकृष्णन, धर्म और समाज, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1950, पृष्ठ 194-195 ।

पहले समाज में वयस्क होने पर ही विवाह किये जाते थे किन्तु कुछ समयान्तरालो में समाज में बाल विवाह प्रचलित हुआ जिसको शारदा अधिनियम द्वारा अवैध घोषित किया गया तथा विवाह की निश्चित आयु निर्धारित की गयी लड़के की अठारह वर्ष तथा लड़की की चौदह वर्ष ।[1]

सवर्ण तथा असवर्ण विवाह :

सवर्ण का अर्थ है पति-पत्नी एक ही वर्ण के हो । असवर्ण का अर्थ है पति-पत्नी में वर्णो का अन्तराल हो ।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने अपने ही वर्ण की कन्या के साथ विवाह करने की अनुमति दी है ।[2] इन्होंने असवर्ण विवाह की भर्त्सना की है । इस मत की पुष्टि मनुस्मृति से होती है । मनुस्मृति में वर्णन है शूद्रा से व्याह करनेवाला ब्राह्मण पतित होता है । यह अत्रि और उतथ्य पुत्र गौतम का मत है। शूद्रा से पुत्रोत्पन्न होने पर क्षत्रिय क्षत्रियत्व से गिर जाता है, यह शौनक का मत है । इसी प्रकार शूद्रों से सन्तान होने से वैश्य भी पतित होता है । ऐसा भृगु का मत है ।[3] जो द्विज मोहवश हीन जाति (शूद्र) की कन्या से विवाह करते हैं वे सन्तान सहित अपने वंश को शीघ्र ही शूद्र बना देते हैं ।[4]

ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों को पहले सवर्णा (स्वजाति की कन्या) से विवाह करना श्रेष्ठ होता है । कामवश विवाह करने वाले को क्रम से ये स्त्रियाँ भी श्रेष्ठ होती है - शूद्र की स्त्री शूद्रा हो, वैश्य की

1- डा० राधाकृष्णन, धर्म और समाज, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1950, पृ० 201 ।

2- आपस्तम्ब धर्मसूत्र 26. 13-1-3

3- मनुस्मृति 3. 16 शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च ।
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगो: ।।

4- मनुस्मृति 3. 15 हीन जातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातय: ।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससंतानानि शूद्रताम् ।।

स्त्री वैश्य और शूद्रा, क्षत्रिय की क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रा और ब्राह्मण की चारो वर्णों की कन्याओं से विवाह करने का अधिकार था ।[1] इस प्रकार से तत्कालीन समाज में सवर्ण विवाह ही श्रेष्ठ समझे जाते थे, किन्तु कहीं-कहीं असवर्ण विवाहो की भी चर्चा की गयी है । इसमें भी स्मृतिकारों ने क्रमबद्धता स्थापित की थी ।

असवर्ण विवाहों में क्रमबद्धता इस रूप में शास्त्र सम्मत थी -

1) ब्राह्मण की चारो वर्णों की पत्नीयां हो सक्ती थी ।
2) क्षत्रिय की अपनी या वैश्य, शूद्र वर्णों की पत्नीयां हो सक्ती थी ।
3) वैश्य की अपनी या शूद्र वर्ण की पत्नीयां
4) शूद्र की केवल अपनी वर्ण की पत्नी हो सक्ती थी ।

किन्तु सवर्णो को सवर्णो में विवाह करना श्रेष्ठ एवं श्रेयस्कर बताया गया है । संभवत: इसके पीछे वर्ण शुद्धता की भावना रही हो । वर्ण शंकरता को रोकने के लिए ये नियम प्रशंसनीय रहे हो । मनु ने कहा है - ब्राह्मण और क्षत्रिय को सवर्ण स्त्री न मिलने पर भी शूद्रा को स्त्रीं बनाने का किसी भी इतिहास में आदेश नहीं पाया जाता ।[2]

अभिलेखों में भी अन्तर्जातीय विवाहों के उदाहरण मिलते हैं । वाकाटक राजा ब्राह्मण थे उनका गोत्र था विष्णुवृद्ध । प्रभावती गुप्ता के अभिलेख से विदित होता है कि वह सम्राट चन्द्रगुप्त II की पुत्री थी । (5वीं शताब्दी के प्रथम चरण में) उनका विवाह वाकाटक कुल के रुद्रसेन II से संपन्न हुआ था । तालगुण्ड स्तम्भ लेख से विदित होता है कि कदम्ब कुल का संस्थापक मयूर शर्मा था

1- मनुस्मृति 3. 12 सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमा: स्यु: क्रमशो वरा: ।।
3. 13 शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विश: स्मृते ।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मन: ।।

2- ,, 3. 14 न ब्राह्मण क्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतो: ।
कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते ।।

जो स्पष्टतया ब्राह्मण था । इसके वंशजो के नाम के अंत में वर्मा शब्द लगता था । चौथी पीढ़ी के काकुस्थवर्मा ने अपनी कन्या को गुप्त तथा अन्य राजाओं को दिया । यशोधर्मा तथा विष्णुवर्धन के घटोत्कच अभि० से पता चलता है कि वाकाटक राजा देवसेन के मंत्री हस्तिभोज के वंशज सोम नामक ब्राह्मण ने ब्राह्मण एवं क्षत्रिय कुल में उत्पन्न कन्याओं से विवाह किया था । लोकनाथ नामक सरदार के तिप्पेरा ताम्रपत्र से पता चलता है कि उसके पूर्वज भरद्वाज गोत्र के थे । उसके नाना केशव पारशव थे (ब्राह्मणपुरुष एवं शूद्रा नारी से उत्पन्न) और केशव के पिता वीर द्विजसत्तम श्रेष्ठ ब्राह्मण थे । विजय नगर के राजा बुक्क प्रथम (1268 - 1229 ई०) की पुत्री विरुपा देवी का विवाह आरग प्रान्त के प्रान्तपति ब्रह्म या बोमण्ण बोदेय नामक ब्राह्मण से हुआ था । प्रतिहार राजा लोग हरिश्चन्द्र नामक ब्राह्मण एवं क्षत्रिय नारी से उत्पन्न व्यक्ति के वंशज थे । गुहिल वंश का संस्थापक ब्राह्मण गुहदत्त था जिसके वंशज भर्तृपट्ट ने राष्ट्रकूट राजकुमारी से विवाह किया था ।[A]

कालिदास कृत मालविकाग्निमित्रम् नामक नाटक से त पता चलता है कि ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र ने क्षत्रिय राजकुमारी मालविका से विवाह किया था ।

बहुभर्तृकता:

संस्कृत साहित्य में इसका सर्वप्रसिद्ध उदाहरण द्रौपदी का है जो पाँचों पाण्डवों की पत्नी थी । द्रुपद ने युधिष्ठिर को बहुत समझाया कि शास्त्र विधि के अनुसार एक पुरुष के अनेक स्त्रियाँ हो सकती है पर एक स्त्री के अनेक पति नहीं हो सकते ।[1] इस पर युधिष्ठिर टस से मस नहीं हुए और कहा -

---

A डा० वी० वी० काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास I, पृ० २७८.

1- महाभारत आदिपर्व 187 . 26,27 एकस्य बह्वयो विहिता महिष्य: कुरुनन्दन ।
नैकस्या बहव: पुंस: श्रूयन्ते पतय: क्वचित् ।।
लोकवेद विरुद्ध त्वं ना धर्मविच्छुचि: ।
कर्तुमर्हसि कौन्तेय कस्मात्ते बुद्धिरीदृशी ।।
दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, 1979 ।

ऐसा कार्य पहले भी होता था और हम पाण्डवों ने यह तय किया है कि जो भी जो कुछ प्राप्त करेगा वह हम सभी को बराबर मिलेगा । इस विषय में युधिष्ठिर ने केवल दो उदाहरण दिये -

1- जटिला गौतमी सप्तर्षियों की पत्नी थी[1] ।

2- सभी दस प्राचेतस भाई वार्क्षी के पति थे ।

अतिशय पति सेवा :

अतिशय पति सेवा स्त्री का सामान्य धर्म था । पति की आज्ञा मानना एवं पति को देवता के समान सम्मान देना उसका प्रमुख कर्तव्य था जब राजकुमारी सुकन्या का विवाह बूढ़े एवं जीर्ण शीर्ण ऋषि च्यवन से हो गया तो सुकन्या के भाइयों ने उसका अपमान किया था इस पर सुकन्या ने कहा था मैं अपने पति को जिन्हें मेरे पिता ने मेरे पति के रूप में चुना है उन्हें मैं जीते जी नहीं छोड़ सकती ।[2] पत्नी को चाहिए कि वह अपने नपुंसक, कोषवृद्धिग्रस्त, पतित, अंग के अधूरे रोगी पति को भी न छोड़े क्योंकि पति ही पत्नी का देवता होता है। इसे कुछ अन्तर के साथ मनु,[3] याज्ञवल्क्य[4], रामायण[5], महाभारत[6],मत्स्यपुराण[7] एवं

1- महाभारत आदि पर्व, 188. 14

2- शतपथ ब्राह्मण 6. 1. 5. 9

3- मनुस्मृति 9 . 86
गणेशदत्त पाठक, ठाकुर प्रसाद एण्ड संस, वाराणसी, 2031

4- याज्ञवल्क्य स्मृति 1. 77

5- रामायण अयोध्या काण्ड, 24. 26-27

6- महाभारत अनु० 146. 55
,, शांति० 148. 67
दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल, बलसाड, 1979

7- मत्स्य पुराण 210. 18

कालिदास[1] आदि में पायी जाती है ।

पद्मपुराण में वर्णन है कि वह स्त्री पतिव्रता है जो कार्य में दासी की भाँति, संभोग में अप्सरा जैसी भोजन देने में माँ की भाँति विपत्ति में मंत्री की भाँति (अच्छी राय देनेवाली) हो ।[2] बृहस्पति ने पतिव्रता की परिभाषा में कहा है वह स्त्री जो पतिव्रता है वह पति के आर्त होने पर आर्त होती है, प्रसन्न होने पर प्रसन्न होती है । पति के विदेश गमन पर मलिन वेश धारण करती और दुर्बल हो जाती है एवं पति के मरने पर मर जाती है ।[3] मनु ने कहा है स्वामी के विरुद्ध आचरण करनेवाली स्त्री इस लोक में निन्दित होती है तथा मरने के बाद श्रृगाल (सियार) योनि में उत्पन्न होकर अनेक प्रकार के रोग भोगती है ।[4] इसके विपरीत पतिव्रता स्त्रियाँ मरने पर स्वर्ग लोक जाती है तथा इस भूतल पर भी प्रसंशनीय हैं ।

महाभारत में पतिव्रता गान्धारी की शक्ति का वर्णन है गांधारी चाहने पर विश्व को भस्म कर सकती थी । सूर्य एवं चन्द्र की गति को बन्द कर सकती थी । पति के अन्धे होने पर अपने आँखों पर पट्टी बाँध ली थी ।[5] स्कन्दपुराण[6] में कई पतिव्रताओं के नाम लिये हैं जिसमें अरुन्धवती, अनसूया, सावित्री, शाण्डिल्या, सत्य मेना ये पतिव्रतायें यमदूतों से अपने पतियों को

1- कालिदास शा० 5

2- पद्मपुराण सृष्टि खण्ड 47 . 55
उद्धृत पी०वी०काणे- धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ० 138

3- बृहस्पति, अपरार्क ने 109 आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा ।
याज्ञवल्क्य मिताक्षरा 2 . 86 मृते म्रियते या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ।।

4- मनुस्मृति 9 . 30 व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।
श्रृगाल योनिं चाप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ।।

5- महाभारत आदिपर्व 103 . 13 ततः सा पट्टमादाय कृत्वा बहुगुणं शुभा ।
बबन्ध नेत्रे स्वे राजन्पतिव्रत परायणा ।
नात्यश्नीयां पति महमित्येवं कृतनिश्चया ।।
दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, बलसाड़, 1979 ।

6- स्कन्द पुराण ब्रह्मखण्ड 3 . 7 ।

उसी प्रकार खींच सकती है जैसे कालग्राही (सँपेरा) बिल से साँप खींच लेता है । महाभारत में भी इसकी पुष्टि हुई है कि पतिव्रता अरुन्धवती परम सिद्धि को प्राप्त हुई ।[1]

वराहमिहिर (छठी शताब्दी) ने स्त्रियों का ओजस्वी समर्थन किया है । इनके मत से स्त्रियों पर धर्म एवं अर्थ आश्रित है उन्हीं से पुरुष लोग इन्द्रियसुख एवं सन्तानसुख प्राप्त करते हैं । ये धर में लक्ष्मी है इनको सदैव सम्मान एवं धन देना चाहिए । वास्तव में स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा अधिक गुणों से संपन्न होती है । अपनी मां या पत्नी भी स्त्री ही होती है पुरुषों की उत्पत्ति उन्हीं से होती है । शास्त्रों के अनुसार वे पति और पत्नी पापी होते हैं यदि वे विवाह के प्रति सचेत नहीं होते । पुरुष लोग शास्त्रों की बहुत कम परवाह करते हैं किन्तु स्त्रियां शास्त्रों को बहुत ही महत्व देती है । अतः स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा अधिक उच्च हैं । अकेले पुरुष स्त्री की चाटुकारिता करते हैं किन्तु उसके मर जाने पर उनके पास ऐसे शब्द नहीं होते किन्तु स्त्रियां कृतज्ञता के वश आकर अपने पति के शवों का आलिंगन करके अग्नि में प्रवेश कर जाती है ।[2]

कालिदास ने रघुवंश में स्त्री को गृहणि, सचिव, मित्र, सखि तथा शिष्या कहा है ।[3]

1- महाभारत शल्य पर्व 47 . 47 एव सिद्धिः परा प्राप्ता अरुधंत्या विशुद्धया ।
यथा त्वया महाभागे मदर्थं संशितव्रते ।।

2- वराहमिहिर, बृहत्संहिता 74.5.6,11, 15,16
येप्यंगनानां प्रवदन्ति दोषान्वैराग्यमार्गेण गुणान विहाय । ते दुर्जना मे मनसो वितर्कः सद्भाववाक्यानि न तानि तेषाम् ।। प्रब्रूत सत्यं कतरोऽङगनानां दोषस्तु यो नाचरितो मनुष्यैः । धाष्टर्येन पुंभिः प्रमदा निरस्ता गुणाधिकास्ता मनुनाम चोक्तम् । जाया वा स्याज्जनित्री वास्यात्संभव स्त्रीकृतो नृणाम् । हे कृतघ्नास्तयोर्निन्दां कुर्वतां वः कुतः सुखम् अहो धाष्टर्यमसाधूनां निन्दतामनघाः स्त्रियः । मुष्णतामिव चौराणां तिष्ठ चौरेति जल्पताम् ।
पुरुष श्चटुलानि कामिनीनां कुरुते यानि रहो न तानि पश्चात् ।
सुकृतज्ञतयांगनां गतास्यूनवगुह्य प्रविशन्ति सहा जिह्वम ।।

समय की गति के कारण उन्हें भी कभी अच्छी दृष्टि से देखा गया और कभी उनकी स्थिति अति दयनीय हो गयी जिससे विवश होकर उन्हें कई उचित अनुचित साधनों का सहारा लेना पड़ा । जैसी-जैसी विपत्तियाँ आती गयी वैसे-वैसे स्त्री धर्म में परिवर्तन होता गया । अपने अस्तीत्व रक्षा, कुल की मर्यादा एवं वंशवृद्धि के लिए उसने विविध धर्मों का सहारा लिया जिसे स्त्री के आपद्धर्म कहे गये ।

स्त्री का आपद्धर्म

परदा प्रथा और आपद्धर्म :

ऋग्वेद में वर्णन है कि लोग विवाह के समय कन्या की ओर देखें यह कन्या मंगलमय है एकत्र होवो और इसे देखो और आशीष देकर ही तुम लोग अपने घर जा सकते हो ।[1] ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णन है कि वधू अपने श्वसुर से लज्जा करती है और अपने को छिपाकर चली जाती है ।[2] इससे यह विदित होता है कि गुरुजनों के समक्ष नवयुवतियों पर कुछ प्रतिबन्ध था । पाणिनी ने रानियों के लिए 'असूर्यपश्या' (जो सूर्य को भी नहीं देखती) शब्द प्रयुक्त किया है इसका तात्पर्य है कि वो रानियाँ राज प्रसादों की सीमा के बाहर या जन समूह में नहीं आ सकती थी ।[3]

किन्तु आपत्तिकाल में नारीयों ने इस पर्दा प्रथा का उल्लंघन किया और वो कहीं भी किसी के समक्ष स्वच्छन्दता से आ जा सकती थी ।

1- ऋग्वेद 10. 85. 33

2- ऐतरेय ब्राह्मण, 12. 11

3- पाणिनी, अष्टाध्यायी 3. 2. 26

रामायण में वर्णन है कि आज सड़क पर चलते हुए लोग उस सीता को देख रहे हैं जिसे पहले आकाश गामी जीव भी नहीं देख सके थे ।[1] वही आगे वर्णन है । विपत्ति के समय युद्धों में स्वयंवर में यज्ञ में एवं विवाह में स्त्री का बाहर जनता में आना कोई अपराध नहीं है[2] । इसी प्रकार से महाभारत में भी वर्णन उपलब्ध होता है - द्रौपदी कहती है - हमने सुना है प्राचीनकाल में लोग विवाहित स्त्रियों को जन साधारण की सभा या समूह में नहीं ले जाते थे, चिर काल से चली आ रही इस प्राचीन प्रथा को कौरवों ने तोड़ दिया है[3] । द्रौपदी का दर्शन राजाओं ने स्वयंवर के समय किया था । उसके उपरान्त युधिष्ठिर द्वारा जुए में हार जाने पर ही लोगों ने उसे देखा । इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि उच्च कुल की नारियां विपत्तिकाल में ही पर्दे का परित्याग करती थी । महाभारत में ही अन्यत्र वर्णन है कि कौरवों की पूर्ण हार के बाद उनकी स्त्रियों को जिन्हें महलों में रहते हुए सूर्य भी नहीं देख सकता था, राजधानी में आये हुए लोग देख रहे थे ।[4] इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि प्राचीनकाल में स्त्रियां सभाओं में स्वतन्त्रतापूर्वक आ जा सकती थी । वे उत्सवों में सामूहिक गान करती थी । प्राचीन काल में बहुत सी विदुषी स्त्रियां थीं जैसे लोपमुद्रा ने अगस्त्य ऋषि के साथ ऋग्वेद के प्रथम भाग के 179 सूत्रों पर व्याख्यान दिया था । यदि उस समय पर्दा प्रथा रही होती तो यह कदापि संभव नहीं हो सकता था ।[5] उस समय

1- रामायण, अयोध्या काण्ड 33. 8 यान शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि ।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः ।

2- रामायण (युद्धकाण्ड) 116. 28 व्यसनेषु न कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे ।
न क्रतौ नो विवाहे वा दर्शनं दृष्यते स्त्रियः ।।

3- महाभारत, सभापर्व 69. 9 धर्म्याः स्त्रियं सभां पूर्वे न नयन्तीति नः श्रुतम् ।
स नष्टः कैरवेयुषु पूर्वो धर्मः सनातनः ।।

4- महाभारत, शल्यपर्व 28. 71, 72.
अदृष्टपूर्वा या नार्यो भास्करेणापि वेश्यसु ।
ददृशुस्ता महाराज जना यान्तीः पुरं प्रति ।
....

स्वयंवर प्रथा का भी विवरण संस्कृत साहित्यों से प्राप्त होता है कि स्वयंवर में आये कई प्रतियोगी राजाओं के मध्य कन्या अपने वर का चुनाव करती थी ।[1] वे सामूहिक उत्सवों में भी भाग लेती थी जैसे महाभारत में वर्णन है कि द्रोणाचार्य ने जब अपने राजकुमारों की शस्त्र प्रतियोगिता आयोजित की उस समय कुन्ती और गंधारी भी सभा भवन में थीं । किन्तु धीरे-धीरे उनकी दशा बिगड़ती गयी । वे पुरुषों की सहभागी के स्थात पर उनकी अनुगामी बनी । महाभारत के स्त्री पर्व में वर्णन है कि पति के मृत्यु पर विधवाएं कुरुक्षेत्र में विलाप कर रही थी ।[2]

प्रो० इन्द्रा ने डा० भण्डारकर का मत उद्धृत करते हुए आगे कहा है कि "मुसलमानों के आगमन से ही पर्दा प्रथा प्रचलित हुई जिसका वर्णन हमें भास[3] और कालीदास[4] के नाटकों से प्राप्त होता है । इसकी पुष्टि वात्स्यायन के कामसूत्र से भी होती है जो 3 शता० की है ।[5]

अशोक के काल में पर्दे के लिए अवरोधन शब्द प्रयुक्त किया गया है, जिसका अर्थ है अन्त:पुर का हरम या स्त्री विभाग, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हरम के बहर पहरे के कर्मचारियों का वर्णन प्राप्त होता है । कौटिल्य का मत है कि यदि स्त्रियां पति इच्छा के विरुद्ध भागी हुई (या नृत्य और नाटक देखने जाती थी तो) उन्हें 6 पण दण्ड स्वरूप देना पड़ता था

1- ऋग्वेद 10. 27. 12
उद्धृत प्रो० इन्द्रा, एम०ए० - द स्टेटस आव वूमेन, पृ० 71

2- महाभारत स्त्री पर्व - "

3- भास अविमार्का, एक्ट II, 8

4- अभिज्ञान शाकुन्तल, एक्ट 8 अवगुण्ठन" ।

5- वात्स्यायन सूत्र 83 ।

यदि किसी भय से भागे तो अदण्डय थी, पति के रोकने पर भी भाग जाय तो 12 पण दण्ड, पड़ोसी के घर से चली जाय तो 6 पण दण्ड देना पड़ता था ।[1]

इस प्रकार से प्राचीनकाल में पर्दा प्रथा नहीं थी किन्तु बाह्य आक्रमणों के समय उनसे सुरक्षा के लिए यह प्रथा विकसित हुई किन्तु आपत्तिकाल में स्त्रियां उस प्रथा को तोड़ भी सकती थी ।"

2. नियोग व्यवस्था :

किसी नियुक्त पुरुष के साथ सम्भोग ही नियोग कहलाता है ।

किसी भी स्त्री के लिए उसके पति का मृत्यु होना अत्यन्त विपति की अवस्था है, विशेषकर उस अवस्था में जब स्त्री को कोई पुत्र न हो । पति के वंश वृक्ष को आगे बढ़ाने के लिए प्राचीन काल में स्त्रियों ने नियोग की प्रथा को स्वीकार किया । राजा वेन इस प्रथा के प्रचारक थे । अथर्ववेद[2] में इसका उदाहरण प्राप्त होता है । मृत पति को प्राप्त होकर पुन: पतिगृह को चाहती हुई यह स्त्री हे जीवित पुरुष तुझे प्राप्त होती है । तू इसे धन और पुत्र दो ।

गौतम ने इसकी चर्चा करते हुए कहा है कि यदि पति विहीन नारी पुत्र की अभिलाषा रखे तो अपने देवर द्वारा प्राप्त कर सकती है किन्तु उसे गुरुजनों से आज्ञा ले लेनी चाहिए और सम्भोग केवल ऋतुकाल में ही करना चाहिए । वह सपिण्ड, सगोत्र ,सप्रवर या अपनी जाति वाले से पुत्र प्राप्त कर

1- अर्थशास्त्र ।।। (60.4.1) पतिकुलान्निष्पतितायाः स्त्रियाः षट् पणो दण्डोऽन्यत्र विप्रकारात् । प्रतिषिद्धायां द्वादशपणः । प्रतिवेश-गृहातिगतायाः षट्पणः ।
द्रष्टव्य, ओ०इन्द्रा, द स्टेटस आव वूमेन पृ० 71.

2- अथर्ववेद 18. 3. 1
इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उपत्वामर्त्य प्रेतम् ।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ।।

सक्ती है (जब देवर न हो तो) । वह दो से अधिक पुत्र नहीं प्राप्त कर सक्ती ।[1]

वसिष्ठ धर्मसूत्र[2] में लिखा है कि विधवा का पति या भाई (या मृत पति का भाई) गुरुओं को (जिन्होंने पढ़ाया हो या मृतात्मा के लिए यज्ञ कराया हो) तथा सम्बन्धियों को एकत्र करे और उसे (विधवा को) मृत के पुत्रोत्पत्ति के लिए नियोजित करे । उन्मादिनी विधवा अपने को न संभाल सकनेवाली (दु:ख के मारे) रोगी या बूढ़ी विधवा को इस कार्य के लिए नियोजित न करे ।

बौधायन धर्मसूत्र[3] में वर्णन है क्षेत्रज पुत्र वही है जो निश्चित आज्ञा के साथ विधवा से या नपुंसक या रुग्ण पति के पत्नी से उत्पन्न किया जाय ।

मनुस्मृति में वर्णन है पुरुष बीज स्वरूप होता है तथा स्त्री क्षेत्र स्वरूप दोनों के सम्मिलन से उत्पन्न पुत्र ही श्रेष्ठ होता है । कहीं पर बीज प्रधान होता है और कहीं पर क्षेत्र प्रधान होता है । जहां पर दोनों समान होता है वही श्रेष्ठ सन्तान है ।[4]

कौटिल्य ने लिखा है कि बूढ़े एवं न अच्छे किये जानेवाले रोग से पीड़ित राजा को चाहिए कि वह अपनी रानी को नियुक्त कर किसी मातृबन्धु या अपने ही समान गुणवाले सामन्त द्वारा पुत्र उत्पन्न कराये । एक अन्य स्थल पर पुन: कौटिल्य ने लिखा यदि कोई ब्राह्मण बिना सन्निकट उत्तराधिकारी के मर जाय तो किसी सगोत्र या मातृबन्धु को नियोजित करके क्षेत्रज

1- गौतमधर्मसूत्र 18. 4. 8 अपतिरपत्यलिप्सुर्देवरात् गुरुप्रसूता नर्तुमतीयात् । पिण्ड गोत्रर्षिसम्बन्धेभ्यो योनिमात्राद्वा । नादेवरादित्येके । नातिद्वितीयम् ।

2- वसिष्ठ धर्मसूत्र 17. 56-65

3- बौधायन धर्मसूत्र 2. 2. 17

4- मनुस्मृति 9. 34 विशिष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित् । उभयं तु समं यत्र सा प्रसूति: प्रशस्यते ।।

पुत्र उत्पन्न करना चाहिए वह पुत्र रिक्थ (धन) प्राप्त करेगा अन्यथा उसके धन के अधिकारी समीप के रिश्तेदार होंगे ।[1]

महाभारत में भी नियोग के प्रचुर उदाहरण प्राप्त होते हैं । आदि पर्व सभी की जन्म कथा का वर्णन उपलब्ध होता है । महाभारत के लगभग अधिकांश पात्रों का जन्म इसी विधि से हुआ था । जब माता सत्यवती के दोनों पुत्रों की मृत्यु हो जाती है । कुल नाश की शंका से भयभीत होकर भीष्म से विनती करती, भीष्म के अस्वीकार करने पर अपने प्रथम पुत्र व्यास को इसके लिए आमंत्रित करती है उससे समागम की बात करती है जिससे कुल की रक्षा हो सके । सत्यवती अम्बिका से कही,हे कौसल्ये ! तुम्हारे एक देवर हैं वे तुम्हारा गर्भाधान करेंगे वह आज रात्रि तुम्हारे पास आवेंगे तुम एक मन होकर उनकी प्रतिक्षा करो ।[2]

भीष्म के रूप को देखकर उसने आँखें बन्द कर ली जिससे अन्धे पुत्र धृतराष्ट्र की उत्पत्ति हुई ।

पुन: सत्यवती दूसरे वधू से भीष्म को पुत्र उत्पन्न करने को कहती है । अम्बालिका भी समागम के समय पीली हो गयी जिससे पाण्डु उत्पन्न हुए।[3]

पुन: सत्यवती अम्बिका से दूसरे पुत्र उत्पन्न करने की बात कहती है तो वह अपने स्थान पर अपनी दासी को भेज देती है । उससे समागम कर उठ जाने के समय कृष्ण द्वैपायन बोले तुम्हारा दासीपन मुक्त होगा हे शुभे तुम्हारे गर्भ में स्थित सन्तान धर्मात्मा मंगलभाजन और बुद्धिमान जनों में सब से श्रेष्ठ होगा तब विदुर का जन्म हुआ ।[4]

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 62.6. 4 क्षेत्रे वा जनयेदस्य नियुक्त: क्षेत्रजं सुतम् ।
मातृबन्धु: सगोत्रो वा तस्मै तत प्रदिशेद्धनम् ।

2- महाभारत, आदिपर्व 100. 2 कौसल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्यत्वानुप्रवेक्ष्यति ।
अप्रमत्ता प्रतीक्षेनं निशीथे आगमिष्यति ।

3- महाभारत, आदिपर्व 100. 15 ततस्तेनैव विधिना महर्षिस्तामपद्यत ।
अम्बालिकामथाभ्यागादृषिं दृष्ट्वा च सापि तम् ।
विषण्णा पाण्डुसंकाशा समपद्यत भारत ।

4- महाभारत आदिपर्व 100. 26 उत्तिष्ठन्न ब्रवीदेनामभुजिष्या भविष्यसि ।
अयं च ते शुभे गर्भ: श्रेयानुदरमागत: ।
धर्मात्मा भविता लोके सर्वबुद्धिमतां वर:

इसी प्रकार से जब पाण्डु च्यवन ऋषि के श्राप से ग्रसित हो गये तो कुल की निरन्तरता को बनाये रखने के लिए कुन्ती ने देवताओं का आहवान किया, सर्वप्रथम धर्मराज को आमंत्रित किया जिससे पाण्डु का पहला पुत्र धर्मशील, जनों में श्रेष्ठ युधिष्ठिर के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।[1] तत्पश्चात पवन को बुलाया जिससे भीम का जन्म हुआ ।[2] इन्द्र के द्वारा अर्जुन का जन्म हुआ।[3] माद्री ने दोनों अश्विनी कुमारों को स्मरण किया जिससे नकुल और सहदेव का जन्म हुआ ।[4] इसी प्रकार से कर्ण भी कुन्ती के प्रथम पुत्र थे सूर्य देव द्वारा उत्पन्न किये हुए ।

इन वर्णनों से ऐसा ज्ञात होता है कि महाभारतकालीन समाज में ये प्रथा सामान्य हो गयी थी ।

राबर्टलिंगट ने अपनी पुस्तक ' द क्लासिकल ला आॅव इण्डिया ' में नियोग का वर्णन करते हुए उसे पाशविक प्रवृति कहा है । यह पशु-धर्म है । उनका मत है कि विधवा को पुर्नविवाह की अनुमति नहीं थी, यदि स्त्री का पति कहीं चला गया हो तो वह उसके आने तक इन्तजार कर सकती थी इसके लिए भी समय निर्धारित था । नियोग के लिए भी व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती थी जिनका समाज में उच्च स्थान नहीं था । इस प्रकार से उत्पन्न बच्चों की माता एक थी तथा 2 विभिन्न प्रकार के पिता होते थे जिनका सम्पत्ति पर अधिकार होता था ।[5]

1- महाभारत आदि पर्व 114. 6 एष धर्मभृतां श्रेष्ठो भविष्यति न संशय: ।
युधिष्ठिर इति ख्यात: पाण्डो: प्रथमज: सुत: ।।

2- महाभारत आदि पर्व 114. 9 ततस्तथोक्ता पत्या तुवायुमेवा जुहाव सा ।
तस्माज्जज्ञे महाबाहुर्भीमो भीम पराक्रम: ।।

3- महाभारत आदि पर्व 114. 27 एवमुक्ता तत: शक्रमाजुहाव यशस्विनी ।
अथाजगाम देवेन्द्रो जनयामास चार्जुनम् ।।

4- महाभारत आदि पर्व 115. 16-17 ततो माद्रि विचार्यैव जगाय मनसाश्विनौ
....
....
तथैव तावपि यमौ वागुवाचाशरीरिणी ।।

5- राबर्टलिंगट -' द क्लासिकल ला आॅव इण्डिया, थामसन प्रेस, नई दिल्ली, 1973, पृ० 182 ।

यह प्रथा पवित्रता और यौन सम्बन्धों में स्थिरता के आदर्शों के साथ असंगत थी, इसलिए आपस्तम्ब और बौधायन ने इसका विरोध किया । मनु ने तो इसे पाश्विक कहकर निन्दा की है ।[1] यह उन प्रथाओं में से एक है जो आधुनिक युग में भी निन्दनीय मानी गयी है । यद्यपि आर्य समाज के प्रवर्तक दयानन्द सरस्वती ने नियोग की अनुमति दी परन्तु उसके अनुयायीयों ने विधवा विवाह को मान्यता दी है ।[2]

नियोग के लिए निम्न दशाएं आवश्यक थी

(1) जीवित या मृत पति को पुत्रहीन होना चाहिए ।

(2) कुल के गुरुजनों द्वारा ही निर्णित पद्धति से पति के लिए पुत्र उत्पन्न करने के लिए पत्नी को नियोजित करना चाहिए ।

(3) नियोजित पुरुष पति का भाई (देवर) सपिण्ड या सगोत्र का होना चाहिए ।

(4) नियोजित पुरुष या नियोजित विधवा में कामुकता का पूर्व अभाव एवं कर्तव्य ज्ञान का भार रहना चाहिए ।

(5) नियोजित पुरुष के शरीर पर धूल या तेल का लेप लगा रहना चाहिए, उसे न बोलना चाहिए न रति क्रीड़ा करना चाहिए ।

(6) यह सम्बन्ध केवल एक पुत्र तक ही रहना चाहिए ।

(7) पुत्र प्राप्ती के बाद नियुक्त स्त्री पुरुष का व्यवहार श्वसुर और बहू सा होना चाहिए ।

यदि ये दशाएं न हो और आनन्द प्राप्ति हेतु देवर भाभी संभोग करे तो वो बलात्कार कहा जायेगा ।[3]

1- मनु पशुधर्म 9 . 66

2- डा० राधाकृष्णन - धर्म और समाज, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1950, पृ०210

3- मनुस्मृति 9 . 58 ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान्वाग्रज स्त्रियम् ।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ।।

विधवा विवाह (पुनर्भूः)

विधवा विवाह को शास्त्रकारों ने पुनर्भू शब्द से सम्बोधित किया है अर्थात् जिसने पुर्न विवाह किया हो । विधवा के पुर्न विवाह के उदाहरण ऋग्वेद में हैं[1] ' ऐस्त्री उठो तू उसके लिए विलाप कर रही हो जो मृत्यु को प्राप्त हो चुका है । तू नये पति का वरण करो जो तुझे स्वीकारने के लिए तैयार है ।' अथर्ववेद में प्राप्त होता है कि यदि कोई स्त्री पहले दस अब्राह्मण पति करे किन्तु अन्त में यदि वह ब्राह्मण से विवाह करे तो वह उसका वास्तविक पति है । केवल ब्राह्मण ही पति है (वास्तविक) न कि क्षत्रिय या वैश्य यह बात सूर्य पंच मानवों में (पंच वर्गों या पंच प्रकार के मनुष्य गणों में) धोषित करता चलता है ।'[2]

बौधायन धर्मसूत्र[3] मे पौनर्भव पुत्र उस स्त्री का पुत्र माना है जो अपने नपुंसक या जातिच्युत पति को छोड़कर अन्य पति करती हो ।

याज्ञवल्क्य[4] पुनर्भू को दो भागों में बांटा है -

(1) जिसका पति के साथ समागम न हुआ हो ।

(2) वह जो समागम कर चुकी हो । इन दोनों का विवाह पुन: हो सकता है (पुनर्भू वह है जो पुन: संस्कृता हो)

याज्ञवल्क्य ने स्वैरिनी उसे माना है जो विवाहित पति को छोड़कर दूसरे से प्रेम करे ।

1- ऋग्वेद 10. 18. 8 उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ।।

2- अथर्ववद 5. 17. 8-9 उत यत्पतयो दश स्त्रिया: पूर्वे अब्राह्मणा: । ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत्स एव पतिरेकधा ।। ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो न वैश्य: । तत्सूर्य: प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्य: ।।

3- बौधायन धर्मसूत्र 2. 2. 31

4- याज्ञवल्क्य स्मृति 1.67 अक्षता च क्षता चैव पुनर्भू: संस्कृता पुन: ।
स्वैरिणी या पतिं हित्वा सवर्णं कामत: श्रयेत ।।

कौटिल्य[1] ने मनोहर नियम प्रतिपादित किये हैं -

विदेश गये हुए या सन्यासी या मरे हुए पति की पत्नी को सात ऋतुमास तक इन्तज़ार कर तथा यदि उसे एक बच्चा हो तो साल भर तक इन्तज़ार करके पति के सगे भाई से विवाह कर लेना चाहिए, यदि कई भाई हो तो जो पति की अवस्था के सन्निकट अवस्था वाले भाई जो भरण पोषण कर सके या वह जो सब से छोटा हो उससे विवाह कर लेना चाहिए । यदि कोई भाई न हो तो उसे सपिण्ड या सजाति वाले किसी भी व्यक्ति से विवाह कर लेना चाहिए । मनु के भी विचार इसी प्रकार के हैं[2] ।

प्राचीनतम ऐतिहासिक उदाहरणों में रामगुप्त की रानी ध्रुवदेवी का (पति के मृत्यु के उपरान्त) अपने देवर चन्द्रगुप्त II विक्रमादित्य से विवाह अति प्रसिद्ध रहा है जिसका पुत्र कुमार गुप्त I उसके बाद गद्दी पर बैठा[3] । शूद्रों एवं अन्य नीची जातियों में विधवा विवाह , पुर्नविवाह सदा से नियमानुमोदित रहा है । कुछ जातियों में ऐसे विवाह पंचायत से तय किये जाते हैं ।

नारद तथा पराशर स्मृति को एवं अग्निपुराण[4] में एक ही श्लोक प्रयुक्त है जिसके अनुसार 5 विपत्तियों में दूसरा पति आज्ञापित है -

(1) जब पति नष्ट हो जाय (उसके विषय में कुछ न सुनायी दे)
(2) पति मर जाय ।

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र (60. 4. 3) दीर्घप्रवासिन प्रव्रजितस्य प्रेतस्य वा भार्या सप्त तीर्थान्याकाङ्क्षेत, संवत्सरं प्रजाता । ततः प्रति सौंदर्य गच्छेत । बहुषु प्रत्यासन्नं धार्मिक मर्मसमर्थ कनिष्ठमभार्यं वा । तदभावेऽप्यसोदर्य सपिण्डं कुल्यं वा आसन्नयेतेषाम् एष एव क्रमः ।

2- मनुस्मृति 9. 76.

3- डा० राधाकृष्णन - धर्म और समाज, पृ० 209, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1950 दृष्टव्य अल्टेकर -' ए न्यू गुप्त किंग ' 1928, पृ० 222-253 ।

4- नारद (स्त्रीपुंस प्रकरण 97) नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ ।
पराशरस्मृति 4. 30 पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ।।
अग्नि पुराण 154. 5-6

(3) सन्यासी हो जाय

(4) नपुंसको हो जाय

(5) पतित हो ।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विधवा विवाह के कई ज्वलन्त प्रसंग प्राप्त होते हैं । त्रिशंकु एक राजा को मार कर उसकी पत्नी से विवाह किया था । जिससे उसका एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ था । दमयन्ती के दूसरे स्वयंवर में राजा ऋतुपर्व उससे विवाह करने को उत्सुक था जबकि उसे यह ज्ञात था कि वह नल की पत्नी थी । सत्यवती के पति की मृत्यु के कुछ ही समय बाद राजा उग्रायुद्ध ने उससे विवाह करना चाहा था । अर्जुन ने नाग राजा ऐरावत की विधवा कन्या से विवाह किया था उससे एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ था । जातकों में भी इस प्रकार की कई कथाएं आती हैं । कोशल के राजा ने बनारस के राजा को मार डाला और उसकी विधवा रानी जो पहले से ही एक बच्चे की मां थी अपनी पत्नी बना लिया[1] ।

विधवाओं के पुर्नविवाह सन् 300 ई0पू0 से लेकर 200 ई0 के बीच की अवधि में अलोकप्रिय हो गये । उस समय भी बाल विधवाओं को पुर्नविवाह की अनुमति थी । अलबरुनी लिखता है कि विधवाओं का पुर्नविवाह प्रथा द्वारा निषिध था और यह निषेध बढ़ाकर बाल विधवाओं पर भी लागू कर दिया गया

कुछ कालान्तर पश्चात् पश्चिमी विचारकों द्वारा लायी गयी सामाजि चेतना के जागरण का ही सुपरिणाम था कि ईश्वर चन्द्र विद्यासागर और राजा राममोहन राय ने सन् 1856 ई0 में एक आवश्यक कानून पास करवाया जिसके द्वारा कुछ विशेष दशाओं में विधवाओं के पुर्नविवाह की अनुमति दी गयी[3] । यह बात वैदिक परंपरा और व्यवहार के भावना के अनुकूल है ।

1- डा0 राधाकृष्णान -' धर्म और समाज', राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1950 पृ0 206-207

2- डा0 राधाकृष्णान -' धर्म और समाज', राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1950 पृ0 209

3- डा0 राधाकृष्णान -' धर्म और समाज', राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1950

जी० एच० मीज का मत है कि प्राचीन काल में विधवा विवाह वर्जित नहीं था । विधवा विवाह को समाज में मान्यता मिली थी । ऋग्वेद का उद्धरण देते हुए कहा है कि ऋग्वेद में वर्णन है । ऐ स्त्री उठो तू उसके पास लेटी हो जिसका जीवन समाप्त हो चुका है । जीवित संसार में लौट आओ, अपने पति (मृत) से दूर होकर उसे पति मान लो जो तुम्हें अपनाने का इच्छुक हो । इसी प्रकार से अथर्ववेद का उद्धरण देते हुए यह मत व्यक्त करते हैं कि कभी-कभी एक जाति की विधवा दूसरे जाति पुरुष से विवाह कर सकती थी[1] । किन्तु धर्मसूत्रों में विधवा से उत्पन्न सन्तान को ब्राह्मण के श्राद्ध में बुलाने को मना किया गया है अर्थात् उनको हेय समझा जाता था ।

आधुनिक भारतीय समाज में भी विधवाओं की स्थिति बड़ी ही शोचनीय होती है, वे अपने रिश्तेदारों की दासी होती है । अक्सर जाति से बहिष्कृत समझी जाती है, वे सादे वस्त्र पहनती है तथा सन्यासी जीवन व्यतीत करने को बाध्य की जाती है[2] । वे अन्य विवाहिता औरतों और बच्चों का देख-रेख (सेवा) करती है ।

1- जी० एच० मीज - धर्म एण्ड सोसायटी, पृ० 105-106, ग्रेट रसल , लन्दन

2- जी० एच० मीज - धर्म एण्ड सोसायटी, पृ० 106-107

मीज का मत है कि विधवाओं के ये दशा स्त्रियों के पतनोन्मुख स्तर का परिचायक है । एन० के० दत्त का मत है - ऋग्वेद में स्त्रियां विदुषी और ऋषि होती थी । पति के साथ विविध उत्सवों में भाग लेती थी समाज में बड़ा ही सम्मान प्राप्त था । यहां तक की वे पुजारी के स्थान पर यज्ञों का सम्पादन कर सकती थीं[1] ।

8. सती प्रथा :

समाज के आवश्यकता के अनुरूप ही नियम बने । पहले स्त्रियों की दशा बड़ी ही अच्छी थी किन्तु धीरे-धीरे उनकी दशा बिगड़ती गयी और धर्म प्रावल्य-भावना के कारण पति के मृत्योपरान्त पत्नी उसके चिता में भस्म हो जाना ही अपना धर्म समझने लगी । सवा सौ वर्ष पूर्व (सन् 1829 ई०) विधवाओं का सती हो जाना ही धर्म था । सती होने की प्रथा प्राचीन यूनानियों, जर्मनों, स्लावों एवं अन्य जातियों में भी पायी जाती थी[2] ।

विष्णु धर्मसूत्र में वर्णन है अपने पति की मृत्यु पर विधवा ब्रह्मचर्य रखती थी या उसकी चिता पर चढ़ जाती थी (अर्थात् जल जाती थी)[3]

रामायण में वर्णन है कि ब्रह्मर्षि की पत्नी एवं वेदवती की माता ने रावण द्वारा छेड़े जाने पर अपने को जला डाला[4] ।

1- एन०के०दत्त - ओरिजन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया, वाल्यूम 1, पृ० 78

2- श्रेडर का ग्रंथ - प्रीहिस्टारिक एण्टीक्वीरीज आव द आर्यन पीपुल का अंग्रेजी अनुवाद 1890 पृ० 391.
वेस्टरमार्क, ओरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट आव मारल आइडियाज़, 1906, जिल्द 1, पृ० 472-476

3- विष्णु धर्मसूत्र - 25.14-मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा

4- रामायण, उत्तर काण्ड, 17. 15

महाभारत के आदि पर्व में भी सती होने के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं। पाण्डु की प्यारी रानी माद्री ने पति के शव के साथ अपने को जला दिया।[1] विराट पर्व में कीचक के साथ जल जाने के लिए सौन्ध्री को आज्ञा दी गयी है।[2] मौसलपर्व में आया है कि वसुदेव की चार रानियां देवकी, भद्रा, रोहिणी एवं मदिरा ने अपने को पति के साथ जला डाला[3]। महाभारत में ही कपोती का सती होना अपने पति के साथ[4]।

विष्णु पुराण में लिखा है कि श्री कृष्ण की मृत्यु पर उनकी आठ रानियों ने अग्नि प्रवेश कर लिया[5]।

सती प्रथा विशेषत: राजघरानों एवं बड़े-बड़े वीरों तक ही सीमित रही है। निबन्धकारों का मत है, " ब्राह्मणों की पत्नियां अपने को केवल पतियों की चिता पर ही भस्म कर सकती है। यदि पति कहीं दूर विदेश में मर गया हो और वहीं जला दिया गया हो तो उसकी पत्नी मृत्यु के बाद अपने को जला नहीं सकती।

भागवत पुराण ने धृतराष्ट्र के शव के साथ गांधारी के भस्म होने की बात लिखी है।[6]

कालिदास ने कुमार संभव में कामदेव के भस्म होने पर उसकी पत्नी अग्नि में प्रवेश करना चाहती है किन्तु स्वार्गिक स्वर उसे ऐसा करने से रोक देते हैं।[7]

1- महाभारत, आदिपर्व 116. 31 इत्युक्त्वा तं चिताग्निस्थं धर्मपत्नी नरर्षभम्।
भद्राजात्माजा तूर्णमन्वारोहद्यशस्विनी ।।

2- महाभारत, विराट पर्व 23. 8

3- महाभारत, मौसल पर्व 8. 18

4- महाभारत, शान्ति पर्व 148

5- विष्णु पुराण, 5. 38. 2

6- भागवत पुराण 1. 13.57

7- कालिदास कुमार संभव 4. 34

बहुत से अभिलेखों में भी सती होने के उदाहरण प्राप्त होते हैं । इनमें सब से प्राचीन गुप्त संवत् 191 (510 ई०) का है ।[1] एरण प्रस्तर स्तम्भ अभिलेख जिसमें गोपराज की पत्नी का पति के साथ सति हो जाना उत्कीर्ण है । नेपाल अभिलेख (705 ई०) जिसमें धर्मदेव की विधवा राज्यवती अपने पुत्र महादेव को शासन भार संभालने को कहती है और अपने को सती कर देना चाहती है[2] । बेलतुरु अभिलेख (979 शत संवत्) जिसमें देकब्बे नामक शूद्र स्त्री अपने पति की मृत्यु पर माता-पिता के मना करने पर भी भस्म हो जाती है और माता पिता उसके स्मृति में स्तम्भ खड़ा करते हैं ।

ऐतिहासिक काल में सती प्रथा के प्रचलन का प्रमुख कारण था कि प्राचीन काल में विजित राजाओं एवं शूरों की पत्नियों की स्थिति बड़ी हो दयनीय होती थी । जीते हुए लोग विजित लोगों की पत्नियों से बदला चुकाते थे उन्हें बन्दी बनाकर ले जाते थे और उनके साथ दासी जैसा व्यवहार करते थे । मनु ने सैनिकों को युद्ध में प्राप्त रथ,हाथी,घोड़े, छत्र तथा अन्य द्रव्य वस्तुओं ,पशुओं के साथ स्त्रियों को भी पकड़ लेने की आज्ञा दी है जो जिस वस्तु को जीतता था वह उसका हो जाता था।[3] प्रभाकर वर्धन की स्त्री यशोमती अपने पुत्र हर्षवर्द्धन से वर्णन करती है कि विजित राजाओं की पत्नियां उसको पंखा झला करती थी[4] ।

चित्तौड़ तथा राजस्थान आदि अन्य स्थानों पर राजपुत्रियों और रानियों द्वारा खेले गये जौहर भी सती प्रथा का ही प्रज्वलन्त उदाहरण है । मुसलमानों के क्रूर हाथों में पड़ने तथा बलात्कार सहने की अपेक्षा राजपूतों की रानियां तथा पुत्रियां अपने को अग्नि में झोंक देती थी ।

1- गुप्त इंस्क्रिप्संस, फ्लीट, पृ० 91

2- इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, जिल्द 9, पृ० 164

3- मनुस्मृति , 7 . 96 रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धान्यं पशून्स्त्रियः ।
सर्वद्रव्याणि कूप्यं च यो यज्जति तस्य तत् ।।

4- वाणभट्ट, हर्षचरित 5 .

क्षत्रियों से यह प्रथा ब्राह्मणों में भी व्याप्त हो गयी । सतियों के लिए पुण्य फलों की चर्चा की गयी । शंखलिखित एवं अंगिरा के अनुसार जो नारी पति की मृत्यु का अनुसरण करती है वह मनुष्य के शरीर पर पाये जाने वाले रोमों की संख्या के तुल्य वर्षों तक स्वर्ग में विराजती है अर्थात् 311 करोड़ वर्ष । जिस प्रकार सँपेरा साँप को उसके बिल से खींच लेता है उसी प्रकार सती होनेवाली स्त्री अपने पति (चाहे जहाँ भी वह हो) खींच लेती है और उसके साथ कल्याण पाती है । ... सती होनेवाली स्त्री अरुन्धवती के समान ही स्वर्ग में यश पाती है[1] ।

यात्रियों एवं अन्य लोगों के लेखों से पता चलता है कि सति प्रथा बन्द होने के पूर्व, देश के अन्य भागों की अपेक्षा बंगाल में विधवाएं बहुसंख्या में जला करती थी । इसके कई कारण थे । बंगाल को छोड़कर अन्य प्रान्तों के संयुक्त परिवारों में विधवा के भरण-पोषण के अतिरिक्त सम्पत्ति में अन्य कोई अधिकार नहीं प्राप्त था किन्तु बंगाल में दाय भाग का प्रचलन था अर्थात् पुत्रहीन विधवा को संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में वही अधिकार प्राप्त था जो उसके पति का होता था । ऐसे समय में परिवार के अन्य लोग पति की मृत्यु पर पत्नी की पति भक्ति को पर्याप्त मात्रा में उत्तेजित कर देते थे जिससे वह पति की चिता में जलकर भस्म हो जाय ।

राजा राम मोहन राय इस प्रथा के प्रबल विरोधी थे, उनका मत था कि इसका मूल कारण सम्पत्ति ही है जो स्त्री के सति होने के बाद उसके परिवार वालों को प्राप्त हो जाती थी[2] ।

1- याज्ञवल्क्य 1. 86, मिताक्षरा, अपरार्क, पृ० 110
शुद्धितत्व पृ० 234, पराशर 4. 32-33 ब्रह्मपुराण 10. 76)
तिस्त: कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानुषे । तावत्कालं वसेत्स्वर्गं भर्तारं यानुगच्छति ।। व्यालग्राही यथा सर्पं बलादुद्धरते बिलात् । तद्वदुद्धृत्य सा नारी सह तेनैव मोदते ।। तत्र भर्तृपरमा स्तूयमानाप्सरोगणै: क्रीड़ते पतिना सार्धं यावदिन्द्राश्चतुर्दश ।। ब्रह्मघ्नो वा कृतघ्नो या मित्रघ्नो वा भवेत्पति: ।पुनात्यविधवा नारी तमादाय मृता तु य । मृते भर्तरि या नारी समारोहेद्धुताशनम् । सारुन्धती समाचारा स्वर्गलोके महीयते ।। यावच्चाग्नौ मृते पत्यौ स्त्री नात्मानं प्रदाध्येत् ।। तावन्न मुच्यते सा हि स्त्री शरीरात्कथंचन ।।कुकाणे, धर्मशास्त्र का इति० I, पृ 352,

सन् 1829 में लार्ड विलियम बैंटिंग ने इस पाशविक प्रथा को अवैध घोषित किया[1]।

जी० एच० मीज का मत है -- प्राचीन काल के ग्रंथों में इस प्रथा का कहीं भी उल्लेख नहीं है । रामायण और महाभारत में सति प्रथा का वर्णन राजघरानों तक सीमित था किन्तु बाद में यह प्रथा सभी के लिए मान्य हो गयी[2]।

डा० ए० एस० अल्तेकर ने इस प्रथा की बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की है । उनका मत है कि पूर्व ऐतिहासिक काल में लोगों को मृत्यु के पार की दुनिया का एहसास था । लोगों का ऐसा विश्वास था कि मृत्यु के बाद भी जीवन जीने के लिए मृतक शरीर के साथ व्यक्ति से संबंधित सम्पत्ति हाथी, घोड़े, पत्नी, दास, दासी को भी जला या दफना दिया जाता था । प्रारम्भ में ये प्रथा इन्डो योरोपियनों से सम्बन्धित थी । चीन में भी लोगों का ऐसा ही विश्वास था । जब इन्डो योरोपियन भारत आये तो यह प्रथा भी भारत में आयी । किन्तु अवेस्ता और ऋग्वेद, अथर्ववेद में इस प्रथा का कहीं भी वर्णन नहीं प्राप्त होता है । संभवत: आर्यन् यह समझने लगे हों कि यह प्रथा बर्बरतापूर्ण है । इस तथ्य के पीछे इस बात की भी संभावना हो कि उनकी संख्या भारत में कम रही हो तथा अपनी जनसंख्या बढ़ाने के लिए विधवा के सति होने पर रोक लगायी गयी हो जिससे उनका पुर्नविवाह कर जनसंख्या बढ़ सके ।

बुद्ध के काल में यह प्रथा बन्द थी । मेगस्थनीज तथा कौटिल्य ने इसका वर्णन नहीं किया है । मनुस्मृति ,याज्ञवल्क्य में विधवाओं के कर्तव्यों की सूची प्रस्तुत की गयी है । महाकाव्य काल में ही इसके प्रचुर उदाहरण प्राप्त होते हैं[3]।

5. विवाह विच्छेद :-

सर्वप्रथम कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में विवाह विच्छेद पर स्पष्ट प्रकाश डाला है । यदि पति नहीं चाहता तो पत्नी को छुटकारा नहीं मिल सकता

1- पी०वी०काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास भा; पृ० 352

2- जी० एच० मीज - धर्म एण्ड सोसाइटी, पृ० 292 ग्रेट रसल , लन्दन, 1935.

3- ए० एस० अल्टेकर - द पोजीशन आॅव वूमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन,

इसी प्रकार यदि पत्नी नहीं चाहती तो पति को छुटकारा नहीं मिल सक्ता किन्तु यदि दोनों में पारस्परिक विद्वेष है तो छुटकारा संभव है । यदि पति पत्नी से डर कर उससे पृथक होना चाहता है तो उसे (पत्नी को) विवाह के समय प्राप्त धन को देने से पत्नी से छुटकारा मिल सक्ता है । अंगीकृत रूप से (धर्म्य) विवाह का विच्छेद नहीं होता[1]। कौटिल्य ने लिखा है विवाह के ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष एवं दैव नामक चार प्रकार धर्म्य है क्योंकि वे पिता के प्रमाण द्वारा स्वीकृत अथवा किये जाते हैं । किन्तु यदि विवाह गान्धर्व, असुर एवं राक्षस प्रकार के हैं तो विद्वेष उत्पन्न होने पर एक दूसरे की सम्मति से उनमें विच्छेद हो सक्ता है ।

पश्चात्यकालीन स्मृतियों एवं निबन्धकारों में नारद का मत है कि नपुंसक, सन्यासी एवं जातिच्युत पति को पत्नी छोड़ सक्ती है किन्तु याज्ञवल्क्य की टीका में मिताक्षर का मत है कि जब पति पतित हो जाय (जातिच्युत) तब पत्नी उसके नियंत्रण से बाहर रहती है किन्तु उसे तब तक जोहते रहना चाहिए जब तक वह पुनः पवित्र न हो जाय और जाति में न ले लिया जाय[2]।

डा० ए० एस० अल्टेकर ने अपनी पुस्तक में स्त्री पुरुष के दूसरे विवाह को विवाह विच्छेद का एक विकल्प माना है । अपने ग्रंथ में दूसरे विवाह, विधवा विवाह और पुर्न विवाहों का वर्णन भी इसी के अन्तर्गत किया है[3]।

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र (अनु० वाचस्पति गैरोला)
59. 3. 5(विवाह सम्बन्ध 2)
अमोक्ष्या भर्तुरकामस्य द्विषतीभार्या, भार्यायाश्चभर्ता । परस्परं द्वेषान्मोक्षः
59. 3. 6 स्त्री विप्रकाराद् वा पुरुषाश्चेन्मोक्षमिच्छेद, यथागृहीतमस्यै दद्यात् । पुरुषं विप्रकाराद् वा स्त्री चेन्मोक्षमिच्छत् नास्यै यथागृहीतं दद्यात् । अमोक्षो धर्मविवाहानाम् । इति द्वेषः ।

2- याज्ञवल्क्य स्मृति 1. 77 स्त्रीभिर्भर्तृवचः कार्यमेष धर्मः परः स्त्रियाः ।
आशुद्धेः संप्रतीक्ष्ये हि महापातक दूषितः ।।

3- डा० ए०एस०अल्टेकर - द पोजीशन आव वूमेन इन एंशियण्ट इण्डिया, पृ० 83-84 ।

डा० राधाकृष्णन के एक आख्यान का अंश है जिसका उनकी पुस्तक "धर्म और समाज" में वर्णन प्राप्त होता है कि "सामान्यतया विवाह सम्बन्ध को स्थायी समझा जाना चाहिए। तलाक का आश्रय केवल उन अत्यधिक कठिन मामलों में किया जाना चाहिए जहाँ विवाहित जीवन बिलकुल असंभव हो गया हो। तलाक एक ऐसी उग्र औषधी है जो व्यक्ति के अपने जीवन को तो जड़ से हिला ही देती है साथ ही दूसरों के जीवन पर भी प्रभाव डालती है। बच्चों के हितों को दृष्टि में रखकर विवाह के बन्धन को स्थायी समझना चाहिए। विवेकशील माता पिता स्वयं काफी कष्ट सहकर भी अपने बच्चों को मनोवेगात्मक दबाव और स्नायु दौर्बल्य से बचाने का यत्न करेंगे। जहाँ विवाह के बाद यदि सन्तान न भी हुई हो तो भी तलाक बेरोक टोक नहीं दिया जाना चाहिए। जोखिम और कठिनाईयाँ मानव जीवन का अंग है और स्त्री पुरुष दोनों को सहयोग से इनका सामना करना चाहिए दोनों में एक से दोष दुर्बलताएं और इच्छाएं होती हैं और समंजन (तालमेल) एक लम्बी प्रक्रिया है। कैथोलिक चर्च में विवाह के समय स्त्री पुरुष एक दूसरे की ओर झुकते हैं दोनों के सिर पर क्रास और तलवार रखी जाती है। क्रास का तात्पर्य करुणा साहसपूर्ण विश्वास का प्रतीक है तलवार का तात्पर्य है कि क्रास के कानून के उलंघन का दण्ड उन्हें अवश्य भुगतना पड़ेगा। इस प्रकार से यह प्रेम सहानुभूति और साहस का प्रतीक है। केवल कुछ विशिष्ट दशाओं में ही तलाक की अनुमति देनी चाहिए जैसे परित्याग स्वाभाविक क्रूरता, व्यभिचार, पागलपन और असाध्य रोग में ही विवाह को रद्द करने की अनुमति देनी चाहिए।[1]

गृहत्याग - (वनवासी जीवन व्यतीत करना) :

महाकाव्यों में स्त्रियों के एक और आपद्धर्म का वर्णन किया गया है जो स्त्रियाँ गृह लक्ष्मी थी, महारानी थी उनको आपात्काल में वन-वन

1- डा० राधाकृष्णन - धर्म और समाज , पृ० 216-217
राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1950 ।

भटकना पड़ा । वनवासी जीवन व्यतीत करना पड़ा और पुरुष के उपेक्षाओं का शिकार होना पड़ा ।

वाल्मीकी रामायण में वर्णन है कि सीता 14 वर्ष वन में रही । इसी दौरान रावण उनका अपहरण कर लंका ले गया । वहाँ अनन्य दुःखों का सामना करने के उपरान्त जब राम ने विजय की तो पुनः सीता को राम के साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । उस दुःखी सीता को राम की उपेक्षा का भी शिकार होना पड़ा जब राम ने उनके सतीत्व पर सन्देह प्रकट किया तो सीता सतीत्व परीक्षा के लिए अग्नि में प्रवेश किया ।[1] पुनः वर्णन प्राप्त होता है कि लोकोपवाद के डर से जब राम ने सीता का परित्याग किया उस समय वह रानी होकर वनवासी जीवन बिताते हुए अपने पुत्रों (लव कुश) का वनवासियों के सदृश्य पालन-पोषण किया[2] ।

महाभारत में द्रौपदी का उदाहरण दृष्टव्य है जो महारानी होकर भी अज्ञातवास के समय विराट रानी का दासत्व स्वीकार की थी।[3]

शोध ग्रंथ के सभी अध्यायों में स्त्री और पुरुष के समान महत्वों का वर्णन किया गया है किन्तु प्राचीन काल से आज तक सर्वत्र पुरुष प्रधान समाज का ही बोल बाला रहा है । पुरुषों के जीवन काल (उपस्थिति) में स्त्रियों की दशा बड़ी ही सम्मानजनक रही है किन्तु पुरुषों के मरणोपरान्त , विदेश प्रवास या अनुपस्थिति में उनकी दशा बड़ी ही दयनीय हो जाती थी । इस अध्याय में उस दशा विशेष का ही वर्णन स्त्री के आपद्धर्म के अन्तर्गत किया गया है ।

1- वाल्मीकि रामायण , युद्ध काण्ड, 116. 34
2- वाल्मीकि रामायण , उत्तर काण्ड, 66. 11-12
3- महाभारत ।। खण्ड , वन पर्व, विराट पर्व 3. 17

(स) कुल धर्म -

वैवाहिक जीवन की संपूर्णता पुत्र उत्पन्न से ही मानी जाती है । मनुस्मृति में पुत्र का बड़ा ही महत्व है । 'पुत्र' शब्द के व्युत्पत्ति के विषय में यह मत प्रचलित है कि 'पुं' नामक नरक से अपने पिता को तारने के कारण पुत्र कहलाता है[1] । पुत्र का मुख देखकर व्यक्ति अपने पितृ ऋण से मुक्त हो जाता है । मृत्युपरान्त श्राद्ध कर्म, पिण्ड दान और वैदिक कर्म काण्डों के कारण पुत्र से इस लोक में विजयी होता है । पुत्र के जन्म से मनुष्य स्वर्गादि को पाता है ; पौत्र के जन्म से दीर्घकाल तक स्वर्ग में रहता है और प्रपौत्र के उत्पन्न होने से सूर्य लोक को पाता है[2] ।

आपद् कुल धर्म (वर्ण संकर सन्तानों से विविध जातियों का उद्भव) :-

कुछ विद्वानों का मत है कि भारत में आर्यों के आगमन के समय उनकी संख्या बहुत ही कम थी । आर्य अपने वंश परंपरा को कायम रखने के लिए अपनी सुविधानुसार नियम बनाये तथा बहुसंख्यक होने पर नियमों में परिवर्तन भी किये । अपनी संख्या वृद्धि के लिए उन्होंने बहुत से नियमों का प्रतिदान किया जिससे संतान रहित व्यक्ति या विधवा स्त्री संतान प्राप्त कर सके, जो उनके मृत्युपरान्त श्राद्ध कर्म पिण्ड दान आदि करे । ऐसे कृत्रिम संतानों को भी सूत्रकारों, स्मृतिकारों, निबन्धकारों द्वारा वैधता प्राप्त हुई क्योंकि इसकी रचना करनेवाले आर्य पुरुष ही थे[3] ।

1- मनुस्मृति - अनु० गणेशदत्त पाठक, ठाकुर प्रसाद एण्ड संस, वाराणसी, संवत् 2031
9. 138 पुन्नाम्नो नरकाधस्मात्त्रायते पितरं सुत: ।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्त: स्वयमेव स्वयंभुवा: ।।

2- मनुस्मृति 9. 137 - पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते ।
अथ पुत्रस्य पौत्रेय ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ।।

3- दृष्टव्य - डा० ए० एस० अल्टेकर - द पोजीशन आव वूमेन इन एंशियण्ट इण्डिया, पृ० 117, 144,145.

इस अध्याय में इन कृत्रिम उपायों द्वारा संतान प्राप्त करने की विधि को ही आपद् कुल धर्म कहा गया है (इसी द्वारा कुल की रक्षा हो सकी) इसके अनियमन से समाज में वर्ण संकरता का प्रादुर्भाव हुआ और समाज में विविध जातियों का उद्भव हुआ । इसका संक्षिप्त परिचय पूर्व अध्याय में है यहां पुत्रों के वर्गीकरण का उल्लेख है ।

आपद् कुल धर्म के महत्वपूर्ण तत्व :-

।1। नि: संतान पति के मृत्योपरान्त या पति की अयोग्यता की अवस्था में नियोग विधि द्वारा (इसके प्रचारक थे राजा वेन);

।11। पत्नी के मृत्योपरान्त या अयोग्यता की अवस्था में पुरुष के दूसरे विवाहोत्सव द्वारा (विवाह अनुलोम या प्रतिलोम हो सकते थे) प्रचारक श्वेतकेतु थे)

।111। नि:संतान दम्पत्ति पुत्र गोद लेकर कुल की रक्षा करे ।

इन्हीं नियमों के प्रतिपादन व अनियमन से वर्ण संकरता व विविध जातियों का प्रादुर्भाव हुआ ।

(1) नि:संतान पति के मृत्योपरान्त या पति की अयोग्यता में पुत्र प्राप्त करने का विधि :

नियोग प्रथा :- नि:संतान पति के मृत्योपरान्त (या पति की अयोग्यता की अवस्था में) वंश रक्षा के लिए (आपद्काल में) आपस्तम्ब धर्मसूत्र में वर्णन है कि पति के कुल में प्रवेश करनेवाली स्त्री को दौत्रज पुत्र की इच्छा से उस गोत्र से भिन्न गोत्रवाले पुरुष से नियोग के लिए सम्बन्ध नहीं करना चाहिए ; अर्थात् पति के ही गोत्र के पुरुष से नियोग की आज्ञा देनी चाहिए,[1] क्योंकि कहा गया है कि कन्या एक कुल को दी जाती है न कि मात्र पति को।[2] इसमें आगे वर्णन है कि

1- आपस्तम्ब धर्मसूत्र - अनु० उमेश चन्द्र पाण्डे, चौखम्बा संस्कृत सीरीज,
2. 26. 2 - सगोत्रस्थानीया न परेभ्यस्समाचक्षीत ।।

2- 2. 26. 3 - कुलाय ही स्त्री प्रदीयत इत्युपदिशान्ति ।।

इस विधि द्वारा प्राप्त पुत्र की अपेक्षा वैवाहिक पवित्रता (शुद्धता) के नियमों का निर्वाह करने का परलोक में प्राप्त फल श्रेयस्कर होता है [1] । गौतम धर्म सूत्र [2], मनुस्मृति [3], महाभारत [4] में भी इसका वर्णन प्राप्त होता है ।

कुछ आचार्यों का मत है कि देवर के अतिरिक्त किसी अन्य से सन्तान की इच्छा न करे । एक सन्तान के बाद दूसरी सन्तान उत्पन्न न करे । इस प्रकार से उत्पन्न पुत्र उत्पन्न करनेवाले का होता है (क्षेत्री अर्थात् जिसकी पत्नी हो उसका नहीं) यदि नियोग के पूर्व ही निश्चित किया गया हो तो वह पुत्र क्षेत्री का भी हो सकता है (ये क्षेत्री के रोगी, वन्ध्य या प्रार्थना पर) देवर के अतिरिक्त किसी अन्य से उत्पन्न की गयी सन्तान उत्पन्न करनेवाले की होती है अर्थात् बीजी और स्त्री दोनों की ही होती है किन्तु यदि पालन पोषण क्षेत्री करे तो वह सन्तान उसी की होती है [5] ।

मनु ने इस नियोग व्यवस्था पर बड़ी ही सुन्दर टिप्पणी की है । उन्होंने इस प्रथा को बड़ी ही घृणित तथा निन्दनीय माना है । इसके लिए उन्होंने विशेष विधि की व्याख्या की है और इस प्रकार से उत्पन्न पुत्रों को उत्तम कोटि का नहीं माना है । मनुस्मृति में व्यक्तियों की मर्यादाओं का उल्लेख हुआ है । इस समय यौन स्वेच्छाचारिता पर प्रतिबन्ध लग गया था । मनु का मत है कि अत्यन्त आपत्तिकाल में (मात्र वंश चलाने के लिए) ही नियोग

1- आपस्तम्ब धर्मसूत्र - अनु० उमेश चन्द्र पाण्डे, चौखम्बा संस्कृत सीरीज
2. 26. 6 - नियमारम्भणो हि वर्षीयानभ्युदय एवमारम्भणादपत्यात् ।

2- गौतम धर्मसूत्र - 2. 9. 4, 5, 6.

3- मनुस्मृति 9. 59

4- महाभारत आदि पर्व 1. 53, 54, 55, 69 ।

5-गौतम धर्मसूत्र 2. 9. 7. 14 नादेवरादित्येके । नाति द्वितीयम् । जनयितुरपत्यम् समयादन्यस्य । जीवतश्च क्षेत्रे । परस्मात्तस्य । द्वयोर्वा । रक्षणात्तु भर्तुरेव ।

अनु० उमेश चन्द्र पाण्डे, चौखम्बा संस्कृत सीरीज)

होना चाहिए, सामान्य दशा में यह अत्यन्त घृणित तथा निन्दनीय प्रथा थी । इसमें वर्णन प्राप्त होता है कि बड़े भाई की स्त्री छोटे भाई की गुरु पत्नी तुल्य होती है और छोटे भाई की पत्नी बड़े भाई के लिए स्नुषा (पुत्रवधू) तुल्य होती है[1] । अतएव यदि बिना आपत्तिकाल नियुक्त किये ये दोनों परस्पर सम्भोग करें तो पतित हो जाते हैं[2] । मनुस्मृति में नियोग के लिए विशेष विधि का भी वर्णन है कि नियुक्त पुरुष अपने शरीर में घी लगाकर मौन रहकर रात्रि में विधवा स्त्री में मात्र एक सन्तान ही उत्पन्न करे, दूसरे को नहीं[3] । विधवा स्त्री में गर्भ रहने के बाद पुन: दोनों का व्यवहार (स्त्री-पुरुष का) गुरु और स्नुषा (पुत्रवधू) की भाँति होना चाहिए[4] । यहाँ पर यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि इस समय के बाद दोनों की स्थिति पुन: पूर्ववत हो जाती थी । अत: मानव जीवन बड़ा ही संयम और अनुशासनबद्ध था । पुन: मनुस्मृति में ऐसा वर्णन प्राप्त होता है कि द्विजातियों को विधवा स्त्री का नियोग दूसरे से नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से सनातन (पतिव्रता) धर्म का नाश होता है[5] । इससे यह ज्ञात होता है कि उस समय मनुष्य अपने वर्णों की पवित्रता का बड़ा ही ध्यान रखते थे ।

1- मनुस्मृति 9 . 57 भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा ।
यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ।।
अनुवादक - गणश दत्त पाठक

2- मनुस्मृति 9 . 58 ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान्वाग्रजस्त्रियम् ।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ।।

3- मनुस्मृति 9 . 60 विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि ।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथंचन ।।
अनु0- गणेश दत्त पाठक

4- मनुस्मृति 9 . 62 विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि ।
गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ।।

5- मनुस्मृति 9 . 64 नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभि: ।
अन्यस्मिन्हि नियुञ्जाना धर्मं हन्यु: सनातनम् ।।

मनु ने नियोग की विधि को अवैध क्रिया और पशु धर्म कहा है । उनका मत है कि विवाह के वेदोक्त मन्त्रों में नियोग कहीं नहीं लिखा है और न तो विवाह विधायक शास्त्रों में कहीं भी विधवा विवाह का उल्लेख है।[1] मनु ने राजा वेन को इसका संचालक माना है । राजा वेन के शासन काल में (प्रचलित) मनुष्यों के लिए कहे गये इस पशु धर्म की विद्वान द्विजो ने निन्दा की है ।[2] इसमें आगे वर्णन है कि समस्त पृथ्वी का पालन करते हुए राजर्षि प्रवर वेन ने काम से नष्ट बुद्धि होकर (मनुष्यों को भाई की स्त्री के साथ सम्भोग का नियम चालू कर) वर्णसंकर बनाया ।[3] तब से (वेन के शासन काल से) जो मनुष्य मृत पतिवाली विधवा स्त्री को सन्तान के लिए मोहवश (देवर आदि के साथ) नियुक्त करता है उसकी सज्जन लोग निन्दा करते हैं ।[4] इन वर्णनों से यह स्पष्ट होता है कि उस समय द्विजो में यह क्रियाकलाप बहुत ही निन्दनीय तथा हेय समझा जाता था । अन्तत: इस विषय पर मनु का यह मत था कि यदि पति की मृत्यु हो जाती है तो देवर उस कन्या से विधिपूर्वक विवाह करने के बाद ही सम्भोग करे[5] ।

मनु ने इसको अवैध करार देते हुए अपने मत पर जोर दिया है कि यदि एक माता पिता से उत्पन्न सहोदर भाईयों में यदि एक भाई

1–मनुस्मृति 9 . 65 नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोग: कीर्त्यते क्वचित् ।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुन: ।।

2– मनुस्मृति 9 . 66 अयं द्विजैर्हि विद्वद्भि: पशुधर्मो विगर्हित: ।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ।।

3– मनुस्मृति 9 . 67 स महीमखिलां भुञ्जन्राजर्षिप्रवर: पुरा ।
वर्णानां सङ्करं चक्रे कामोपहतचेतन: ।।

4– मनुस्मृति 9 . 68 तत: प्रभृति यो मोहात्प्रमीत पतिकां स्त्रियम् ।
नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधव: ।।

5– मनुस्मृति 9 .70 यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिव्रताम् ।
मिथो भजेताप्रसवात्सकृत्सकृदृतावृतौ ।।

अनुवादक – गणेश दत्त पाठक ।

को पुत्र हो तो उसी से अन्य पुत्रहीन भाई भी पुत्रवान होते हैं[1]। इसी प्रकार से यदि एक पति वाली कई स्त्रियों में से एक स्त्री को पुत्र उत्पन्न हो जाय तो अन्य सभी स्त्रियां भी उसी से पुत्रवती होती है[2]। इन वर्णनों से ऐसा ज्ञात होता है कि संभवत: विद्वानों तथा अन्य उच्च वर्णों में यही प्रथा प्रचलित रही हो ।

डा० ए० एस० अल्टेकर का मत है कि यह नियोग प्रथा विश्व की अन्य सभ्यताओं में भी दृष्टिगत होती है जैसे स्पार्टा; यहूदी विधवाएं बिना किसी समारोह के अपने देवरों की पत्नियां बन सकती थी[3]। नियोग से उत्पन्न पुत्र अपने पितृ कुल का प्रतीक होता था । यदि स्त्री अनिच्छुक है, नियोग करवाना नहीं चाहती तो कोई बाध्यता नहीं थी । नियोग कुल के प्रति स्त्री का मात्र कर्तव्यबोध था न कि इच्छातुष्टि की धारणा । कुछ शास्त्रकारों की धारणा थी कि नियोग से उत्पन्न पुत्र की उपेक्षा गोद लिया पुत्र ज्यादे उत्तम होता था[4]।

स्त्री अपहरण कर पुत्र प्राप्त करना :

विष्णु पुराण में वर्णन है कि बृहस्पति की धर्म पत्नी तारा थी । चन्द्रमा ने तारा का अपहरण कर लिया और तारा द्वारा चन्द्रमा को बुद्ध नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसे चन्द्रमा ने अपनाया[5]।

1- मनुस्मृति 9.182 भ्रातृणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत् ।
सर्वांस्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणो मनुरब्रवीत ।।

2- मनुस्मृति 9.183 सर्वासामेक पत्नी नामेका चेत्पुत्रिणी भवेत् ।
सर्वास्तास्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनु: ।।

3- स्पेन्सर, सोशियोलाजी, पृ० 661

4- डा० ए० एस० अल्टेकर - द पोजीशन आव वूमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वाराणसी, पटना, 1938 पृ० 143, 144, 147, 148 ।

5- श्री विष्णु पुराण 6.31-33 अथ भगवान पितामह: तं कुमारं सन्निवार्य स्वयमपृच्छत्तां ताराम् ....
.... साधु साधु वत्स प्राज्ञोऽसीति बुद्ध इति तस्य च

स्त्रियों की अयोग्यता से कुल रक्षा के लिए पुरुषों के पुर्नविवाह का अधिकार :

कौटिल्य ने पुरुषों को दूसरे विवाह की अनुमति उस दशा में दी है जब स्त्री पुत्र उत्पन्न के योग्य न हो । कौटिल्य का मत है यदि किसी स्त्री की सन्तान न होती हो या उसके अन्दर सन्तान पैदा करने की शक्ति न हो तो पति को चाहिए कि वह आठ वर्ष तक सन्तान होने की प्रतीक्षा करे । यदि स्त्री मरे हुए बच्चे ही जने तो दस वर्ष तक और यदि उसको कन्यायें ही पैदा हो तो बारह वर्ष तक इन्तजार करना चाहिए ; उसके बाद पुत्र की इच्छा करनेवाला पुरुष पुर्नविवाह कर सकता है । जो भी पुरुष इस नियम का उल्लंघन करे उसे दहेज में मिला हुआ धन, स्त्री धन, अतिरिक्त धन अपनी पहली स्त्री को गुजारे के लिए देना चाहिए । इसके अतिरिक्त वह चौबीस पण तक जुर्माना सरकार को अदा कर सकता है[1] ।

पुत्रों के प्रकार :-

धर्मसूत्रों, कौटिल्य अर्थशास्त्र, स्मृतियों एवं महाकाव्यों में विविध प्रकार के पुत्रों का वर्णन प्राप्त होता है ।

बौधायन धर्मसूत्र में इन विविध प्रकार के पुत्रों की सूची दी गयी है -

दत्तक पुत्र :- इसमें वर्णन है कि माता पिता द्वारा पालनेवाले को दिया गया पुत्र दत्तक पुत्र कहलाता है[2] ।

कृत्रिम पुत्र :- इसी प्रकार समान जातिवाले का पुत्र किसी कार्य (श्राद्ध कर्म) को करने के लिए ग्रहण किया गया पुत्र कृत्रिमपुत्र कहलाता है ।

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 3. 58 2. 6,7 (विवाह सम्बन्ध)
वर्षाण्यष्टावप्रजायमानामपुत्रां बन्ध्यां चाकाङ्क्षेत् दस बिन्दु, द्वादश कन्याप्रसविनीम् ।
ततः पुत्रार्थी द्वितीयां विन्देत् । तस्यातिक्रमे शुल्कं स्त्रीधन-मर्धंचाधिवेदनिकं दद्यात् । चतुर्विंशतिपणपरं च दण्डम् ।
अनु० वाचस्पति गैरोला, पृ० 264

2- आगे देखें - 1-7- बौधायन धर्मसूत्र 2. 2. 19-28 (अनु० उमेश चन्द्र पाडिय)

अपविद्ध पुत्र :- माता-पिता दोनों द्वारा या किसी एक द्वारा त्यक्त पुत्र को यदि कोई स्वीकार कर ले तो वह अपविद्ध पुत्र कहलाता है ।[2]

कानीन पुत्र :- अविवाहित कन्या का अपने मायके में उत्पन्न पुत्र उसके विवाहित पति का कानीन पुत्र कहलाता है ।[3]

सहोढ़ पुत्र :- ज्ञात या अज्ञात अवस्था में जो गर्भवती कन्या विवाह के उपरांत उस गर्भ से उत्पन्न पुत्र को उसके पति का सहोढ़ पुत्र कहते हैं ।[4]

क्रीत पुत्र :- माता-पिता मूल्य देकर जिस पुत्र को खरीद के ले वह क्रीत पुत्र है ।[5]

पौनर्भव पुत्र :- अपने पति द्वारा त्यक्त पत्नी यदि अपनी इच्छा से किसी अन्य व्यक्ति द्वारा पुत्र उत्पन्न करे तो उसे पौनर्भव पुत्र कहते हैं ।[6]

स्वयंदत्त: पुत्र :- जो पुत्र माता-पिता विहिन है और वह अपने को दूसरे पुरुष को समर्पित करे तो वह स्वयंदत्त: पुत्र कहलाता है ।[7]

निषाद पुत्र :- ब्राह्मण पुरुष और शूद्र पत्नी द्वारा उत्पन्न पुत्र निषाद कहलाता है ।

पारशव पुत्र :- स्वविवाहिता व्यक्ति यदि कामवश शूद्रा में जिस पुत्र को उत्पन्न करता है पाराशव अर्थात् जीता हुआ भी मरे हुए के समान पाराशव पुत्र कहलाता है ।[8]

1-7 बौधायन धर्मसूत्र 2.2.19-28 (अनु० उमेश चन्द्र पाण्डेय)
माता पितृभ्यां दत्तोऽन्यतरणे वा योऽपत्यार्थे परिगृह्यते स दत्त: । सदृशं य सकामं कुर्यात्स कृत्रिम: । गृहे गूढोत्पन्नोऽन्ते ज्ञातो गूढज: । माता पितृभ्यानुत्सृष्टोऽन्यतरेण वा योऽपत्यार्थे परिगृह्यते सोऽपविद्ध: । असंस्कृतामनतिसृष्टां या मुपयच्छेत्तस्यां यो जातस्य कालीन: । या गर्भिणी संस्क्रियते विज्ञाता वाऽविज्ञाता वा तस्यां यो जात: स सहोढ़ । माता पित्रोर्हस्ता क्रीतो ऽन्यतरेण वा योऽपत्यार्थे परिगृह्यते सक्रीत: । क्लीवं त्यक्त्वा पतितं वा याऽन्यं पतिं विन्देत्तस्यां पुनर्भ्वां यो जातस्य पौनर्भव: । माता पितृविहीनो य: स्वयमात्मानं दद्यात्स स्वयंदत्त: ।

8- बौधायन धर्मसूत्र 2.2.29,30
द्विजाति प्रवराच्छूद्रायां जातो निषाद: । कामात्पारशव इति पुत्र:

इस प्रकार से औरस, पुत्रिका पुत्र, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढ़ज, अपविद्ध, सहोढ़ आदि प्रकार के पुत्रों को पिता के धन का थोड़ा-थोड़ा अंश मिलना चाहिए । इसी प्रकार से कानीन सहोढ़, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त, निषाद आदि को पिता का गोत्र (बान्धव मात्र होते हैं) मिलना चाहिए ।[1]

पुत्रों के इन प्रकारों का वर्णन कौटिल्य अर्थशास्त्र, मनुस्मृति,[2] महाभारत[3] में भी हुआ है ।

<u>वर्णसंकर सन्तानों द्वारा विविध जातियों का अभ्युदय :</u>

जब एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण की स्त्री के साथ समागम करता है तो उससे उत्पन्न पुत्र को शास्त्रकारों ने वर्णसंकर सन्तानों की संज्ञा दी है तथा इन पुत्रों को विविध प्रकार की जातियों के अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था में गठित किया गया ।

वर्णसंकर सन्तानों का [illegible] गया था ।

(अ) <u>(1) अनुलोमज</u> - उच्च वर्ण के पुरुष का निम्न वर्ण की स्त्री से विवाह से उत्पन्न सन्तान ।

<u>(2) प्रतिलोमज</u> - उच्च वर्ण की स्त्री का निम्न वर्ण के पुरुष के विवाह से उत्पन्न सन्तान ।

(ब) <u>(1) सवर्ण</u> - अपने वर्ण का व्यवधान से उत्पन्न पुत्र (ब्राह्मण पति और क्षत्रिय पत्नी) ।

<u>(2) असवर्ण</u> - अपने बाद एक वर्ण के व्यवधान से उत्पन्न पुत्र- ब्राह्मण पति और वैश्य पत्नी ।

1- बौधायन धर्मसूत्र 2.2.31 - औरसं पुत्रिकापुत्रं क्षेत्रजं दत्त कृत्रिमौ ।
गूढ़जं चापविद्धं च रिक्थभाजः प्रचक्षते ।।

,, 2.2.32 - कानीनं च सहोढं च क्रीतं पौनर्भवं तथा ।
स्वयंदत्तं निषादं च गोत्रभाजः प्रचक्षते ।।

कौटिल्य अर्थशास्त्र 3.63.7 4-7 तस्य धर्मा बन्धुना ..... शूद्रायामुग्रः
अनुवादक - वाचस्पति गैरोला, पृ० 282-283

2- मनुस्मृति - 9. 167-178 ।

3- महाभारत, दान पर्व 49. 20-23 ।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में इस प्रकार के विविध वर्णसंकर पुत्रों का वर्णन प्राप्त होता है । इसमें सवर्ण और असवर्ण पुत्रों की चर्चा की गयी है । ब्राह्मण और क्षत्रिय के अनन्तर (ब्राह्मण के लिए क्षत्रिय और क्षत्रिय के लिए वैश्य) जाति की स्त्री से उत्पन्न सवर्ण सन्ताने और एक जाति के व्यवधान से अर्थात् ब्राह्मण से वैश्य स्त्री या क्षत्रिय से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र असवर्ण समझे जायेंगे।[1] कौटिल्य ने पुन: कई प्रकार की सन्तानों की चर्चा की है जिससे विविध जातियों का निर्माण हुआ ।

<u>अम्बष्ठ :-</u> ब्राह्मण से वैश्य पत्नी में उत्पन्न सन्तान अम्बष्ठ कहलाता है ।

<u>निषाद या पारशव :-</u> ब्राह्मण से शूद्र पत्नी में उत्पन्न सन्तान निषाद या पारशव कहलाता है ।

<u>उग्र :-</u> क्षत्रिय से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र उग्र कहलाता है ।[2]

<u>शूद्र:-</u> वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न पुत्र शूद्र ही मानी जायेगी ।[3]

<u>आयोगव, क्षत्त, चाण्डाल :-</u> शूद्र द्वारा वैश्या, क्षत्रिया तथा ब्राह्मणी में उत्पन्न पर क्रमश: आयोगव,क्षत्ता और चाण्डाल कहलाते हैं ।[4]

<u>मागध, वैदेहक :-</u> वैश्य द्वारा क्षत्रिया तथा ब्राह्मणी में उत्पन्न पुत्र: क्रमश: मागध और वैदेहक कहलाते हैं ।[5]

<u>सूत :-</u> क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मणी में उत्पन्न पुत्र सूत कहलाता है ।[6] कौटिल्य का मत है कि पुराणों में वर्णित सूत और मागध इन जातियों

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र, दाय विभाग(3) 3 63.7. 6 ब्राह्मण क्षत्रिय योरनन्तरा पुत्रा: सवर्णा:, एकान्तरा असवर्णा: ।
अनु० - वाचस्पति गैरोला (पृ० 283)

2- कौटिल्य अर्थशास्त्र 3. 63. 7. 7 ब्राह्मणस्य वैश्यायामम्बष्ठ: शूद्रायां निषाद: पारशवो वा क्षत्रियस्य शूद्रायामुग्र: ।

3- ,, ,, 3. 63. 7.8 शूद्र एव वैश्यस्य ।

4- ,, ,, 3. 63. 7.2 शूद्रादायोगवक्षत्तृचण्डाला: ।

5- ,, ,, 3. 63. 7.3 वैश्यान्मागध वैदेहकौ ।

6- ,, ,, 3. 63. 7.4 क्षत्रियात् सूत: ।

से सर्वथा भिन्न है वे ब्राह्मण और क्षत्रियों से श्रेष्ठ समझे जाते हैं ।[1] कौटिल्य ने पुन: इन वर्णसंकर जातियों से उत्पन्न स्त्री पुरुषों के परस्पर सम्मिलन ने अनेक उपजातियों की भी चर्चा की है ।

कुक्कुट :- (क्षत्रिय शूद्रा से उत्पन्न) उग्र पुरुष द्वारा निषाद जाति की स्त्री में उत्पन्न बालक कुक्कुट कहलाता है ।

पुल्कस :- निषाद पुरुष से उग्रा स्त्री में उत्पन्न बालक पुल्कस कहलाता है ।

वैण :- अम्बष्ठ पुरुष से वैदेहिका स्त्री में उत्पन्न बालक वैण कहलाता है।

कुशीलव :- वैदेहक पुरुष से अम्बष्ठा स्त्री में उत्पन्न बालक कुशीलव कहलाता है । इसी प्रकार उग्र क्षत्ता से श्वापक आदि आवन्तर संकर जातियों के सम्बन्ध समझना चाहिए । वैण्य कर्म करने से रथकार कहा जाता है ।[2]

कौटिल्य का मत है कि जब राजा धर्म भ्रष्ट हो जाता है तभी ये प्रतिलोम वर्णसंकर सन्ताने पैदा होती है । उक्त संकर वर्णों का विवाह अपनी ही जाति में होना चाहिए । वे धर्म का निर्णय करने में अपने पूर्वजों का अनुगमन करे । चाण्डालों को छोड़कर सभी संकर जातियों का धर्म शूद्रों के ही समान समझना चाहिए ।[3] कौटिल्य का पुन: मत है कि इन सभी संकर जातियों में जायदाद का बराबर-बराबर हिस्सा होना चाहिए । इन्होंने कहा कि देश-जाति-संघ और गांव को भी प्रमाण माना है जैसी वहां की धर्म नीति हो वैसा ही दाय विभाग मिले । मनु ने भी इसका समर्थन किया है[4]।

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र, दाय भाग (3) 3.63.7.5

2- ,, ,, 3.63.7.7 उग्रान्नैबाधां कुक्कुट: विपर्यये पुल्कस: । वैदेहिकायाम्बष्ठाद् वैण: विपर्यये कुशीलव: । क्षत्तायामुग्राच्छ्वपाक: । इत्येतेऽन्ये चान्तराला: । कर्मणा वैन्यो रथकार: ।

3- ,, ,, 3.63.7.8 तेषां स्वयौनौ विवाह पूर्वापरगामित्वं वृत्तानुवृत्तं च स्वधर्मान् स्थापयेत् । शूद्रसधर्माणो वा अन्यत्र चण्डालेभ्य: ।

अनुवादक - वाचस्पति गैरोला(पृ० 284)

4- मनुस्मृति 10.15-39 ।

महाभारत[1] तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में भी इसी प्रकार के विविध वर्णसंकर पुत्रों का वर्णन वर्ण जाति विवेक प्रकरण के अन्तर्गत किया गया है । इसमें भी अनुलोमज सन्तानों को श्रेष्ठ (उच्च वर्ण के पिता निम्न वर्ण की माता) तथा प्रतिलोमज पुत्रों को निन्दित कहा गया है ।[2]

डा० पी०वी० काणे ने अपनी पुस्तक धर्मशास्त्र के इतिहास (।) में वर्णशंकर[3] सन्तानों द्वारा उत्पन्न 172 जातियों, उपजातियों की विस्तृत चर्चा की है । यहाँ वर्ण शंकर सन्तानों से उत्पन्न जातियों की चर्चा मात्र आपद्काल में कुल निर्माण के प्रसंग में किया गया है ।

महाभारत में वर्णसंकर पुत्रों के विषय में कहा गया है कि यदि एक ब्राह्मण की चार भार्या में चारों वर्णों की हो तो उनमें से 2 पत्नियों ब्राह्मणी तथा क्षत्रिया के गर्भ से ब्राह्मण पुत्र उत्पन्न होता है किन्तु शेष दो वैश्या और शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न हुआ ब्राह्मण पुत्र क्रमशः माता की जातिवाले समझे जाते हैं । शूद्रा से उत्पन्न पारशव पुत्र को अपने कुल की सेवा करनी चाहिए, इस सेवा रूप आचार का कभी भी परित्याग नहीं करना चाहिए ।[4] महाभारत में वर्णसंकर सन्तानों को बड़ा ही निन्दनीय तथा कुल विनाश का कारण माना गया है । महाभारत में एक स्थल पर वर्णन प्राप्त होता है कि माता-पिता के

1- महाभारत दान पर्व 48. 15 (अनु० दामोदर सातवलेकर)

2- याज्ञवल्क्य स्मृति 1. 90- 1. 95 (वर्ण जाति विवेक प्रकरणम्)

3- पी०वी०काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ।, पृ० 126-141 ।

4- महाभारत अनुशासन पर्व (दान पर्व) 48. 4-5

पारश्वाद् ब्राह्मणस्यैव पुत्रः ।
शूद्रपुत्रं पारशवं तमाहुः ।।
शुश्रूषणं स्वस्य कुलस्य सस्यात् ।
स्वचरित्रं नित्यमथो न जह्यात् ।।

(अनुवादक - दामोदर सातवलेकर)

व्यतिक्रम से ये वर्णसंकर जातियाँ उत्पन्न होती है । इनमें से कुछ की जातियाँ गुप्त होती हैं, इनको कर्मों से ही पहचानना चाहिए[1]। जो जातिक्रम का विचार न करके स्वेच्छानुसार अन्य वर्णों की स्त्रियों के साथ समागम करते हैं तथा जो यज्ञों के अधिकार और साधु पुरुषों द्वारा बहिष्कृत है ; ऐसे वर्ण बाह्य मनुष्यों से ही वर्ण संकर सन्ताने उत्पन्न होती हैं और वे अपनी रुचि के अनुकूल जीविका के लिए भिन्न- भिन्न कार्य करते हैं[2]।

महाभारत में वर्णसंकर सन्तानों से सतर्क रहने को कहा गया है क्योंकि वे कुल का नाश कर देते हैं । इसमें कहा गया है कि ऋषि मुनियों का मत है कि वाह्य जातियों की स्त्रियों में मनुष्य को अपने हिताहित की भलीभाँति विचार करके ही सन्तान उत्पन्न करनी चाहिए ; क्योंकि नीच योनि में उत्पन्न हुआ पुत्र भवसागर से पार जाने की इच्छा वाले पिता को उसी प्रकार[3] डूबो देता है जैसे गले में बंधा पत्थर तैरनेवाले मनुष्य को नदी में डुबो देता है ।

महाभारत में वर्ण के निर्धारण में कर्म की प्रमुखता को महत्व दिया गया है । इसमें वर्णन है कि मनुष्य अपने शुभाशुभ कर्म, शील, आचरण और कुल के द्वारा अपना परिचय देता है यदि उसका कुल नष्ट हो गया हो तो भी वह अपने कर्मों द्वारा फिर शीघ्र ही प्रकाश में ला देता है[4]। इस प्रसंग में विश्वामित्र का दृष्टान्त उल्लेखनीय है जो क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर ब्राह्मण वंश के प्रवर्तक हुए[5]।

1- महाभारत अनुशासन पर्व (दान पर्व) 48 .29
इत्येते संकरे जाता: पितृमातृव्यतिक्रमात् ।
प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा वेदितव्या: स्वकर्मभि: ।।

2- ,, ,, 48 . 31 यदृच्छयोप सम्पन्नैर्यज्ञ साधु बहिष्कृतै: ।
बाह्या बाह्यैश्च जायन्ते यथावृति यथाश्रयम् ।।

3- ,, ,, 48 . 37

4- ,, ,, 48 . 49 आत्मानमाख्याति हि कर्म निर्भर:
सुशील चरित्र कुलै: शुभाशुभै: ।
प्रनष्टमप्याशु कुलं तथा नर:
पुन: प्रकाश कुरुते स्वकर्मत: ।।

5- ,, ,, 48 . 4 ततो ब्राह्मणतां या तो विश्वामित्रो महातपा: ।
क्षत्रिय: सोऽप्यथ तथा ब्रह्म वंशस्य कारक: ।।

जात्युत्कर्ष - जात्यपकर्ष :-

गौतम का मत है कि आचार्यों के अनुसार अनुलोम लोग जब इस प्रकार का विवाह करते हैं कि वर उच्च वर्ण का हो और कन्या निम्न वर्ण की तो इसी क्रम में लगातार 7वीं या 5वीं पीढ़ी में जाति का उत्कर्ष होता है इसके विपरीत यदि कन्या उच्च वर्ण की हो और वर निम्न वर्ण का तो लगातार इसी क्रम से 7वी या 5वीं पीढ़ी में जाति का अपकर्ष होता है अर्थात् बच्चे निम्न वर्ण के हो जाते हैं ।[1] हरदत्त ने इसकी व्याख्या इस प्रकार से की है - जब एक ब्राह्मण एक क्षत्रिय नारी से विवाह करता है तो उत्पन्न कन्या सवर्णा कहलायेगी, यदि सवर्णा कन्या लगातार सात या पाँच पीढ़ीयों तक ब्राह्मण से विवाह किया जाय तो वह पाँचवीं या सातवीं पीढ़ी में ब्राह्मण हो जायेगी । इसे जाति का उत्कर्ष या उत्थान कहते हैं । इसके विपरीत यदि ब्राह्मण क्षत्रिया नारी से विवाह करता है तो उत्पन्न पुत्र सन्तान सवर्ण होगा और लगातार सवर्ण पुत्र क्षत्रिय कन्या से विवाह करे तो 5वीं या 7वीं पीढ़ी में वे क्षत्रिय वर्ण प्राप्त करेगा इसे जाति का अपकर्ष या पतन कहते हैं ।[2]

मनु ने इसका समर्थन किया है । इनका मत है-ब्राह्मण शूद्रा से उत्पन्न कन्या का विवाह ब्राह्मण से हो तो लगातार यही क्रम 7वीं पीढ़ी में ब्राह्मण कहलायेगा और नीच योनी से उसका उद्धार हो जायेगा ।[3]

याज्ञवल्क्य ने जाति निर्धारण में विवाह के साथ-साथ कर्म को आधार माना है । कर्म के आधार की व्याख्या में उनका मत है कि आपत्ति काल में दूसरी निम्न जाति का कर्म स्वीकार करने पर आपत्तिकाल समाप्त होने पर भी जो उस वृत्ति को नहीं छोड़ता उसकी जाति 7वीं या 5वीं पीढ़ी में उसी निम्न जाति की हो जाती है जिसका वह कर्म करता है ।[4]

1- गौतम 4. 18-19 वर्णान्तरगमनमुत्कर्षापकर्षाभ्यां सप्तमे पञ्चमे वाचार्याः । सृष्ट्यन्तरजातानां च ।

2- दृष्टव्य पी0वी0काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास , पृ0 121,122

3- मनुस्मृति 10. 64 शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते । अश्रेयान् श्रेयसीं जाति गच्छत्यासप्तमाद्युगात् ।।

4- याज्ञवल्क्य स्मृति 1. 96 जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः सप्तमे पञ्चमेऽपि वा । व्यत्यये कर्मणां साम्यं पूर्ववच्चा धरोत्तरम् ।।

इस प्रकार से ऐसा ज्ञात होता है कि इस समय भी वर्ण निर्धारण में कर्म प्रमुख तत्व था । वर्ण व्यवस्था का स्थान जातियां ले रही थी जो विविध कर्मों में संलग्न थी ।

राबर्ट लिंगट का मत है कि जातियों का उद्भव वर्णसंकर सन्तानों द्वारा हुआ । चारों वर्णों के मिश्रण से जातियां बनी । इस तथ्य को स्वीकार करते हुए उन्होंने धर्म सूत्रों के साक्ष्य को प्रामाणिक बताते हुए कहा ~~ब्राह्मण~~ ब्राह्मण पिता वैश्य माता से अम्बष्ट

ब्राह्मण पिता शूद्रा माता से निषाद, पारशव

ये सब एक विशेष जाति के जन्मदाता थे इनका अलग ही कार्य था । इसी प्रकार से कई जातियों का उद्भव उच्च वर्ण की माता तथा निम्न वर्ण के पिता के संयोग से हुआ जैसे -

क्षत्रिय पिता ब्राह्मण माता का पुत्र सूत
वैश्य पिता क्षत्रिय माता का पुत्र मगध
शुद्ध पिता ब्राह्मणी माता का पुत्र चाण्डाल
वैश्य पिता शूद्र माता का पुत्र रथकार ।[1]

इस प्रकार से असमान सम्बन्धों से नयी-नयी जातियां उत्पन्न हुई । इसी प्रकार से यवन और इण्डोग्रीक की मिश्रित सन्तानों के शूद्र (विदेशी आक्रामक) पिता और क्षत्रिय की माता से उत्पन्न वर्णसंकर सन्ताने हुई ।

लिंगट के अनुसार जो ब्राह्मण शूद्र पत्नी रखता था वह मात्र स्वयं सुख के लिए थी न कि पूजा-पाठ में सहयोग के लिए । वशिष्ठ धर्मसूत्र को प्रामाणिक मानते हुए कहा है कि द्विजों का शूद्रों से विवाह उनके पतनोन्मुख दशा का परिचायक है जो उन्हें स्वर्ग से विमुख कर देता है । उन्होंने मनुस्मृति

1- राबर्ट लिंगट - द क्लासिकल ला आंव इण्डिया, पृ० 33-42
गौतम 4. 17, बौधायन 1. 16. 8. 17. 7-8,

और याज्ञवल्क्य स्मृति पर जोर देकर अपने मत की पुष्टि में कहा है कि मिश्रित जाति में जब पिता उच्च वर्ण का हो माता निम्न वर्ण की हो तो जाति का उत्कर्ष 6 पीढ़ी में होता है और यदि माता उच्च वर्ण की हो पिता निम्न वर्ण का हो तो जाति का अपकर्ष 6 पीढ़ी में होता है ।[1]

इस प्रकार से कुल की निरन्तरता बनाये रखने के लिए आपद्कुल धर्म का निवेशन धर्मसूत्रकारों और स्मृतिकारों ने की जिससे वर्ण व्यवस्था लुप्त प्राय हो गयी और वर्ण संकरता तथा जातियों का प्रादुर्भाव हुआ ।

1- राबर्ट लिंगट - द क्लासिकल लॉ आव इण्डिया, पृ० 42
मनु० 64-65
याज्ञ० 1.96

राज धर्म

ईसा जन्म के पूर्व एवं पश्चात् कुछ शताब्दियों को छोड़कर एक राजतन्त्रात्मक व्यवस्था ही विद्यमान थी और भारतीय ग्रंथकारों ने सामान्यत: एक राजतन्त्रात्मक व्यवस्था का ही प्रतिपादन किया, इसका परिणाम यह हुआ कि 'राजा' अन्त में शासन एवं राज्य का ही पर्यायवाची हो गया । राजनीतिज्ञों ने प्रजातन्त्र एवं अल्पजन शासित व्यवस्था की व्याख्या भी कहीं उपस्थित नहीं की । राजा एवं सामान्य प्रजा के बीच में न तो कोई शक्तिशाली एवं विरोधी वर्ग था और न कोई संस्था । भारत की ही तरह से यूरोप में भी 15वीं, 16वीं शताब्दी तक छोटी-छोटी राजतन्त्रात्मक शक्तियों में मुठभेड़ होती रहती थी और वे एक दूसरे पर आक्रमण करते रहते थे ।

भारत में ईसा जन्म के उपरान्त की प्रथम शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक सिथियन, हूणों, मुस्लिमों के लगातार आक्रमण हुए और भारत में कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जो सभी राजाओं को एकता के सूत्र में आबद्ध कर उनका सामना कर सके ।[1]

प्राचीन भारतीय राजनीतिशास्त्र का अवलोकन करने पर यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में राज्य का तात्कालिक ध्येय था ऐसी दशाएं एवं वातावरण उत्पन्न कर देना कि सभी लोग शान्ति एवं सुखपूर्वक जीवन यापन कर सके, अपने-अपने व्यवसाय कर सके, अपनी परम्पराओं रूढ़ियों एवं धर्म का पालन कर सके, निर्विरोध अपने कर्मों एवं अपनी अर्जित सम्पत्ति का फल भोग सके । वास्तव में राजा शान्ति सुव्यवस्था एवं सुख की दशाओं को उत्पन्न करने का साधन था जो ईश्वर से सहज रूप में प्राप्तमाना जाता था। कौटिल्य ने अपने ग्रंथ के आरंभ में ही कहा है' राजा को यह देखना चाहिए कि लोग कर्तव्यच्युत न हो, क्योंकि जो अपने धर्म में तत्पर रहता है और

1- पी०वी०काणे -' धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृ० 699-701 ।

आर्यों के लिए जो नियम बने हैं उनका पालन करता है तथा वर्ण एवं आश्रम के नियमों का सम्मान करता है वह इहलोक एवं परलोक दोनों में प्रसन्न रहता है।[1]

' राजधर्म ' विषय ॥ को स्पष्ट करने के पूर्व यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि ' राजा ' शब्द का अर्थ क्या है । कैसा व्यक्ति राजा हो सकता है । राजत्व का सिद्धान्त क्या है ?

ऋग्वेद और अथर्ववेद के कुछ स्थलों पर ' राजा ' के चुनाव की चर्चा प्राप्त होती है । ऋग्वेद में वर्णन है सभी लोग तुम्हें राजा की भांति चाहे[2] । अथर्ववेद में वर्णन है ' लोग राज्य करने के लिए तुम्हें चुनते हैं, ये दिशाएं ये पंचदेवियां तुम्हें चुनती हैं । ' भद्र लोग राज निर्माता या राजा के कर्ता, सूत ग्राम मुखिया ,दक्ष,रथकार,कुशल धातु निर्माता राजा को चुनते थे[3] । तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णन है, ' राजा के निर्माता (राजकर्ता) को ' रत्निन ' कहा गया है, ' रत्नी लोग राष्ट्र (राज्य) राजा को देते हैं ।'[4] रामायण के अयोध्या काण्ड में वर्णन है राजा दशरथ ने राम को युवराज पद देने के लिए सामन्तों, नागरिकों, ग्रामिकों आदि की सभा बुलाई थी । उन सभी लोगों ने राम के पक्ष में अपना अभिमत दिया था ।[5] महाभारत के आदि पर्व में वर्णन है परीक्षित के मृत्यु के उपरान्त राजधानी के सभी नागरिकों ने जनमेजय को राजा बनाया, जो मंत्री और पुरोहित की की सहायता से राज्य किया था ।[6]

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र, 1. 3, 1. 4

2- ऋग्वेद 10. 173 ।

3- अथर्ववेद 3. 4. 2 त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमा: प्रदिश:पन्च देवी: ।

3. 5. 7 ये राजानो राजकृत: सूता ग्रामण्यश्च ये ।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ।।

4- तैत्तरिय ब्राह्मण 1. 7. 3 रत्निनामेतानि हवींषि भवन्ति । एते वै राष्ट्रस्य प्रदातार:

5- रामायण अयोध्या काण्ड 1,2

6- महाभारत, आदिपर्व, 44. 6

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है ~~लिखा~~ कि राज्यवर्धन की मृत्यु के बाद मुख्य मंत्री भण्डी ने मंत्रियों की एक सभा की और मंत्रियों और न्यायाधिकारियों ने हर्ष को राजा बनाया । इसी प्रकार से पल्लव राजा परमेश्वर वर्मा की मृत्यु के बाद प्रजा ने राजा को चुना था ।[1]

इस प्रकार की व्यवस्था में रूसो द्वारा उद्घोषित सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की झलक मिलती है । इसके मूल में सरकार में जनता की स्वीकृति की झलक मिलती है ।

राजनीति शास्त्रज्ञों ने राजा में दैविय गुणों को भी स्वीकृत किया है । मनुस्मृति में वर्णन है कि राजा में[2] इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर के अंश होते हैं । लगभग इसी प्रकार का मत याज्ञवल्क्य[3] का भी है ।

श्री जे०एन०फिग्गिस ने अपनी पुस्तक में दैवीय अधिकारों के चार प्रमेय स्वीकृत किये हैं-

1- राजा दैवी है
2- राजत्व पर आनुवंशिक अधिकार
3- राजा पूर्णरूपेण स्वतन्त्र हैं परमेश्वर के समक्ष उत्तरदायी है ।
4- राजा का प्रतिरोध करना पाप है ।[4 5]

1- पी०वी०काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृ० 591

2- मनुस्मृति 7. 4 इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वती: ।।

3- याज्ञवल्क्य स्मृति 1. 350

4- जे० एन० फिग्गिस - द डिवाइन राइटर ऑव किंग्स, पृ० 5. 6
वर्ष 1934 ।

हरिवंश तथा कुछ पुराणों में ऐसा वर्णन है कि कलियुग में अधिकतर शूद्र राजा होंगे और वे अश्वमेध यज्ञ करेंगे ।[1] ह्वेनसांग ने अपने यात्रा वृत्तान्त में उल्लेख किया है कि सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में सिंध पर शूद्र राजा राज्य करेगा ।

कई स्थलों पर राज्य शासन स्त्रियों के अधीन भी देखा गया है । शान्तिपर्व में वर्णन है कि विजित देश के सिंहासन पर राजा के भाई पुत्र या पौत्र को बैठाना चाहिए किन्तु राजकुमार के न रहने पर भूतपूर्व राजा की पुत्री को यह पद मिलना चाहिए ।[2] तेरहवीं शताब्दी के गंजाम ताम्रपत्र ने शुंभाकर के मर जाने पर उसकी रानी तथा पुत्री दण्डी महादेवी के राज्य पद सुशोभित करने का वर्णन किया है और दण्डी महादेवी को 'परम भट्टारिका महाराजाधिराजपरमेश्वरी' की उपाधि दी है ।

राजत्व बहुधा आनुवंशिक होता था ज्येष्ठ पुत्र को मिलता था किन्तु कभी-कभी योग्यता के बल पर छोटे पुत्र भी प्राप्त कर लेते थे (जैसे रामगुप्त का राज्य, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने प्राप्त किया था) संभवत: इसी प्रकार के सिद्धान्त भारत में भी प्रचलित रहे होंगे जो सामाजिक समझौते और दैवी अधिकारों का मिला-जुला रूप रहा होगा ।

राजा कौन होगा ? यह भी एक तथ्यसंगत प्रश्न है । राजा शब्द का एक अर्थ है क्षत्रिय मनु का मत है यथाविधि यज्ञोपवीत संस्कार पाये हुए क्षत्रिय राजा को न्यायपूर्वक सभी प्रजाओं की रक्षा करनी चाहिए ।[3] कुल्लूक के अनुसार 'राजा' शब्द किसी भी जाति के व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हो सकता है । जो व्यक्ति प्रजा रक्षण का कार्य करता है वह राजा है ।

1- हरिवंश पुराण 3. 3. 6
   मत्स्य पुराण 144. 40, 43
   लिंग पुराण 40. 7. 42

2- शान्ति पर्व 33. 43, 45

3- मनुस्मृति 7. 2   ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि ।
   सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ।।

यही बात अवेष्टि नामक इष्टि के संपादन के विषय में भी कही गयी है। अवेष्टि राजसूयें यज्ञ का एक प्रमुख अंग है । राजा राजसूय यज्ञ करता था । अवेष्टि के संपादन के सिलसिले में ब्राह्मणों,क्षत्रियों एवं वैश्यों की भी चर्चा हुई है । इससे प्रकट होता है कि राजसूय करनेवाला राजा किसी भी जाति का हो सकता है ।

बहुत से ब्राह्मण वंशों ने राज्य एवं साम्राज्य स्थापित किये थे । शुंग साम्राज्य का संस्थापक पुष्यमित्र ब्राह्मण जाति का था ।[1] शुंगों के उपरान्त कण्वों ,वाकाटकों तथा कदम्ब आदि ब्राह्मण वंशों ने राज्य किया था । जैमिनी की व्याख्या में कुमारिल ने लिखा है कि सभी जातियों के लोग शासक होते हुए देखे गये हैं ।[2]

पालवंश का संस्थापक गोपाल शूद्र था[3] । मनु ने लिखा है कि शूद्र द्वारा शासित देश में वास न करे +....... ।

प्राय: सभी राजनीति शास्त्रज्ञों ने राज्य के सात अंग बतलाये हैं -

1) स्वामी (सम्राट या राजा)
2) अमात्य
3) जनपद या राष्ट्र
4) दुर्ग
5) कोश
6) दण्ड (सेना)
7) मित्र ।[4]

1- हरिवंश पुराण, 3. 2. 35

2- जैमिनि 2. 3. 3

3- मनुस्मृति 4. 61 न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते ....

4- कौटिल्य 6. 1 - स्वाम्यमात्यजनदुर्ग कोशदण्डमित्राणि प्रकृतय: ।
याज्ञवल्क्य 1. 353, मनु 9. 294, शान्तिपर्व 69. 64-65 ।

राज्य के इन अंगों को प्रकृति भी कहा जाता है । राजनीतिज्ञों ने शासक (राजा) को सप्तांगों में सर्वश्रेष्ठ कहा है । कौटिल्य का मत है कि राजा ही मंत्रियों, कर्मचारियों एवं अधीक्षकों की नियुक्तियां करता है वही अन्य प्रकृतियों पर विपत्तियां घहराने पर दु:खमोचन करता है । राजा जिस स्वभाव का होता है उसकी प्रकृतियां भी वैसी ही हो जाती है । राजा पर ही उसकी प्रकृतियों का अभ्युदय एवं पतन निर्भर होता है ।[1]

शुक्रनीतिसार ने लिखा है यदि राजा मनमाना कार्य करता है तो इससे विपत्तियां घहराती है, मन्त्रियों की हानि होती है और अन्त में राज्य का नाश हो जाता है ।[2] इसमें राज्य के सप्तांगो की तुलना शरीर के अंगों से की है यथा राजा सिर है, मन्त्री लोग आंखें है, मित्र कान है, कोश मुख है, बल (सेना) मन है, दुर्ग (राजधानी) एवं राष्ट्र हाथ एवं पैर है ।[3] कामन्दक ने लिखा है कि सातो अंग एक दूसरे के पूरक है यदि एक अंग भी दोषपूर्ण हुआ तो राज्य ठीक से चल नहीं सकता ।[4] शान्तिपर्व ने भी सभी अंगों की महत्ता स्वीकृत की है । मनु ने राज्य के सप्तांगों की तुलना सन्यासी के त्रिदण्ड से की है, राज्य के ये सात अंग परस्पर एक दूसरे के उपकारी होने के कारण सन्यासी के त्रिदण्ड की तरह सभी एक दूसरे से मिले हुए और समान है ।[5]

1- कौटिल्य 127. 1. 8. 1
  नेति कौटिल्यः .... तत्कूट स्थानीयो हि स्वामी

2- शुक्रनीतिसार 2. 4

3- शुक्रनीतिसार 1. 61-62
  दृष्टव्य - पी०वी०काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृ० 586

4- कामन्दक 4. 1-2

5- मनुस्मृति 9. 296 - सप्ताङ्गस्येह राजस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् ।
  अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किंचिदतिरिच्यते ।।

आपद्राजधर्म

आपत्ति काल में राजा का धर्म क्या है इस विषय में विस्तृत वर्णन हमें कौटिल्य अर्थशास्त्र, मनुस्मृति तथा महाभारत में प्राप्त होता है । कोष, बल, धर्म इन तीनों की रक्षा करना राजा का प्रमुख कर्तव्य माना गया है । राजा का कोष नष्ट होने पर बल का नाश हो जाता है । अतएव निर्जल स्थान में जल उत्पन्न करने के समान जिस तरह हो सके धन संग्रह करना चाहिए । आपत्तिकाल टल जाने पर प्रजा पर दया करना राजा का धर्म है ।[1] राजा को वही कार्य करना चाहिए जिसको करने से धर्म को कोई हानि न हो और जिससे अपने को शत्रु के हाथ में न पड़ना पड़े । अपने को विपत्ति में डालना कदापि उचित नहीं है । विपत्ति आ पड़ने पर कोष, दण्ड, बल, मित्र और अन्यान्य संचित द्रव्य राज्य की रक्षा में लगाना राजा का प्रधान कर्तव्य है । अपना धन खर्च करके राज्य की रक्षा करनी चाहिए ।[2]

आपद्काल से रक्षा के लिए राजा के गुणों की चर्चा :-

किसी भी राज्य का उत्थान पतन राजा के ही गुणों पर निर्भर करता है । साधारण अवस्था में राजा प्रजा के सुख सुविधाओं और उत्थान के कार्यों में संलग्न रहता है । वह प्रजा के भौतिक तथा अध्यात्मिक उन्नति की चिन्ता करके विविध सुविधाओं को प्रदान करता है ।

1- महाभारत शान्तिपर्व ,आपद्धर्मपर्व 130. 9. 13

कोशं च जनयेद राजा निर्जलेभ्यो यथा जलम् ।
कालं पाप्यानुगृह्वीयदेष धर्मः सनातनः ।।
उपाय धर्म प्राप्येमं पूर्वैरचित जनैः ।

2- ,, ,, 130. 9. 17

कौटिल्य अर्थशास्त्र से पता चलता है कि क्षमाशील राजा को चाहिए कि वह वर्तमान और भविष्य में बिना किसी शंका के उचित रूप मे अपने तथा दूसरे के पक्ष में गूढ़ दण्ड का प्रयोग करे ।[1] राजा को चाहिए कि वह दुष्ट पुरुषों का धन उसी प्रकार से ले ले जिस प्रकार वाटिका से पके फल को लिया जाता है किन्तु धर्मात्मा पुरुषों का धन वह उसी प्रकार छोड़ दे जैसे कच्चे फल को छोड़ दिया जाता है । कच्चे फल के समान धर्मात्मा पुरुषों से वसूला गया धन प्रजा के कोप का कारण बन जाता है ।[2] आय-व्यय का ध्यान रखनेवाले राजा पर कभी भी आर्थिक या सैनिक आपत्तियाँ नहीं आ पाती । यहाँ तक की भत्ता व वेतन के संबंध में बारीकी से विचार करना चाहिए ।[3]

राजा के अभिगामिक गुण :-

स्वामी (राजा) के गुणों के विषय में अर्थशास्त्र में वर्णन है कि महाकुलीन ,दैवबुद्धि, धैर्यसम्पन्न, दूरदर्शी, धार्मिक, सत्यवादी सत्यप्रतिज्ञ, कृतज्ञ, उच्चाभिलाषी, बड़ा उत्साही, शीघ्रकार्य करनेवाला, सामन्तों को वश में करनेवाला दृढ़बुद्धि, गुण संपन्न, परिवारवाला और शास्त्र बुद्धि राजा के ये गुण अभिगामिक गुण कहलाते हैं ।[4]

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 89. 1. 5. 1 (गैरोला,चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1984)
स्वपक्षे परपक्षे वा तूष्णीं दण्ड प्रयोजयेत् ।
आयत्यां च तदात्वे च क्षमावान विशङ्कित: ।।

2- वही - 90. 2. 5. 3
पक्वं पक्वमिवारामात् फलं राज्यादवाप्नुयात् ।
आत्मच्छेदभयादामं वर्जयेत् कोपकारकम् ।।

3- वही - 91. 3. 2 - एवम्वेदितायव्यय: कोशदण्डव्यसनं नावाप्नोति ।
91. 3. 3 - इतिभक्तवेतन विकल्प: ।

4- वही - 96.1.2 - महाकुलीनो दैव बुद्धिसत्वसम्पन्नो वृद्धदर्शी धार्मिक: सत्यवागविसंवादक: कृतज्ञ: स्थूललक्षो महोत्साहोऽदीर्घ, सूत्र: शक्यसामन्तो दृढबुद्धिरक्षुद्र परिषत्को विनयकाम इत्याभिगामिका गुणा: ।

राजा के प्रज्ञा गुण : -

शास्त्र चर्चा शास्त्रज्ञान, प्रत्येक बात को ग्रहण कर लेना, ग्रहण की हुई बात को याद रखना, ग्रहण की हुई बात का विशेष ज्ञान, तर्क, वितर्क द्वारा किसी बात के तह को पकड़ना, बुरे पक्ष को त्यागना और गुणियों के पक्ष को ग्रहण करना आदि राजा के प्रज्ञा गुण कहलाते हैं ।[1]

राजा के उत्साह गुण :-

शौर्य, अमर्ष, क्षिप्रकारिता और दक्षता ये चार गुण उसके उत्साह गुण कहलाते हैं ।[2]

आत्म सम्पन्न राजा :-

वाग्मी, प्रगल्भ, स्मरणशील, बलवान, उन्नतमन, संयमी, निपुण सवार, विपत्तिग्रस्त शत्रु पर आक्रमण करनेवाला, विपत्ति के समय सेना की रक्षा करनेवाला किसी के उपकार या अपकार का यथोचित प्रतीकार करनेवाला लज्जावान , दुर्भिक्ष, सुभिक्ष के समय अन्नादि का उचित विनियोग करनेवाला दीर्घदर्शी , दूरदर्शी, अपनी सेना का युद्धोचित देशकाल उत्साह एवं कार्य को स्वयं देखनेवाला, संधि के प्रयासों को स्वयं समझनेवाला ; युद्ध में चतुर, सुपात्र के दान देनेवाले, प्रजा को कष्ट दिये बिना ही कोष बढ़ानेवाला, शत्रु के व्यसनों से लाभ उठानेवाला, अपने मंत्र को गुप्त रखनेवाला दूसरे की हंसी न उड़ानेवाला, टेढ़ी भौंहे करके न देखनेवाला, काम-क्रोध-लोभ-मोह

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र ,96.1. 3 (गैरोला, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1984)

शुश्रूषा श्रवणग्रहण धारण विज्ञानोहापोहतत्वाभिनिवेशा प्रज्ञागुणा: ।

2- वही, 96. 1. 4

शौर्यममर्ष: शीघ्रता दाक्ष्यं चोत्साहगुणा: ।

चपलता, उपताप, एवं चुगलखोरी से सदा अलग रहनेवाला, प्रियभाषी, हंसमुख, उदारभाषी और वृद्धजनों के उपदेशों एवं आचारों को माननेवाला,[1] इन गुणों से युक्त राजा आत्म संपन्न कहा जाता है ।

आत्म सम्पन्न राजा गुणहीन प्रकृतियों को भी गुणी बना लेता है और आत्म सम्पन्नहीन राजा गुण समृद्ध तथा अनुरक्त प्रकृतियों को भी नष्ट कर देता है[2] । यही कारण है कि दुष्ट प्रकृति राजा चारो समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का अधिपति होता हुआ भी या तो अपनी प्रकृतियों द्वारा विनष्ट हो जाता है या शत्रु के कब्जे में चला जाता है ।[3] किन्तु आत्म संपन्न राजा नितिज्ञ होकर थोड़ी भूमि का स्वामी होता हुआ भी आत्म प्रकृति के द्वारा सारी पृथ्वी का आधिपत्य प्राप्त कर लेता है और कभी भी क्षीण नहीं होता है ।[4] कौटिल्य द्वारा वर्णित राजा के गुणों की व्याख्या

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 96. 1. 5 - वाग्मी प्रगल्भः स्मृतिमति बलवानु
दग्रः स्वग्रहः कृतशिल्पो व्यसने दण्डनायुयुपकारापकारयो
र्दृष्टप्रतिकारी स्त्रीमानापत्प्रकृत्योर्विनियोक्ता दीर्धदूरदर्शी
देशकाल पुरुषकार कार्य प्रधानः संन्धिविक्रमत्यागसंयमपण
परच्छिद्रविभागी संवृतादीनाभिहास्यजिहनभ्रुकुटीक्षणः कामक्रोध-
लोभस्तम्भ चापलोपताय पैशुन्यहीनः शक्यः स्मियोग्राभिभाषी
वृद्धोपदेशाचार इत्यात्स्यसम्पत् ।
(गैरोला, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1984)

2- कौटिल्य अर्थशास्त्र 96. 1. 2 सम्पादयत्यसम्पन्नाः प्रकृतीरात्मवान्नृप
विवृद्धाधानुरक्ताश्च प्रकृतीर्हन्त्यनात्मवान् ।
(गैरोला, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1984)

3- ,, ,, 96. 1. 3 ततः स दुष्ट प्रकृतिश्चातुरन्तोऽप्यनात्यवान् ।
हन्त्ये वा प्रकृतिभिर्याति वा द्विषतां वशम् ।

4- ,, ,, 96. 1. 4 आत्मवांस्त्वल्पदेशोपि युक्तः प्रकृतिसम्पदा
नयज्ञः पृथ्वीं कृत्स्नां जयत्येव न हीयते ।।

मनु[1], महाभारत के राजधर्म पर्व[2] तथा याज्ञवल्क्य स्मृति[3] में भी किया गया है । एम०वी० कृष्णाराव का मत है कि ग्रीक और भारतीय राजत्व के नियम में आश्चर्यजनक समता है । प्लेटो का मत है कि परसियन राजा को शिक्षा देने के लिए चार प्रकार के शिक्षक होने चाहिए जैसे (1) बहुत होशियार (2) बहुत न्यायिक (3) बहुत ज्ञानी (4) बहुत बड़ा योद्धा । पहला शिक्षक उसे सिखाता था कि जोरेस्टर से प्रेम करो, दूसरा शिक्षा देता था कि सत्यप्रिय बनो, तीसरा सिखाता था कि किसी चीज की लत न पालो और चौथा शिक्षक भय मुक्त करता था । इस प्रकार का स्वतन्त्र और निष्पक्ष राजा किसी का दासत्व न स्वीकार करे[4] ।

राजा ही युग निर्माता है :-

मनुस्मृति में वर्णन है कि सत्ययुग त्रेतायुग, द्वापर युग तथा कलियुग मे चारो राजा के ही चेष्टा विशेष (आचार व्यवहार) से होते हैं अतएव राजा ही युग कहलाता है, ऐसा विचारकर राजा को कार्यारम्भ से उदासीन कभी नहीं होना चाहिए[5] ।

सोते हुए (अज्ञान, आलस्य के कारण उद्यमहीन) राजा के होने पर कलियुग, जागते हुए किन्तु कर्म न करते हुए अवस्था में द्वापर, कर्म में लगे हुए (सन्धि-विग्रह) होने पर त्रेता और शास्त्रानुसार विचरण करने पर सत्ययुग होता है[6] ।

1- मनुस्मृति 9.2.98- 9. 300

2- महाभारत शांति० राजधर्म पर्व 84. 46 - 86 18

3- याज्ञवल्क्य स्मृति 13. 309-311 महोत्साह .... न रांधियं:
अनु० उमेश चन्द्र पाण्डे । ....

4- एम०वी० कृष्णाराव, स्टडीज़ इन कौटिल्या, पृ० 119

5- मनुस्मृति 9. 301 कृतं त्रेतायुगं चैवद्वापरं कलिरेव च ।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युग-मुच्यते ।।

6- ,, 9. 302 कलि: प्रसुप्तो भवति स जाग्रद्वापरं युगम् ।
कर्मस्वभ्युधतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ।।

राजा में दैवीय गुणों का समावेश :-

राजा को इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्रमा, अग्नि और पृथ्वी के तेज का आचरण करना चाहिए । राज्य के कण्टकभूत चोर आदि को वश में करने के लिए दण्ड, प्रताप तथा स्नेह दोनों का ही समयानुसार कार्यों में प्रयोग करना चाहिए ।[1] इन उपायों से युक्त होकर राजा नित्य निरालस्य होकर राजा स्वदेशीय और परराष्ट्रीय चोरों का दमन करे ।[2]

महाभारत के शान्तिपर्व, राजधर्मपर्व में भी राजा के सामान्य धर्मों का वर्णन किया गया है । इसमें वर्णन है कि राजा प्रसन्न होने से देवता की भाँति सब अर्थों को सिद्ध करता है और क्रुद्ध होने पर अग्नि की भाँति जड़ सहित भस्म करता है ।[3]

मत्स्य पुराण में भी राजा में दैविक गुणों की परिकल्पना की गयी है कि राजा को इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्र, अग्नि और पृथ्वी के तेजोवृत का आचरण करना चाहिए ।[4]

1- मनुस्मृति 9. 303 - इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च ।
9. 304 से 311 - चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ।।
गणेशदत्त पाठक, ठाकुर प्रसाद एण्ड संस, वाराणसी, संवत् 2031 ।

2- ,, 9. 312 - स्तैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः ।
स्तेनान्राजा निगृह्णीयात् स्वराष्ट्रे पर एव च ।।

3- महाभारत शान्तिपर्व, राज० 83. 31 देववेव हिं सर्वार्थान्कुर्याद्राजा प्रसादितः
वैश्वानर इवं क्रुद्धः समूलमपि निर्दहेत् ।।
दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, 1964 ।

4- मत्स्यपुराण 104. 8, 9 ....
इन्द्रस्यार्कस्य वातस्य वरुणस्य च ।।
चन्द्रस्याग्ने पृथिव्याश्चते जो व्रत नृपश्चरेत् ।

इसका तात्पर्य है कि राजा देवताओं के समान कार्य करे । डा० काणे ने कई राजाओं का उद्धरण दिया जो अपने को 'देव' कहते थे उनमें प्रमुख अशोक है जिसके अभिलेखों में उसको देवानांप्रिय' कहा गया है । इसी प्रकार से कनिष्क तथा हुविष्क आदि कुषाण राजा अपने को 'देवपुत्र' कहते थे किन्तु फिर भी राजा मनमाना शासन नहीं कर सकता था क्योंकि कुछ ग्रंथों में राजा को प्रजा का नौकर कहा गया है जिसे रक्षा करने के कारण वेतन स्वरूप कर दिया जाता है । एक ओर तो ऐसा कहा गया कि राजा को देवत्व प्राप्त है दूसरे ओर उसे बुरा कर्म करने पर सिंहासनच्युत या मार डालने की व्यवस्था दी गयी है । ऐसी विपरीत धारणाओं के मूल में दो दृष्टिकोण थे । ग्रन्थकारों ने वर्णों एवं आश्रमों की स्थिति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए तथा आनेवाले कालों में सामाजिक कुव्यवस्था न उत्पन्न हो, लोग आदर करें इसलिए राजा को देवत्व प्रदान किया । किन्तु बुरे राजाओं एवं मंत्रियों के अत्याचारों का भी भय था । अत: राजा तथा उसके मंत्रियों को नाश एवं मृत्यु की धमकी भी दे दी गयी थी । शुक्रनीतिसार में वर्णन है यदि ब्राह्मण लोग अत्याचारी राजा को हटाकर मार डाले तो इस कर्म से पाप नहीं लगेगा।[1] अपने मन को वश में रखनेवाला बुद्धिमान और ऐश्वर्य वैभव की अभिलाषा करनेवाला राजा अपने मंत्री सेवकों के समस्त गुण दोषों की परीक्षा करे ।[2] अत्यन्त श्रेष्ठ योद्धा वेद जाननेवाले, परमपारंगत और अवष्कृत मनुष्यों को ही (अपनी उन्नति की इच्छा करनेवाल) राजा मंत्री करे ।[3]

1- डा० पी०वी०काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2,पृ० 589-590 ।
   शुक्रनीति 4. 7. 332-333
   बौधायन 1. 10. 1
   कौटिल्य 10. 3

2- महाभारत शान्तिपर्व ,राज० 84. 16 अत उर्ध्वममात्यानां परीक्षेत गुणागुणान्।
   ~~वैश्वानर इर्व कुल समूलमपि निर्दहेत् ।।~~
   संयतात्मा कृतप्रज्ञो भूतिकामश्च भूमिप: ।।

3- ,, ,, 84. 14 - योधा: स्नौवास्तथा: मौलास्तथैवान्येऽप्यवस्कृता:
   कर्तव्या भूतिकामेन पुरुषेण बुभूषता: ।।

राजा किसी आपद् में किसी के दूत का कभी वध न करे क्योंकि दूत को मारनेवाला राजा अपने मंत्रियों के सहित नरक गामी होता है ।[1] राजा स्वयं दूसरे का विश्वास पात्र होवें किन्तु दूसरे का कभी विश्वास न करे । ऐसा ही पुत्रों का भी विश्वास करना उत्तम नहीं है ।[2] राजा उस नगर में वास करके उस स्थान में कोष सेना मित्र और व्यवहार की सदा वृद्धि करे और पुर तथा जनपद स्थित सब दोषों का निवारण करे ।[3] जलाशय तलाब कूएं उदपान बहुत जल से भरे हुए श्रेष्ठ तलाब दूधवाले वृक्ष इन सब सामग्रियों की सदा निज नगर में रक्षा करे ।[4] राजा स्वयं दूतों को मिलकर गुप्त सलाह करना कोष देखना विशेष करके गुप्त नीति की आलोचना करे क्योंकि राजा इन्हीं पर प्रतिष्ठित हुआ करता है ।[5] दीन,अनाथ,बूढ़े और विधवा स्त्रियों की जीविका तथा योग क्षेम का सदा प्रबन्ध करे ।[6] धर्मशील राजा प्रजा का हितैषी होकर देश और काल

1- महाभारत शान्तिपर्व, राज० 86. 25
न तु हन्यान्नृपो जातु दूतं कस्यांचिदापदि ।
दूतस्य हन्ता निरयमाविशेत्सचिवैः सह ।।
दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड,1984 ।

2- ,, ,, 86. 32 - विश्वासयेत्परांश्चैव विश्वसेन्न तु कस्यचित् ।
पुत्रेष्वपि हि राजेन्द्र विश्वासो न प्रशस्यते ।।

3- ,, ,, 87. 11 तत्र कोशं बलं मित्रं व्यवहारं च वर्धयेत ।
पुरे जनपदे चैव सर्वदोषान्निवर्तयेत् ।।

4- ,, ,, 87. 15 आशयाश्चोदपानाश्च प्रभूत सलिला वराः ।
निरोद्धव्याः सदा राज्ञा क्षीरिणश्च महीरुहाः ।।

5- ,, ,, 87. 20 चारान्मन्त्रं च कोशं च मंत्र चैव विशेषतः ।
अनुतिष्ठेत्स्वयं राजा सर्वंह्यत्र प्रतिष्ठितम् ।।

6- ,, ,, 87. 24 कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम् ।
योगक्षेमं च वृत्तिं च नित्यमेव प्रकल्पयेत् ।।

का ध्यान रखकर अपने बल के अनुसार प्रजा का शासन करे ।[1] जैसे बछड़े माता के स्तन को न काटकर केवल दूध दोहन करते हैं और जैसे लोग मधु मक्खियों को पीड़ित न करके मधु सेवन करते हैं वैसे ही राजा राष्ट्र रूपी गौ से धन ग्रहण करे ।[2]

राजा के समक्ष कई प्रकार की आपत्तियां हो सकती थी आन्तरिक विद्रोह, वाह्य युद्ध, प्राकृतिक कोप (बाढ़, महामारी) आर्थिक संकट आदि । एक नितिज्ञ राजा ही इन विविध संकटों से अपनी तथा राज्य की रक्षा कर सकता था । सामान्य रूप से आपद् राजधर्म कि चर्चा राज्य के विविध अंगों के परिप्रेक्ष्य में की गयी है ।

राजा की आपद्कालीन तत्वदर्शिता (दूरदर्शिता) :-

राजा भविष्य में जो संकट आनेवाला हो उसे पहले से ही जानने का प्रयत्न करे जो भय सामने उपस्थित हो जाय उसे दबाने का प्रयास करे । दबा हुआ भय भी पुनः बढ़ सकता है ।[3] इस डर से यही समझे कि अभी भी वह निवृत्त नहीं हुआ है ।

महाभारत के शान्तिपर्व के आपद्धर्म पर्व में संकटकाल के परित्राण के विषय में 3 तत्वदर्शियों को दर्शित किया गया है । इसमें वर्णन है कि जो संकट काल आने के पहले ही अपने बचाव का उपाय कर लेता है

1- महाभारत शान्तिपर्व, राज० 89 . 2 यथादेशं यथाकालमपि चैव यथाबलम् ।
अनुशिष्यात्प्रजा राजा धर्मार्थी तद्धिते रतः ।
(दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड़, 1984)

2- ,, ,, 89 .4 मधुदोहं दुहेद्राष्ट्रं भ्रमरान्न विपातयेत ।
वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत ।।

3- महाभारत शान्तिपर्व, आप० 140. 35
अनागतं विजानीयाद् यच्छेद भयमुपस्थि तम् ।
पुनर्वृद्धिभयात् किंचिद् निवृत्तं निशाम्येत् ।।

उसे अनागतविधात तथा जिसे ठीक समय पर ही आत्मरक्षा का उपाय सूझता है वह प्रत्युत्पन्नमति कहलाता है । ये दो प्रकार के लोग ही सुख से अपनी उन्नति कर सकते हैं । परन्तु जो प्रत्येक कार्य में अनावश्यक विलम्ब करनेवाले दीर्घसूत्री मनुष्य का शीघ्र ही विनाश हो जाता है ।[1] जो पुरुष सोच समझकर या जानबूझकर काम करनेवाला तथा सतत सावधान रहनेवाला है । वह अभीष्ट देश और काल का ठीक-ठीक उपयोग करता है और उनके सहयोग से ही इच्छानुसार फल प्राप्त करता है ।[2]

जो पुरुष भय आने के पहले ही उसकी ओर से सशंक रहते हैं उसके सामने प्राय: भय का अवसर ही नहीं आता । परन्तु जो नि:शंक होकर दूसरों पर विश्वास कर लेता है उसे सहसा बड़े भारी भय का सामना करना पड़ता है ।[3]

जो मनुष्य अपने को बुद्धिमान मानकर निर्भय विचरता है उसे कभी कोई सलाह नहीं देनी चाहिए क्योंकि वह दूसरे की सलाह कभी नहीं सुनता । भय को न जानने की अपेक्षा उसको जाननेवाला ठीक है क्योंकि वह उसके बचने के उपाय जानने की इच्छा से परिणामदर्शी पुरुषों के पास जाता है ।[4] राजा को इन्हीं वृत्तियों का पालन आपद्काल में करना चाहिए । प्राचीन विश्व की सभ्यताओं का अवलोकन करने पर राजा की सही स्थिति ज्ञात होती है ।

1- महाभारत शान्तिपर्व, आप० 137 . 1

अनागतविधात च प्रत्युत्पन्नमतिश्च य: ।
द्वावेव सुखमेधते दीर्घसूत्री विनश्यति ।।

2- ,, ,, 138 . 13

अमित्रो मित्रतां याति मित्रं चापि प्रदुष्यति ।
सामर्थ्ययोगात् कार्याणामनित्या वैसदागति: ।।

3- ,, ,, 138 . 210

4- ,, ,, 138 . 211

अभीश्चरति यो नित्यं मन्त्रोऽदेय: कथंचन ।
अविज्ञानाद्धि विज्ञानो गच्छेदास्पददर्शिषु ।।

बेबीलोनियन सभ्यता में लोग मानते थे कि राजा देवताओं के समान पवित्र, दयालु, बुद्धिमान और न्यायप्रिय होता है । ज्यों-ज्यों जनता में ज्योतिष ज्ञान के प्रति प्रेम बढ़ा, त्यों-त्यों राजा को निरंकुश होने में और भी सहायता मिली क्योंकि जनता को यह विश्वास हो गया था कि संसार चक्रभाग्य के बन्धन से बड़ी कठोरता के साथ बंधा है अत: देवताओं का प्रतिनिधि राजा यदि देवताओं के समान ही कठोर है तब भी वह देवताओं की इच्छा मात्र है ।

मिस्र सभ्यता में सम्राट को फराओं कहा जाता था । उसे सूर्यदेव का प्रतिनिधि समझा जाता था । साम्राज्य की समस्त शक्ति राजा के हाथ में केन्द्रित रहती थी वही राज्य का सर्वोच्च सेनापति, न्यायधीश और पुजारी होता था । उसे सभी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे । वही विधानों का निर्माता और धार्मिक कार्यों का सृष्टा समझा जाता था । साम्राज्य के समस्त अधिकारी उसके अधीन रहते थे और उनकी इच्छा उसकी इच्छा पर निर्भर रहती थी । समय-समय पर सम्राट निरंकुश भी हो जाता था । वह सब से बड़ा पुरोहित था । अत: धार्मिक क्षेत्र में भी उसे बड़ा सम्मान प्राप्त था । मिस्र के निवासी बड़े धर्मभीरु थे और धर्म का सब से बड़ा पुरोहित होने के फलस्वरूप राजा के विरुद्ध किसी भी प्रकार का विद्रोह करना पाप समझते थे ।

हित्ति सभ्यता में भी राजा देश का प्रधान न्यायधीश , पुजारी और सेनापति होता था । वही पड़ोसी राजाओं से सन्धि एवं युद्ध की घोषणा कर सकता था । उसका आदर प्राचीन पुजारी के रूप में होता था ।

ईरानी सभ्यता में भी सम्राट सब से बड़ा पदाधिकारी था । उसका प्रत्येक शब्द कानून था । वह बिना किसी कारण के किसी को भी दण्ड या उच्च पद पर आसीन कर सकता था किन्तु उसे परम्पराओं का पालन करना आवश्यक था ।

यूनानी सभ्यता का ज्ञान (1200 ई० पू० 600 ई०पू०) का ज्ञान होमर के इलियड् ओडसी नामक ग्रंथों से होती है । इस सभ्यता में भी

सम्राट सर्वोच्च अधिकारी था । राज्य का वास्तविक पुरोहित था उसे परामर्श देने के लिए दो सभाएं थीं ब्यूल और ऐगोरा ।[1]

इस प्रकार सभी सभ्यताओं में दृष्टिगत होता है कि राजा या सम्राट ही सर्वोच्च अधिकारी था ।

2- आपद्विकाल में अमात्यों की भूमिका :-

राज्य के सात अंगों में दूसरा स्थान अमात्य का है जिसे सचिव या मंत्री भी कहा जाता है । ऋग्वेद में इस शब्द का बीज या आरंभिक रूप पाया जाता है । इसमें वर्णन है" हे अग्नि, मन्त्रियों(अमावान्) के साथ हाथी पर चढ़े हुए राजा के समान आओ ।[2]

आपस्तम्ब धर्मसूत्र में" आमात्य" शब्द" मंत्री के अर्थ में वास्तविक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है इसमें वर्णन है राजा को अपने गुरुओं (गुरुजनों या बुर्जुगों) एवं अमात्यों से बढ़कर सुखपूर्वक नहीं जीना या रहना चाहिए ।"[3]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णन है कि राजा जिन लोगों से जितनी ही अपनी गुप्त बातें प्रकट करता है उतना ही शक्ति से क्षीण होकर वह उनके वश में हो जाता है । इसलिए जो पुरुष राजा की प्राणघातक आपत्तियों में रक्षा करे ; उनको आमात्य नियुक्त करना चाहिए जिनके अनुराग की परीक्षा राजा कर चुका हो ।[4]

1- विनोदचन्द्र पाण्डे एवं के० सिंह - विश्व की प्राचीन सभ्यताएं, न्यू बिल्डिंग्स,अमीनाबाद,लखनऊ,1977,पृ० 41,85,149,183 ।

2- ऋग्वेद 4. 4. 1 कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन ।

3- आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2.10.25.10 - गुरुनमात्यांश्चैव नातिजीवेत्
दृष्टव्य पी०वी०काणे," धर्मशास्त्र का इतिहास", भाग 2,पृ० 623

4- कौटिल्य अर्थशास्त्र 3.7. 4 , यावन्दयो गुह्यमाचेष्ट जनेभ्यः पुरुषाधिपः ।
अनु० वाचस्पति गैरोला,पृ०20 अवशः कर्मणा तेन वश्यो भवति तावताम् ।।
,, ,,पृ० 21 ,3.7.1 य एनमापत्सु प्राणाबाध युक्ता स्वनुगृह्णीयुस्तानमात्यान् कुर्वीत , दृष्टानुरागत्वादिति ।

इसमें विभिन्न आचार्यों के मतों का वर्णन भी प्राप्त होता है जिनमें भारद्वाज, विशालाक्ष पराशर, पिशुन, कौणपदन्त, वातव्याधि, बाहुदन्ती पुत्र आदि प्रमुख हैं । कौटिल्य का मत है कि राजा उन कार्यों को अकेला नहीं कर सकता जिससे कार्यों के संपादन में देशकाल का अतिक्रमण न हो, एतदर्थ अमात्यों के द्वारा परोक्ष रूप से राजा उन कार्यों को कराये इसी हेतु अमात्यों की नियुक्ति करे ।[1] इसी का समर्थन मनु ने भी किया है ।[2] पुरोहित के विषय में कौटिल्य का मत है कि उच्च कुलोत्पन्न ,शीलगुण संपन्न, वेद वेदागों का ज्ञाता, ज्योतिषशास्त्र शकुन शास्त्र दण्डनीति में पारंगत, अथर्ववेद में निर्दिष्ट उपायों द्वारा दैवी तथा मानुषी विपत्तियों का प्रतिकार करनेवाला इन योग्यताओं से संपन्न पुरोहित को नियुक्त करना चाहिए । जैसे आचार्य के पीछे शिष्य, पिता के पीछे पुत्र स्वामी के पीछे भृत्य चलता है वैसे ही राजा को पुरोहित का अनुगामी होना चाहिए । इस प्रकार ब्राह्मण पुरोहित से संबंधित सर्वगुण संपन्न योग्य मंत्रियों के परामर्श से अभि-रक्षित और शास्त्रोक्त अनुष्ठान का आचरण करनेवाला राजकुल युद्ध के बिना भी अजेय एवं अलभ्य वस्तुओं को सहज ही प्राप्त कर लेता है ।[3] युद्ध में (आपत्तिकाल में) मंत्री और पुरोहित सेना का उत्साह वर्धन करते थे उनका मत था कि यज्ञ और दक्षिणा देने से जो फल यजमान को मिलता है वही फल युद्ध क्षेत्र में वीर गति पाये सैनिकों को मिलता है ।[4]

मनु का मत है कि मंत्रियों में जो ब्राह्मण ,विशेष विद्वान और विशिष्ट हो राजा उसके साथ सन्धि विग्रह आदि छः गुणों से युक्त परम मन्त्रणा करे ।[5] मनु ने राजा को पहाड़ पर या निर्जन राज महल के एकान्त स्थान में

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 4.8. 1 अनु० वाचस्पति गरौला, पृ० 24 — यौगपद्यात्तु - - - - - - - - - - - कार ये दित्यमात्य कर्म ।

2- मनुस्मृति 7.55 अपि यत्सुकरं -------- राज्यं महोदयम ।

3- कौटिल्य अर्थशास्त्र 1.4 8.2 3 अनु० वाचस्पति गैरोला, पृ०24 — पुरोहित मुदितोदित,कुलशील ----------- ------ शास्त्रानुगतशास्त्रितम्

4- ,, 10. 150-152.3. 5 पृ० 646 — ------ वदेष्वप्यनुश्रूयते --------- ----- सा ते गतिर्याशूराणाम इति ।

5- मनुस्मृति 7. 58 सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता ।

अथवा वन में सतर्क होकर मंत्रणा करने की परामर्श दी है । उनका मत है कि जिस राजा के विचार को अन्य लोग एक होकर भी नहीं जानते वह राजा दरिद्र होने पर भी सारी पृथ्वी को भोगता है । बुद्धिहीन, गूंगा, अन्धा, बहरा, शुक सारिकादि पक्षी, बूढ़ा, स्त्री, म्लेच्छ, रोगी और अंगहीन इन सब को मन्त्रणा करते समय हटा देना चाहिए क्योंकि ये लोग अपमानित होने पर गुप्त मंत्रणा प्रकट कर देते हैं ।[1] इसी प्रकार के मत याज्ञवल्क्य के भी हैं ।[2]

इसी प्रकार के अनेक दृष्टान्त हर्षचरित में दृष्टव्य होते हैं । इसमें वर्णन है कि नागवंश के नागसेन का नाश पद्मावती में इस कारण हुआ कि उसका गुप्त रहस्य मैना ने प्रकट कर दिया था, श्रुतवर्मा ने अपना राज्य श्रावस्ती में इसलिए खो दिया कि उसका रहस्य एक तोते ने खोल दिया था, राजा सुवर्ण चूर्ण अपने प्राण इसलिए गवाएं कि वह अपनी नीति के विषय में स्वप्नावस्था में बड़बड़ा उठा था।[3]

पुरोहित, सेनापति, दूत, गुप्तचर आदि इसी के अंग हैं । मनु का मत है सेनापति की अधीनता में दण्ड होता है । विनय रूप क्रिया दण्ड के अधीन होता है । कोश और राष्ट्र राजा के अधीन होता है तथा सन्धि और विग्रह दूत के अधीन होता है ।[4]

अग्नि पुराण में वर्णन है कि मंत्रियों के सोचने के मुख्य विषय हैं - मंत्र, निर्धारित नीति से उत्पन्न फल की प्राप्ति (किसी देश को जीतना या रक्षा करना) राज्य के कार्य करना, किसी को दिये जानेवाले कार्य के अच्छे बुरे प्रभावों के विषय में भविष्य वाणी करना आय, व्यय, शासन (दण्ड) शत्रुओं को दबाना, अकाल जैसी विपत्तियों का सामना करना तथा राजा एवं राज्य की रक्षा करना ।[5]

1- मनुस्मृति 7.147-150 - गिरि पृष्ठं समारुह्य ----------
---------- तस्मात्प्रमादूतो भवेत् ।।

2- याज्ञवल्क्य स्मृति 13.312.313
स मन्त्रिण: ---------- ।
---------- कुशलमथर्वाङ्गिरसे तथा ।।

3- हर्षचरित (6) नागकुलजन्मत: ----------
---------- श्रावस्त्याम् ।

4- मनुस्मृति 7.65 - अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया ।
नृपतौ कोशराष्ट्रे चदूते सन्धि विपर्ययौ ।।

5- अग्नि पुराण 241.16-18 मंत्री मंत्र फलावाप्ति ----------
---------- व्यसनान्वित: ।

डा० काणे ने मंत्री पद आनुवंशिक होने के कुछ प्रभाव दिये हैं यथा समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ती का लेखक हरिषेण जो महादण्डनायक था यही पद उसके पिता का भी था । चन्द्र गुप्त ।। का मंत्री वीर सेन ने भी पैतृक पद प्राप्त किया था किन्तु राजनीति प्रकाश व मत्स्य पुराण का मत है कि यदि व्यक्ति अयोग्य हो तो यह नियम त्याज्य समझा जायेगा । मध्यकालीन लेखकों का मत है कि मंत्रियों को ब्राह्मण ,क्षत्रिय,वैश्य,वर्ण का होना चाहिए किन्तु शूद्र को मंत्री होने का अधिकार नहीं है परन्तु राजतरंगिणी में वर्णन है कि कभी-कभी नीच कुल के व्यक्ति भी मंत्री पद पर पहुंच जाते थे जैसे अवन्ती वर्मा का अभियन्ता एक अपवित्र बालक था । इसी प्रकार एक चौकीदार आगे चलकर मंत्री बना।[1]

आपत्तिकाल में आमात्यों की भूमिका के ऐतिहासिक उदाहरण -

डा० अल्टेकर ने राज्य में मंत्रियों की वास्तविक स्थिति की ऐतिहासिक विवेचना की है । इनका मत है कि राजा के दुर्बल होने पर मंत्री सिंहासन पर कब्जा करने के ताक में रहते थे । राजा और मंत्री में बराबर तनातनी तथा परस्पर अविश्वास रहता था । सावित्री के पति सत्यवान के पिता का राज्य मंत्रियों के ही षड्यंत्र से गया ऐतिहासिक युग में मौर्य और शुंग वंश के अन्तिम राजाओं का भी यही हाल हुआ ।

यह मंत्रियों की अपवादात्मक स्थिति थी किन्तु सामान्यत: मंत्री प्रजा के कार्यों में राजा के सहयोगी होते थे । मंत्री का प्रथम कर्त्तव्य था राजा को कुमार्ग पर जाने से रोकना । कामन्दक का कथन है कि वे ही मंत्री राजा के सुहृद हैं जो उसे उत्पथ पर जाने से रोकते हैं । राज्य का सब से बड़ा दुर्भाग्य था जिसके मंत्री विश्वासघाती प्रवृत्ति के हो और शत्रु सहयोगी हो, किसी राष्ट्र का इससे बड़ा संकट और कुछ हो ही नहीं सकता । इसके विपरीत बहुत से राजा मंत्रियों के नियंत्रण में होते थे जैसे चन्द्रगुप्त मौर्य कौटिल्य के नियन्त्रण में थे । अशोक के मंत्रियों ने उसके अंधाधुंध दान का विरोध किया था । एक अवसर पर वह मात्र आधा आंवला ही संघ को दान दे पाया था। श्रावस्ती के राजा विक्रमादित्य

1- डा० काणे, धर्म शास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृ० 652-659, शुक्र 2. 246-247, राजतरंगिणी 5. 73, 7. 207.

प्रतिदिन पांच लाख मुद्राएं दान देना चाहते थे किन्तु मंत्रियों ने उन्हें ऐसा करने पर रोका क्योंकि खज़ाना शीघ्र खाली हो जाता और प्रजा पर अतिरिक्त कर लगाने पड़ते । पादंजलि जातक में वर्णन है कि मंत्रियों ने पादंजलि को इसलिए युवराज नहीं बनने दिया क्योंकि वह बुद्धिहीन था । राजतरंगिणी में वर्णन है कि मंत्रियों ने राजा अजयपीड़ मम्म के\राज्यच्युत किया तथा शूर को राजपद दिया । सिंहल के राजा क मृत्यु पर मंत्रियों ने एक वर्ष तक राज्य संभाला और उसके भतीजे के भारत लौटने पर शासन सूत्र सौंपा, हर्ष को कन्नौज का राज्य मंत्रियों ने ही सौंपा । इसी प्रकार से मंत्री अपने प्राण पण\ से राज्य तथा राजा की रक्षा भी करते थे । राजा जयापीड़ के बन्दी हो जाने पर उसके मंत्री ने अपने प्राण दे दिये ताकि उसके फूले शव के सहारे राजा नदी पार कर शत्रु के पंजे से मुक्ति पा सके । इस प्रकार से मंत्री प्रजा के प्रति उत्तरदायी न होने पर भी राजा और प्रजा की रक्षा उनका प्रमुख लक्ष्य था ।[1]

कौटिल्य का मत है कि राजा को चाहिए कि महामंत्री, मंत्री पुरोहित आदि के समीप गुप्तचर नियुक्त करने के पश्चात वह अपने प्रति प्रजाजनों तथा नगर निवासियों का अनुराग द्वेष जानने के लिए वहां भी गुप्तचरों की नियुक्ति करे ।[2] राजा का गुप्तचर विभाग ही आपद्ग्रस्त स्थितियों की पूर्व सूचना देने का कार्य करता था जिसके द्वारा राजा स्वयं को और प्रजा को सुरक्षित करने का उपाय कर सकता था ।

राष्ट्र और उसकी विपत्तियों का निवारण :

राष्ट्र शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में किया गया है । एक स्थल पर वर्णन प्राप्त होता है कि " मेरा राष्ट्र दोनों ओर या दोनों गोलकों में है।[3] अथर्ववेद में भी राष्ट्र शब्द प्रयुक्त किया गया है इसमें पृथ्वी को माता कहा

1- डा० ए०एस०अल्टेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 134-136 ।

2- कौटिल्य अर्थशास्त्र 8 . 12 . 1 कृतमहामात्यापसर्पः पौर जानपदानपसर्पयेत् ।

3- ऋग्वेद 4 . 42 . 1 मम द्विता राष्ट्रं -------

गया है और उसका आहवान किया गया है कि वह राष्ट्र को बल एवं दीप्ति दे।[1] तैत्तरिय संहिता में वर्णन है कि इस राष्ट्र में राजा शूर, महारथी और धर्नुधर हो।[2]

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राष्ट्र को विभिन्न प्रकार की आपत्तियों से बचाने के लिए राजा के कर्त्तव्यों का विस्तृत विवेचन किया है । कौटिल्य का मत है राजा को चाहिए कि वह शत्रुओं, जंगली लोगों, व्याधियों एवं दुर्भिक्षों से अपने देश को बचावे । वह उन क्रीड़ाओं का भी बहिष्कार कराये जो धन का अपव्यय और विलासप्रियता को बढ़ानेवाली हो[3] । राजा दण्ड, विष्टि(बेगार) कर (टैक्स) आदि की बाधा से कृषि की रक्षा करे इसी प्रकार चोर, हिंसक जंतु, विष प्रयोग तथा अन्य कष्टों से भी किसानों की रक्षा करे ।[4] बल्लभ (राजप्रिय) कार्मिक (राज कर वसूलनेवाले) चोर, अंतपाल (सीमारक्षक) और व्याध आदि राजपुरुषों, लुटेरों एवं हिंसक जन्तुओं से ग्रस्त व्यापार मार्गों का भी राजा परिशोधन करे अर्थात् अपने देश से इन सब आपत्तियों को दूर करे ।[5] इन विपत्तियों से बचने के लिए मानवीय एवं धार्मिक क्रियाओं एवं कृत्यों के विषय में व्यवहारिक निर्देश भी दिये हैं ।

दुर्भिक्ष के समय राजा को बीज एवं भोजन देने की व्यवस्था करनी चाहिए, विपत्ति में फंसे लोगों की सहायता के लिए कुछ निर्माण कार्य आरंभ कर देना चाहिए, राज भण्डार या धनिक लोगों के भण्डार या मित्र राष्ट्रों के

1- अर्थववेद, 12.1. 8

2- तैत्तरिय संहिता 7. 5. 18
दृष्टव्य डा० पी०वी०काणे- धर्मशास्त्र का इतिहास,भाग 2,पृ० 624 ।

3- कौटिल्य अर्थशास्त्र 17. 1. 1 - परचक्राटवीग्रस्तं व्याधि दुर्भिक्षपीडितम् ।
अनु० वाचस्पति गैरोला,पृ081 देशं परिहरेप्राजा व्ययक्रीड़ाश्च वारयेत् ।।

4- ,, ,, 17.1. 2 - दण्डविष्टि कराबाधैः रक्षेदुपहतां कृषिम् ।
स्तेनव्यालविषग्राहैर्व्याधिभिश्च पशुव्रजान ।।

5- ,, ,, 17. 1. 3 - बल्लभै कार्मिकै स्तेनैरन्तपालैश्च पीड़ितम् ।
शोधयेत्पशुसङ्घैश्च क्षीयमाणं वणिक्पथम् ।।

भण्डार से अन्न लेकर बटवाना चाहिए । धनिकों पर इतना कर लगाना चाहिए कि वे प्रचुर मांत्रा में धन दे सके या ऐसे देश को चल देना चाहिए जहां प्रचुर मात्रा में अन्न हो । राष्ट्रीय विपत्तियां ' इति ' के नाम से पुकारी गयी है, उनके छ: प्रकार हैं यथा अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूषक(चूहे) टिड्डी दल (शलभ), तोते तथा परदेशी राजाओं के बहुत पास में होना[1] ।

मनु ने एक अच्छे राष्ट्र के गुणों की व्याख्या की है कि जो देश प्रचुर धान्यादिक से संपन्न हो जहां धार्मिक लोग बसते हो, नीरोगादि से निरुपद्रव और रमणीय स्थान जहां आस-पास के रहनेवाले विनीत हो जहां सुलभ जीविका हो ऐसे देश में राजा को निवास करना चाहिए ।[2]

याज्ञवल्क्य ने भी इसका समर्थन किया है कि रमणीक पशुओं की (चारे आदि से) वृद्धि योग्य जीवन निर्वाह में (कन्द,मूल,पुष्प और फल से) सहायता देनेवाले एवं वन प्राय देश में निवास करे उस स्थान पर परिजनों, कोश एवं अपनी रक्षा के लिए दुर्ग बनावे ।[3]

इन वर्णनों से ज्ञात होता है कि राष्ट्र की सम्पन्नता एक बहुत ही महत्वपूर्ण तत्व था राष्ट्र को हरा - भरा एवं पूर्ण साधन सम्पन्न होना चाहिए किन्तु आचार्य कौटिल्य ने इसके आपद्ग्रस्त परिस्थितियों का भी सूक्ष्म निरीक्षण किया था तथा उसके निराकरण के उपायों का भी वर्णन किया है

डा० पी०वी०काणे ने अपने ग्रंथ में राष्ट्र के आपत्तियों के विविध दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं । छान्दोग्य उपनिषद में वर्णन है कि जब देश पर उपलवृष्टि (टिड्डियों का आक्रमण हुआ तो उषस्ति चाक्रायण को उच्छिष्ट भोजन करना पड़ा था । रोमपाद के शासन काल में अंग देश दुर्भिक्ष से अक्रान्त हो

1- राजनीति प्रकाश ,पृ० 447 - अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः ।
अत्यासन्नाश्च राजानः षडते ईतयः स्मृताः ।।

2- मनुस्मृति 7 . 96 - जाङ्गलं सस्यसंपन्नमार्यप्राय मनाविलम्
रम्यमानवसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ।।

3- याज्ञवल्क्य स्मृति 13 . 321 - रम्यं ---------- जनकोशात्मगुप्तयो ।

गया था । निरुक्त से पता चलता है कि राजा शान्तनु के समय में 12 वर्षों तक दुर्भिक्ष पड़ा था । महास्थान से प्राप्त मौर्य अभिलेख से ज्ञात होता है कि दुर्भिक्ष पीड़ित लोगों में गण्डक नामक सिक्के एवं अन्न बाटें गये थे ।[1]

दुर्ग (किला या राजधानी) द्वारा आपत्तियों से रक्षा :

कुछ विद्वानों ने राजधानी को शासन यंत्र की धुरी माना है । इनका मत है कि यदि देश का कुछ अंश शत्रु ले ले तो भी यदि राजधानी सुरक्षित है तो जीता हुआ देश पुन: वापस लिया जा सकता है ; क्योंकि दुर्ग ही एक ऐसा केन्द्र है जहां आपत्ति के समय में भी राजा, प्रजा, सेना, कोष, सुरक्षित रहता है ।

कौटिल्य ने राज्य को सुरक्षित रखने के लिए दुर्गों को अति आवश्यक बताया है । उनका मत है कि जनपद सीमाओं के चारों दिशाओं में राजा युद्धोचित प्राकृतिक दुर्ग का निर्माण करवाये । कौटिल्य ने दुर्गों के चार प्रकार बताये हैं -

(I) औदक दुर्ग :- चारो ओर पानी से घिरा हुआ टापू के समान गहरे तालाबों से आवृत्त स्थल प्रदेश औदक दुर्ग कहलाते हैं ।

(II) पार्वत दुर्ग : - बड़ी-बड़ी चट्टानों अथवा पर्वत की कन्दराओं के रूप में निर्मित दुर्ग पार्वत दुर्ग कहलाता है ।

(III) धान्वन दुर्ग :- जल तथा घास आदि से रहित अथवा सर्वथा ऊसर भूमि में निर्मित दुर्ग धान्वन दुर्ग है ।

(IV) वन दुर्ग :- चारो ओर दलदल से घिरा हुआ अथवा काटेदार सघन झाड़ियों से परिवृत दुर्ग वन दुर्ग कहलाता है ।

1- डा० पी०वी०काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2,पृ० 655
छान्दोग्य उपनिषद् 1. 10. 1-3
निरुक्त 2. 10
ज० ए० एस० बी० 1932, पृ० 123

इनमें से औदक तथा पार्वतदुर्ग आपत्तिकाल में जनपद की रक्षा के लिए उपयोग में लाये जाते हैं । धान्वन और वन दुर्ग वनपालों की रक्षा के लिए उपयोगी होती है ; अथवा आपत्ति के समय इन दुर्गों में भाग कर राजा भी अपनी रक्षा कर सकता है ।[1]

मनु ने भी 6 प्रकार के दुर्गों का वर्णन किया है । (1) धनु दुर्ग (मरुवेष्टित) (2) मही दुर्ग (पाषाणखण्ड वेष्टित) (3) जलदुर्ग (4) वृक्ष दुर्ग (5) नृदुर्ग (6) गिरि दुर्ग का आश्रय लेकर नगर का वास करे ।[2] मनु ने दुर्ग को बड़ा ही महत्वपूर्ण माना है । उनका मत है जैसे किले के आश्रित मृगादि जीवों को इनके शत्रु नहीं मार सकते वैसे ही दुर्ग के आश्रित राजा को भी शत्रु नहीं मार सकते[3] । किले में रहनेवाला एक धर्नुधारी बाहरवाले सौ योद्धाओं का सामना कर सकता है और किले की एक सौ सेना दस सहस्त्र सेना के साथ युद्ध कर सकती है इसलिए दुर्ग अवश्य बनाना चाहिए ।[4] वह किला अस्त्र, शस्त्र, धन-धान्य, वाहन, ब्राह्मण, शिल्पी, यन्त्र, तृण और जल से परिपूर्ण रहना चाहिए ।[5]

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 19. 3. 1 - चतुर्दिशं जनपदान्ते साम्परायिक दैवकृत दुर्गं कारयेत ; अन्तर्द्वीपं स्थलं वा निम्नावरुद्धमौदकं, प्रास्तरं, गुहां वा पार्वतं, निरुदकस्तम्ब मिरिणं वा धान्वनं खञ्जनोदकं स्तम्भ गहनं वा वन दुर्गम् । तेषां नदी पर्वत दुर्गं जनपदारक्षास्थानं धान्वन वनदुर्गमटवीस्थानम् आपत्यपसारो वा ।

2- मनुस्मृति 7. 70 - धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ।।

3- मनुस्मृति 7. 73 - यथा दुर्गाश्रितानेतान्नो पहिंसन्ति शत्रव: ।
तथारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ।।

4- मनुस्मृति 7. 74 - एकं शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धर: ।
शतं दशसहस्त्राणि तस्माददुर्गं विधीयते ।।

5- मनुस्मृति 7. 75 - तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनै: ।
ब्राह्मणै: शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ।।

मनु के विचार से ऐसे दुर्ग के बीच में पर्याप्त जाई और सब प्रकार के ऋतुओं के फल फूल और निर्मल जल से भरे हुए कुओं और बावलियों से युक्त अपना राजभवन बनवाये ।[1]

याज्ञवल्क्य का भी यही विचार है कि दुर्ग की स्थिति से राजा की सुरक्षा, प्रजा एवं कोश की रक्षा होती है ।[2]

आपत्तिकाल में कोष संग्रह :

कौटिल्य का मत है कि जिस राजा का कोश रिक्त हो जाता है वह नगर निवासियों को चूसने लगता है । राज्य के सारे व्यापार कोश पर निर्भर रहते हैं । अत: राजा को सर्वप्रथम कोश पर ध्यान देना चाहिए ।[3] खजाने के कम हो जाने या अकस्मात ही अर्थ संकट उपस्थित हो जाने पर राजा को कोष संचय करना चाहिए ।[4] राज्य कर एक बार ही लेना चाहिए दुबारा नहीं । कौटिल्य का कथन है यदि एक बार कर लेने में खजाने को न बढ़ाया जा सके तो समाहर्ता को चाहिए कि किसी कार्य का बहाना बनाकर वह नगरवासियों और प्रदेश वासियों से धन की याचना करे । यदि कोई थोड़ा धन दे तो गुप्तचर उसकी निन्दा समाज में फैलाये ।[5] धनी व्यक्तियों से उनकी हैसियत के अनुसार धन लिया जाय । कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राजा को आपत्ति काल में धन संग्रह करने के लिए विभिन्न कूटनीतिक सुझावों की विस्तृत व्याख्या की है जिसके द्वारा राजा अधिकाधिक धन संग्रह कर सके ।

राज्य की ओर से उपकृत लोगों पर उपकार के अनुपात से जितना धन मिले हुए लोग दे उतनी ही रकम धनवानों से देने का आग्रह किया

1-मनुस्मृति 7. 76 - तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद्गृहमात्मन: ।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जल वृक्ष समन्वितम् ।।

2- याज्ञवल्क्य स्मृति 1. 321 ' जनकोशात्मगुप्तये '

3- कौटिल्य अर्थशास्त्र 2. 2 - कोशमूला कोशपूर्वा: सर्वारम्भा: ।तस्मात्पूर्वं कोशमवेक्षेत्

4- ,, 90.2.1 - कोशमकोश: प्रत्युत्पन्नार्थकृच्छ्र: संगृह्णीयात् ।
अनु0 वाचस्पति गैरोला

5- ,, 90. 2. 1 - सकृदेव न: द्वि: प्रयोज्य ---------
पृ0 415 ------------ हिरण्यमाढ्यान् याचेत ।

जाय, सहायता देनेवाले धनी पुरुषों को अधिकार, उच्चासन, छत्र, वेष्टन (पगड़ी) आभूषण आदि देकर सम्मानित करना चाहिए । किसी पाखंडी समूह की सम्पत्ति जिसका कोई भी अंश श्रोत्रिय के पास नहीं जाता हो तथा मरे हुए एवं घर जले हुए कि सम्पत्ति को उनका कर्म कराने के बहाने राजकोश में जमा कर लिया जाय ।[1]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णन है कि अपने कोष की वृद्धि के लिए राजा इस प्रकार के उपायों का प्रयोग दूष्यों और अधार्मिक व्यक्तियों पर ही करे दूसरों पर नहीं ।[2] राजा को चाहिए कि वह दुष्ट पुरुषों का धन उसी प्रकार ले ले जिस प्रकार वाटिका से पके हुए फल को लिया जाता है, किन्तु धर्मात्मा पुरुषों का धन उसी प्रकार छोड़ दे जैसे कच्चे फल को छोड़ दिया जाता है । कच्चे फल के समान धर्मात्मा पुरुषों से वसूला गया धन प्रजा के कोप का कारण बन जाता है ।[3]

मनु का मत है कि राजा व्यापार, कृषि आदि करनेवाले व्यवसायियों का लाभ हो इसका विचार कर सदा कर की कल्पना करनी चाहिए । राजा को कर वसूली के समय जोंक, भ्रमर और बछड़ा और क वृत्ति को अपना[4] चाहिए अर्थात् थोड़ा-थोड़ा ही वार्षिक कर लेनी चाहिए ।

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 90.2.2 यथोपकारं वा स्ववशा ----------
   अनु० वाचस्पति गैरोला, 415 ------------- हस्ते न्यस्तमित्युपहरेयुः ।

2- ,, ,,90.2.2 एवं दूष्येषु धार्मिकेषु च वर्तेत । नेतरेषु ।
   पृ० 419

3- ,, 90.2. 3 पक्वं पक्वमिवारामात् फलं राज्यादवाप्नुयात ।
   पृ० 419 आत्मच्छेदभयादामं वर्जयेत् कोपकारकम् ।।

4- मनुस्मृति 7. 128 - यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मनाम् ।
   तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ।

   7. 129 - यथाल्पाल्पमदन्त्याद्यं ----------- ।
   ------------------- करः ।।

महाभारत के शान्तिपर्व में वर्णन है कि आपत्तिकाल में कोष और सेना की प्राप्ति के लिए दूसरों को पीड़ित करना राजाओं का निन्दित कार्य नहीं है ।[1] राजा को चाहिए कि वह अपने तथा अपने शत्रु से धन लेकर खजाने को भरे । कोष से ही धर्म की वृद्धि होती है और राज्य की जड़े सुदृढ़ होती है इसलिए राजा कोष का संग्रह करके सदैव उसकी रक्षा करेऔर निरन्तर बढ़ावे यही राजा का धर्म है । लक्ष्मी क कारण ही राजा सर्वत्र बड़ा भारी आदर सत्कार पाता है जिस प्रकार कपड़ा नारी के गुप्त अंगों को ढकता है वैसे ही लक्ष्मी राजा के दोषों को ढक देती है ।[2] धन के अभाव में ही प्रजा को पीड़ित किया जाता है । आपत्तिकाल में प्रजा को पीड़ित किये बिना और किसी उपाय से धन नहीं मिल सकता है । जैसे पशु, यज्ञ और चित की शुद्धता ये तीन मोक्ष के साधन हैं उसी प्रकार कोष ,बल और विजय ये तीन राज्य को पुष्ट करने के साधन हैं । धन से यह लोक परलोक सत्य धर्म सब कुछ अपने अधीन किया जा सकता है । निर्धन मनुष्य मुर्दे के समान है । संसार में धनवान मनुष्य बलवान और निर्धन मनुष्य निर्बल है । धनवान मनुष्य सभी वस्तुओं को अपने अधिकार में कर सकता है और सभी विपत्तियों को पार लगा सकता है ।[3]

राजा को यज्ञानुष्ठान करनेवाले द्विजों का धन नहीं लेना चाहिए, इसी प्रकार उसे देव सम्पत्ति में भी हाथ नहीं लगाना चाहिए वह लुटेरों तथा अकर्मण्य मनुष्यों के धन का भी अपहरण कर सकता है ।[4] ये समस्त प्रजाएं क्षत्रियों

1- महाभारत शान्ति पर्व 130. 36

नान्यानपीडयित्वेह कोशः शक्यः कुतो बलम् ।
तदर्थं पीडयित्वा च दोषं प्राप्तुं न सोऽर्हति ।।

2- ,, ,, 133. 7

श्रियो हि कारणाद् राजा सत्क्रियां लभते पराम् ।
सास्य गूहति पापानि वासो गुह्यमिव स्त्रियाः ।।

3- ,, ,, 130.43

धनेन जयते लोकावुभौ परमिमं तथा ।
सत्यं च धर्मवचनं यथा नास्त्यधनस्तथा ।।

4- ,, ,, 130. 44

अधनं दुर्बलं प्राहुर्धनेन बलवान भवेत ।
सर्वं धनवता प्राप्यं सर्वं तरति कोशवान ।।

की है राज्य भोग भी क्षत्रियों का है और सारा धन भी क्षत्रियों का है दूसरों का नहीं किन्तु वह धन उसकी सेना के लिए है या यज्ञानुष्ठान के लिए ।[1] यही विचार मनु का भी है कि अत्यन्त संकटावस्था में भी श्रोत्रिय ब्राह्मण से कर न ले और उसके राज्य में रहनेवाला वेदाध्यायी ब्राह्मण भूख से पीड़ित न होने पाये ऐसा ध्यान रखे, जिस राजा के राज्य में वैदिक ब्राह्मण भूख से दु:ख पाता है उस राजा का राज्य भी उसकी क्षुधा से शीघ्र नष्ट हो जाता है ।[2]

अल्टेकर का मत है मुसलमान लेखकों ने इस बात का विशेष उल्लेख किया है कि हिन्दू राजा अपने पूर्वजों से भरा पूरा कोष पाते थे और अत्यन्त संकट काल में इनका उपयोग करते थे । जिनका कोष भरा पूरा रहता था वही राज्य संकट से अपनी रक्षा कर पाते थे । स्थायी कोष का एक बड़ा हिस्सा गुप्त स्थल पर गाड़कर रखा जाता था जो संकट के समय उपयोगी होता था एक किम्वदंती के अनुसार विजय नगर राज्य की स्थापना करने में मंत्री विधारण्य ने एक बड़ा खज़ाना गुप्त स्थल में गाड़कर रख दिया था जो आगे आनेवाले संकट के लिए था ।[3]

आपत्तिकाल में बल, सेना, दण्ड का महत्व :

ऋग्वेद में सेना, अस्त्र-शस्त्रों, युद्धों आदि का वर्णन कई बार हुआ है । शस्त्र सामग्रियों में धनुष, वाण, कवच, प्रत्यंचा तूरीन, सारथी रथों आदि की चर्चा की गयी है । युद्ध के सैनिकों के लिए सेनानी शब्द का प्रयोग किया गया है ।[4]

1- महाभारत शान्तिपर्व 136.2 - न धनं यज्ञशीलानां मर्धं देवस्वमेव च ।
दस्यूनां निष्क्रियाणां च क्षत्रियो हर्तुमर्हति ।।

2- मनुस्मृति 7.133- म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम् ।
न च क्षुधास्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन् ।।
7.134- यस्तु राज्ञस्तु विषये श्रोत्रिय: सीदति क्षुधा ।
तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सादति ।।

3- डा० ए० एस० अल्टेकर - प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 221

4- ऋग्वेद 10.84.2 अग्निरिव मन्यो त्विषित: सहस्व सेनानीर्न: सुहरे हूतं एधि ।।
अनु० दामोदर सातवलेकर ।

कौटिल्य का विचार है कि विजिगीषु को चाहिए कि वह अपने और शत्रु के बीच शक्ति, देश, काल, युद्ध काल, सेना की उन्नति का समय (बल समुत्थान काल) पश्चात्कोप (सेना रहित राजधानी में आक्रमण की आशंका) क्षय, व्यय, लाभ और आपत्ति आदि बलाबल के संबंध में भलीभांति जानकर शत्रु की अपेक्षा अधिक सेना लेकर उस पर आक्रमण करे यदि अधिक सैन्य बल का प्रबन्ध न हो सके तो चुपचाप बैठा रहे ।[1] कौटिल्य अर्थशास्त्र में विविध आचार्यों के मतों का वर्णन है कुछ के विचार में राजा के प्रभाव शक्ति को महत्वपूर्ण माना है कुछ ने राजा की मन्त्र शक्ति को महत्वपूर्ण माना है, इन मतों के विपरीत कौटिल्य का मत है कि प्रभाव शक्ति की अपेक्षा राजा की मन्त्र शक्ति ही श्रेष्ठ है क्योंकि जिस राजा के पास बुद्धि तथा शास्त्र रूपी नेत्र हैं वह थोड़ा प्रयत्न करने पर ही मन्त्र का अच्छी तरह अनुष्ठान कर सकता है और उत्साह, प्रभाव, साम तथा औपनिषदिक उपायों द्वारा शत्रुओं को वश में कर सकता है । इसी प्रकार उत्साह, प्रभाव और मन्त्र तीनों शक्तियां उत्तरोत्तर बलवान हैं अर्थात् उत्तरोत्तर शक्ति से सम्पन्न राजा पूर्व, पूर्व शक्ति से सम्पन्न राजा को वश में कर सकता है ।[2] कुछ आचार्योंने विजय प्राप्त करने में देश को महत्वपूर्ण माना है । कुछ ने काल को महत्वपूर्ण माना है उनका विचार है कि समय ही प्रबल होता है उसी के प्रभाव से दिन में कौवा उल्लू को मार देता है तथा रात में उल्लू कौवे को मार देता है किन्तु इसके विपरीत कौटिल्य ने शक्ति-देश-काल इन तीनों को ही प्रबल और एक दूसरे का पूरक माना है ।[3] कौटिल्य ने आपत्तिकाल का सामना करने के लिए विविध प्रकार के सेनाओं की चर्चा की है :-

---

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 135-136.1 विजिगीषुरात्मन: परस्प ——————— अन्यथासीत
अनु० वाचस्पति गैरोला, पृ०589

2- ,, ,, 135-136.1 नेति कौटिल्य: । मन्त्रशक्ति: श्रेयसी
पृ० 590 —— एवमुत्साहप्रभावशक्तीनामुत्तरोत्तरा-धिकोऽतिसन्धत्ते ।

3- ,, ,, 135-136.1 नेति कौटिल्य: ।
पृ० 592 परस्पर साधका हि शक्तिदेशकाल:

1- मौल बल :- यह राजधानी की रक्षा करनेवाली सेना होती है । यदि शत्रु किसी शक्तिशाली सेना लेकर युद्ध में आया हो तो उस समय मौल-बल को अपने साथ रखना चाहिए । मौल बल अत्यन्त स्वामि भक्त सेना होती है । इसे कभी फोड़ा नहीं जा सकता । इसे दूर देश, दीर्घकालीन युद्ध, क्षय, व्यय की अवस्था में और यदि विजिगिषु के सेना के खेत छोड़कर भागने की आशंका हो तो सदैव इसे अपने साथ युद्ध भूमि में ले जाना चाहिए ।[1]

2- भृतक बल (सवैतनिक सेना) :- यदि विजिगीषु राजा यह समझे की मौलबल की अपेक्षा मेरा भृतक बल अधिक सुदृढ़ है तथा शत्रु का मौलबल थोड़ा तथा अविश्वासी है या शत्रु के साथ तूष्णी युद्ध करना पड़ेगा या थोड़े श्रम में युद्ध में विजय प्राप्त हो सकती है । गंतव्य देश दूर नहीं है तो ऐसी स्थिति में भृतक बल को साथ लेकर युद्ध करना चाहिए ।[2]

3- श्रेणी बल (विभिन्न कार्यों में नियुक्त शस्त्रास्त्र में निपुण सेना) :-

यदि विजिगिषु को यह विश्वास हो कि मेरे पास श्रेणी बल इतना पोख्ता है कि उसको राजधानी की रक्षा में भी लगाया जा सकता है और शत्रु के साथ युद्ध करने में भी उनको साथ लिया जा सकता है या सफर कम है तथा मुकाबले की सेना भी प्राय: श्रेणी बल के साथ युद्ध करने के लायक है या शत्रु तूष्णी युद्ध (मन्त्र) प्रकाशयुद्ध (व्यायाम) से मुकाबला करना चाहता है या शत्रु अपनी सेना किसी राजा के अधीन करने की सोच रहा है ऐसे अवसरों पर श्रेणी बलों को साथ लेकर युद्ध करना चाहिए ।[3]

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 9. 137-139 .2 मूलरक्षणादतिरिक्तं मौलबलम् ------
अनु० वाचस्पति गैरोला, पृ०595 ------------- मौलबलकाल: ।

2- ,, ,, 9. 137-139 .2 प्रभूतं ये भृतबलमल्पं च...........
पृ० 596 .... भृतबलकाल: ।

3- ,, ,, 9. 137-139 .2 .2 प्रभूतं मे श्रेणीबलं -----------
पृ० 596 --------- श्रेणी बल काल: ।

4- मित्र बल (मित्र राजा की सेना) :- कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्णन है कि यदि विजिगिषु राजा यह समझे कि उसका मित्रबल इतना पोख्ता है कि वह राजधानी की रक्षा करने में और शत्रु पर चढ़ाई करने में भी समर्थ है या युद्धादि के कार्य में मित्र का तथा अपना समान प्रयोजन है या इस कार्य की सिद्धि मित्र के हाथ में है या अपने समीपस्थ अंतरंगा मित्र का अवश्य ही उपकार करना है अथवा अपने मित्र से द्रोह रखनेवाली सेना को शत्रु सेना के साथ भिड़ाकर मरवा डालूंगा - ऐसे अवसरों पर या परिस्थितियों में मित्र की सेना को भी युद्ध में ले जाना चाहिए ।[1]

5- अमित्र बल (शत्रु राजा की सेना) :- यदि विजिगिषु यह समझे कि शत्रु सेना अत्यधिक है जो कि उसके नगर में ठहरी है जिसको वह अपने दूसरे शत्रु के साथ भिड़ा सकता है अथवा आटविक सेना के साथ भिड़ा सकता है, इस प्रकार दोनों शत्रु सेना के लड़ जाने पर उसका अभिष्ट सिद्ध हो जावेगा, यदि विजिगिषु का शत्रु अपने किसी दूसरे शत्रु के साथ युद्ध कर रहा हो तो उस युद्ध के समाप्त हो जाने पर दूसरे के अवसर पर शत्रु सेना को ही दूसरे शत्रु के[2] मुकाबले भिड़ा दे ऐसी स्थितियों में शत्रु सेना को ही युद्ध में भेजना चाहिए ।

6- अटवी बल (आटविक सेना) :- यदि विजिगिषु को गंतव्य स्थान बताने की आवश्यकता हो या आटविक सेना शत्रु के आयुधों की शिक्षा में बहुत निपुण हो या बिना विजिगिषु के आज्ञा के आटविक सेना शत्रु सेना से युद्ध करे, या शत्रु आटविक सेना का प्रयोग कर रहा हो ऐसी परिस्थितियों में आटविक सेना लेकर युद्ध भूमि में जाना चाहिए ।[3]

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 9. 137-139.2 प्रभूतं ये मित्र बलं शक्यं -------- -------------- मित्रबलकाल: । पृ० 595-597

2- ,, ,, 9. 137-139.2.1 प्रभूतं में शत्रुबलं ------------ ------------ इत्यमित्रबलकाल: पृ० 597

3- ,, ,, 9. 137-139 2. 3 मार्गदैशिक -------------- ------------ इत्यटवीबलकाल: । पृ० 597

7- औत्साहिक बल :- औत्साहिक सेना नेतृत्वहीन, भिन्न-भिन्न देशों में रहनेवाली राजा की स्वीकृति या अस्वीकृत से ही दूसरे देशों में लूटमार करनेवाली सेना को ही औत्साहिक बल कहते हैं, यह सेना दो प्रकार की होती है -

(ए) भेद्य : - दैनिक भत्ता या मासिक वेतन देकर शत्रु के देश में लूटमार करनेवाली दुर्गों में काम करनेवाली और राजाओं के सामयिक आज्ञाओं का पालन करनेवाली सेना औत्साहिक सेना भेद्य कहलाती है । इसे अधिक भत्ता देकर फोड़ा भी जा सकता है।

(बी) अभेद्य :-यह सेना प्राय: एक ही देश, एक ही जाति, एक ही व्यवसाय की होती है, इसे वेतन आदि का प्रलोभन देकर फोड़ा नहीं जा सकता, उसे अपने देश का अधिक ध्यान रहता है, वह बड़ी ही संगठित रहती है इसलिए इस सेना को उपयुक्त समय के लिए संग्रह करके रखना चाहिए[1]।

इन सब के अतिरिक्त आचार्य कौटिल्य ने चारों वर्ण की सेनाओं का वर्णन अपने अर्थशास्त्र में किया है, उनका मत है शत्रुपक्ष ब्राह्मण सेना के समक्ष नमस्कार कर या सिर झुकाकर अपने वश में कर लेता है इसलिए युद्ध विद्या में निपुण क्षात्रिय सेना को ही सर्वाधिक श्रेष्ठ समझना चाहिए अथवा वैश्य सेना और शूद्र सेना को भी श्रेष्ठ समझना चाहिए यदि उनमें वीर पुरुषों की अधिकता हो ।[2] इस कथन से ज्ञात होता है कि चारों वर्ण के लोग सैनिक हो सकते थे । इस प्रकार से पूर्वोक्त रीति से सेनाओं की पारस्परिक श्रेष्ठता, गुरुता

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 9. 137-139.2.1 (अनु० वाचस्पति गैरोला) पृ० 598 — सैन्यमनेकमनेजातीय स्थयुक्तमनुक्त ------- ---------- इति बलोपादानकाला: ।

2- ,, ,, 9. 137-139 2.2 पृ० 600 — नेति कौटिल्य: । प्रणिपातेन ब्राह्मवंबलं परोऽभिहारयेत् । प्रहरण विद्याविनीतं तु क्षात्रियबलं श्रेय: बहुलसारं वा वैश्यशूद्रबल-मिति

लघुता का विचार करके ही उपयुक्त सेनाओं का संग्रह करना चाहिए । इसी प्रकार मौलभृत आदि अपनी सेनाओं की शक्ति के अनुसार एवं सेनाओं के अंगभूत साधन हाथी घोड़े अस्त्र-शस्त्र आदि की अधिकता अल्पता दृष्टि में रखकर अलग-अलग विभागों के अनुसार ही सेना का संग्रह तथा शत्रु का प्रतिकार करना चाहिए।[1]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में चतुरंगिणी सेना का वर्णन है । कवच-धारी हाथी, कवचधारी घोड़े, मजबूत लोहे के पत्तों से मढ़े हुए रथ और कवचधारी पैदल सेना इन चारों को क्रमश: हस्तिबल, अश्वारोही, रथारोही और पदाति इसे चतुरंग सेना का प्रति बल समझना चाहिए[2] । इस प्रकार से कौटिल्य अर्थशास्त्र में सेना के प्रबन्ध, आक्रमण के समय वाह्य तथा आन्तरिक आपत्तियों के प्रकार सेना के निवास स्थान, व्यूह रचना आदि का बहुत विस्तृत वर्णन मिलता है ।

<u>दण्ड :</u> मनुस्मृति में भी शत्रु को अपने वश में करने के विविध उपायों में बल तथा दण्ड के महत्व को स्वीकार किया गया है । मनु का मत है राजा बगुले की तरह धन लेने की चिन्ता करे सिंह के समान पराक्रम करे भेड़िये की भांति अवसर पाकर शत्रु को मार डाले और बलवान शत्रु से घिर जाने पर खरहे की तरह से जाना चाहिए[3] । इस प्रकार विजयी राजा सामादि उपायों से अपने सभी शत्रुओं को वश में लाये यदि वे पहले साम,दाम भेद से वश में न आये तो उनके राज्य पर चढ़ाई कर दण्ड द्वारा वश में लावे । पण्डित लोग सामाविक चार उपायों में से राष्ट्र वृद्धि के लिए साम और दण्ड की सदा ही प्रशंसा करते हैं ।[4] याज्ञवल्क्य का भी यही मत है ।[5] शत्रु को वश में करना दण्ड नीति पर निर्भर है । दण्डनीति का

1- कौटिल्य 9. 137-139 2.3 एवं बलसमुद्दानं परसैन्यनिवारणम् ।
अनु० गैरोला,पृ० 601 विभवेन स्वसैन्यानां कुर्यादङ्गविकल्पश: ।।

2- ,, ,, 2 2 वर्मिणो वा हस्तिनोऽश्वा वा वर्मिण: कवचिनी रथा आवरणिन: पत्यश्चतुरंग बलस्य प्रतिबलम् ।

3- मनुस्मृति 7. 106 - वकवच्चिन्तयेदर्थान्सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ।।

4- मनुस्मृति 7. 107,8,9 एवं विजयमानस्य ———————
——————— नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ।।

5- याज्ञवल्क्य स्मृति 13. 346 उपाया: ——————— गति: ।।

आश्रय लेता हुआ राजा समस्त प्रजा की रक्षा करता है । दण्ड से सम्पत्ति बढ़ती है । दण्ड शक्ति के अभाव में मंत्री समूह विच्छिन्न हो जाता है । दण्ड शक्ति के कारण लोग न करने योग्य कार्यों को नहीं करते हैं । अपनी सुरक्षा भी दण्ड नीति पर निर्भर है ।[1] अपनी सुरक्षा किये जाने के बाद ही दूसरे की रक्षा की जा सकती है । उत्थान और विनाश दोनों ही अपने ही हाथों में है । भलीभांति सोच विचारकर दण्डनीति का प्रयोग करना चाहिए । किसी राजा को दुर्बल सोचकर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । अग्नि को कौन दुर्बल कह सकता है ।[2]

महाभारत के शान्तिपर्व में भी बल के महत्व को स्वीकार किया गया है । इसमें वर्णन है कि धर्म और अधर्म का फल किसी ने कभी यहां प्रत्यक्ष नहीं देखा । अतः राजा बल की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करे क्योंकि यह सब जगत बलवान के ही वश में रहता है ।

बलवान पुरुष इस जगत में सम्पत्ति सेना मंत्री सब कुछ पा लेगा, जो दरिद्र है वह पतित समझा जाता है । बलवान पुरुष में बहुत सी बुराईयां होती है तो भी भय के कारण उसके विषय में मुंह से कुछ बात नहीं निकल सकता । यदि बल और धर्म दोनों सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित होते हैं तो मनुष्य की महान भय से रक्षा करते हैं ।[3] महाभारत शान्तिपर्व के आपद्धर्म पर्व में भीष्म जी कहते हैं कि अधिक धर्म से बल को ही श्रेष्ठ मानता हूं क्योंकि बल से धर्म

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र, चाणक्य प्रणीत सूत्र 78-83

अमित्रो दण्डनीत्यामायत: । दण्डनीतिमधितिष्ठान् प्रजा: संरक्षति।
दण्ड: सम्पदा योजयति । दण्डाभावे मंत्रिवर्गा भाण: न
दण्डादकार्याणि कुर्वन्ति । दण्डनीत्यामायन्तामात्म रक्षणम् ।

2- कौटिल्य अर्थशास्त्र, चाणक्य प्रणीत सूत्र 84-88

आत्मानि रक्षिते सर्वं रक्षितं भवति । आत्मायत्तौ वृद्धि
विनाशौ । दण्डो हि विज्ञाने प्रणीयते । दुर्बलोऽपि राजा
नावमन्तव्य: । नास्त्यग्नेदौर्बल्यम् ।

3- महा०शा०आप० 134 5

बहवपथ्युर्य बलवति न किंचित क्रियते भयात् ।
उभौसत्याधिकारस्थौ त्रायेते महतो भयात् ।।

की प्रवृत्ति होती है । जैसे चलने फिरनेवाले सभी प्राणी पृथ्वी पर ही स्थित है उसी प्रकार धर्म भी बल पर प्रतिष्ठित होता है ।[1] जैसे धुंआ वायु के अधीन होकर चलता है उसी प्रकार धर्म भी बल का अनुसरण करता है । जैसे भोग सामग्री से संपन्न पुरुषों के अधीन सुख भोग होता है उसी प्रकार धर्म बलवानों के वश में रहता है । बलवानों के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है । बलवानों की सारी वस्तुएं, शुद्ध व निर्दोष होती है ।[2] दुर्बल अपनी संपति से वंचित हो जाता है और सब के उपमान और उपेक्षा का पात्र बनता है तथा दुःखमय जीवन व्यतीत करता है । जो जीवन निन्दित हो जाय वह मृत्यु के ही तुल्य है । दुर्बल मनुष्य के विषय में लोग इस प्रकार कहने लगते हैं अरे, यह तो पापाचरण के कारण बन्धु बान्धवों द्वारा त्याग दिया गया है । उनके इस वाग्बाण द्वारा घायल होकर वह संतप्त हो उठता है ।[3] बल ही दण्ड निर्धारक तत्व था ।

मत्स्य पुराण में भी दण्ड के महत्त्व की चर्चा की गयी है । उसमें वर्णन प्राप्त होता है कि जो मनुष्य साम,दाम और भेद इन तीनों उपायों से वश में नहीं किये जा सके उनको दण्ड से ही अपने वश में करना चाहिए क्योंकि दण्ड ही ऐसा साधन है जो मनुष्यों को वश में करनेवाला होता है । राजा द्वारा दण्ड का प्रणयन भलीभांति व शास्त्रानुसार ही होना चाहिए । दण्ड ही प्रजा पर शासन करता है तथा वही प्रजा का अभिरक्षण करता है। सुप्त लोगों में दण्ड ही जागता है तथा प्रबुद्ध लोग दण्ड को ही धर्म जानते हैं । राजा के द्वारा प्राप्त होनेवाले दण्ड के भय से ही पापी लोग कर्म नहीं करते ।[4]

1- महा०शा०आप० 134. 6 अतिधर्माद् बल मान्ये बलाद् धर्म प्रर्वतते ।
बले प्रतिष्ठितो धर्मो धरण्यामिव जङ्गमम ।।

2- ,, ,, 134.8 वशे बलवतां धर्मः सुखं भोगवतामिव ।
नास्त्यसाध्यं बलवतां सर्वं बलवतां शुचि ।।

3- महा० शा० पर्व, 134. 10,11

4- मत्स्य पुराण 103.1- 103.15 स शक्या वश ---------------------
अनु० श्रीराम शर्मा आचार्य ---------------
बरेली, 1972 --------------- पापाः पापं न कुर्वंत ।।

. प्राचीनकाल में बल सेना तथा दण्ड के महत्व को स्वीकार करते हुए शास्त्रकारों ने युद्ध के कुछ नियम निर्धारित किये थे जिसका पालन करना सैनिकों को आवश्यक था । युद्ध की भी परिसीमाएं निर्धारित की गयी थी जिनके अन्दर ही युद्ध करना नियमानुमोदित था । गौतम का मत है कि जिन्होंने अश्व सारथि आयुद्ध खो दिया हो, हाथ जोड़ लिया हो, युद्ध में पीठ दिखा दिया हो, जो भूमि पर बैठ गया हो, दूत, गाय, ब्राह्मण युद्ध में अवध्य थे ।[1] इसका समर्थन मनु ने भी किया है । मनु का मत है कि युद्ध में लड़ते हुए शत्रुओं को कूटशस्त्रों से कर्णिका के आकार सदृश्य फलकवाले, विष से बुझे हुए अग्निदिप्त बाणों से न मारे ।[2] इन्होंने भी नपुंसक, हाथ जोड़े, नीचे बैठे, मैं तुम्हारा हूं कहते हुए शत्रु, सोये, नंगे, निःशस्त्र, दर्शक तथा दूसरे से लड़ते हुए व्यक्ति को न मारने की अनुमति दी है ।[3] महाभारत ने भी इसका समर्थन किया है ।

मेगस्थनीज़ ने लिखा है, " कृषकगण मस्तो से, निर्भय हो अपना कृषि कर्म करते थे और पास पड़ोस में भयंकर युद्ध चला करता था, युद्ध लिप्त लोग उनको किसी प्रकार तंग नहीं करते थे ।[4] " मनु की व्याख्या करते हुए मेधातिथि ने कहा है कि शत्रु देश के लोगों में यथासंभव ब्राह्मणों की रक्षा करनी चाहिए ।[5] गदा युद्ध का नियम था कि जंघे के नीचे कोई वार न करे किन्तु भीम ने इसका उलंघन किया था दुर्योधन के भला बुरा कहने पर कृष्ण ने पाण्डवों की ओर से

1- गौतमधर्मसूत्र 10. 17. 18

2- मनुस्मृति , 7. 90 न कूटैरायुधैर्हन्याधु ----------------
---------------- दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ।

3- मनुस्मृति, 7. 91-93 न च हन्यात्स्थलारूढं ----------------
----------------धर्ममनुस्मरन् ।
दृष्टव्य - डा० पी०वी०काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृ० 843

4- मेगस्थनीज़ (फ्रैगमेण्ट 1) पृ० 32

5- मनुस्मृति 7. 32
गणेशदत्त पाठक, ठाकुर प्रसाद एंड संस, वाराणसी ।

उत्तर दिया कि महाभारत के युद्ध में कई बार नैतिकता की सीमाओं का उल्लंघन किया गया था जैसे सूर्यास्त के बाद भी युद्ध करना, अभिमन्यु को कई वीरों द्वारा मारना आदि इस प्रकार से यह सिद्ध होता है कि इन नैतिकता नियमों का विरोध भी होता था ।[1]

7- (मित्र) - आपत्तिकाल में शत्रु-मित्र की पहचान :-

कौटिल्य अर्थशास्त्र में मित्रों के महत्व के विषय में वर्णन है कि जो व्यक्ति आपत्ति के समय स्नेह से अपने साथ बना रहे वही मित्र है। अधिक मित्रों के बना लेने से अपना बल बढ़ जाता है ।[2] मनुस्मृति में मित्र की महत्ता पर बल देते हुए कहा गया है कि सुवर्ण और भूमि को पाकर राजा वैसे वृद्धि को नहीं पाता है जैसे किसी अल्पकाल में दुर्बल किन्तु आगे बढ़नेवाले ध्रुव मित्र को पाकर होता है ।[3] धार्मिक, कृतज्ञ, प्रसन्नचित्त, प्रेमी और दृढ़ता से कार्य आरंभ करनेवाला मित्र छोटा भी हो तो उत्तम है ।[4] महाभारत शान्तिपर्व में वर्णन है न तो कोई किसी का मित्र है और न कोई किसी का शत्रु, स्वार्थ को लेकर ही शत्रु और मित्र एक दूसरे से बंधे हुए हैं । जैसे पालतू हाथियों द्वारा जंगली हाथी बांध लिये जाते हैं उसी प्रकार अर्थों द्वारा अर्थ बांधे जाते हैं ।[5] शुक्र का मत है कि साहसी, शक्तिशाली

1- महाभारत, शल्य पर्व 6 06
भीष्म पर्व 49 . 52--53
द्रोण पर्व 163 . 16
दृष्टव्य डा० पी०वी०काणे- धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृ० 684

2- कौटिल्य अर्थशास्त्र, चाणक्य प्रणीत सूत्र, 35 . 36
अनु० वाचस्पति गैरोला पृ० 776 आपत्सु स्नेह संयुक्तं । मित्रसंग्रहणे बलं संपद्यते ।

3- मनुस्मृति 7 . 208 - हिरण्यभूमि संप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते ।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ।।

4- मनुस्मृति 7 . 209- धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्ट प्रकृतिमेव च ।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ।।

5- महाभारत शान्तिपर्व आप० 138 . 110 -
न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् रिपु: ।
अर्थतस्तु निबद्ध्यन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ।
अर्थैरर्था निबद्ध्यन्ते गजैर्वनगजा इवा ।

विनम्र के सामने अन्य लोग ऊपर से मित्रवत व्यवहार करते हैं किन्तु भीतर ही भीतर शत्रुता रखते हैं और अवसर की ताक में लगे रहते हैं कि कब आक्रमण कर दे, इसमें कोई आश्चर्य नहीं, क्या वे स्वयं भूमि की विजय लिप्सा नहीं रखते ? राजा का कोई मित्र नहीं और न वह किसी का मित्र है ।[1] कामन्दक ने मित्र राजा के गुणों का वर्णन किया है - हृदय की पवित्रता ,उदारता, वीरता,सुख-दु:ख में साथ देना, प्रेम, जागरूकता और सच्चाई ।[2] कामन्दक का मत है कि सच्चे मित्र की विशेषता है कि मित्र द्वारा वांछित उद्देश्यों के प्रति श्रद्धा । मित्र बनाने का उद्देश्य होता है धर्म, अर्थ, काम में से किसी एक की प्राप्ति ।[3]

पड़ोसी राजाओं के प्रकार :

एक राजा की सीमा के आस-पास पड़ोसी देश के राजा की प्रकृतियों का वर्णन कौटिल्य अर्थशास्त्र में बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है ।

1- विजिगीषु :- जो राजा आत्मसंपन्न आमत्यादि द्रव्य प्रकृति संपन्न और नीति का आश्रय लेनेवाला हो उसको विजिगीषु कहते हैं।

2- अरि :- विजिगीषु राजा के चारो ओर के राजा अरि प्रकृति (पड़ोसी शत्रु) कहलाते हैं किन्तु नीतिवाक्यामृत का कथन है कि यह कोई नियम नहीं है कि पड़ोसी सदैव अरि ही हो और दूर का राजा मित्र । सानिध्य एवं दूरी शत्रुता एवं मित्रता का कारण नहीं बल्कि उद्देश्य ही मुख्य है जिसके फलस्वरूप मित्र या शत्रु बनते हैं । हाँ यह सत्य है कि पड़ोसी राजा बहुधा अरि हो जाते हैं ।[4]

1- शुक्रनीति 4. 1.8-10

2- कामन्दक नीति शास्त्र 4. 75-76

3- कामन्दक नीतिशास्त्र 4. 72

4- नीति वाक्यामृत ,पृ० 321

दृष्टव्य - डा० पी०वी०काणे- धर्मशास्त्र का इतिहास,भाग 2,पृ० 688

3- मित्र :- अरि प्रकृति राजाओं[1] की सीमाओं से लगे हुए राजा मित्र प्रकृति कहलाते हैं ।

4- अरि-मित्र :- अरि का वह मित्र जो विजिगीषु के मित्र की सीमा का हो

5- मित्र मित्र :- जो राजा मित्र का मित्र हो ।

6- अरिमित्र-मित्र :- जो राजा शत्रु के मित्र का मित्र हो ।

7- पार्ष्णिग्राह :- जब युद्ध में अरि विजिगीषु के सम्मुख होता है तो वह राजा जिसका राज्य विजिगीषु के पीछे हो और वह पीछे से विजिगीषु पर आक्रमण कर दे या पकड़ सके उसे पार्ष्णिग्राह कहते हैं । ऐसा शत्रु, राजा के विजय अभियान में विपत्ति खड़ा कर देता है ।

8- आक्रंद :- आक्रंद वह मित्र है जो पार्ष्णिग्राह की सीमा से सटा होता है जिसकी सहायता प्राप्त करने के लिए विजिगीषु प्रार्थना कर सकता है ।

9- पार्ष्णिग्राहासार :- पार्ष्णिग्राह के मित्र को पार्ष्णिग्राहासार कहा जाता है ।

10- आक्रांदासार :- आक्रांद का मित्र ।[2]

इस प्रकार से राजा की विजय यात्रा में आगे क्रमशः शत्रु मित्र, अरिमित्र, मित्र-मित्र, अरिमित्र-मित्र ये पांच राजा आते हैं इसी प्रकार उसके पीछे क्रमशः पार्ष्णिग्राह, आक्रंद, पार्ष्णिग्राहासार,

---

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 6. 97.2.1

अनु० वाचस्पति गैरोला, पृ० 446 — राजा आत्मद्रव्यप्रकृति सम्पन्नो नयस्याधिष्ठानं विजिगीषुः । तस्य समन्ततो मण्डलीभूता भूम्यनन्तरा अरिप्रकृतिः । तथैव भूम्येकान्तरा मित्र प्रकृतिः ।

आक्रन्दासार ये राजा होते हैं । विजिगीषु राजा के सहित आगे पीछे के राजाओं को मिलाकर एक राजमण्डल कहलाता है ।[1] मनु ने भी इसी प्रकार का वर्णन किया है ।[2]

शत्रु एवं मित्र के अन्य प्रकार

।अ।

सहज मित्र : सहज मित्र वे है जो माता पिता के संबंध से प्राप्त होते हैं । यथा मामा, मौसा, फुफा के पुत्र आदि ।

कृत्रिम मित्र : कृत्रिम मित्र वे हैं जो प्राप्त किये जाते हैं अर्थात् जो विजिगीषु को अपनी सहायता से अनुगृहीत करते हैं या स्वयं अनुगृहीत होते हैं ।

प्राकृत मित्र : प्राकृत मित्र वे हैं जो प्राकृतिक रूप से विजिगीषु के राज्य सीमा से सटा हुआ हो ।[3]

आचार्य कौटिल्य ने केवल सहज और कृत्रिम मित्रों का वर्णन किया है, उनके अनुसार विजिगीषु के राज्य से एक राज्य को छोड़कर उसके बाद का स्वभावत: मित्र राजा और विजिगीषु का ममेरा या फुफेरा भाई ये सहज मित्र हैं । धन या जीविका के लिए आश्रय लेनेवाला कृत्रिम मित्र कहलाता है, उन्होंने प्राकृत मित्र का वर्णन नहीं किया है ।[4] विष्णु धर्मोत्तर एवं अग्निपुराण का मत है कि प्राकृत वास्तव में कृत्रिम हैं ।[5]

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 6. 97. 2.3 अनु० वाचस्पति गैरोला, पृ० 446 - तस्मान्मित्रमरिमित्रं मित्रमित्रं अरिमित्रमित्रं चानन्तर्येण भूमीनां प्रसज्यते पुरस्तात् । पश्चात्पार्ष्णिग्राह आक्रन्दः पार्ष्णिग्राहासार आक्रन्दासार इति।

2- मनुस्मृति 7. 156 एता: प्रकृतयो ---------- ता: स्मृता: ।।

3- डा० पी०वी०काणे- धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृ० 690

4- कौटिल्य अर्थशास्त्र 6. 97.2.1 अनु० वाचस्पति गैरोला, पृ० 447 - भूम्येकान्तरं प्रकृतिमित्रं मातृपितृ सम्बन्धं सहजं धनजीवितहेतोराश्रितं कृत्रिममिति ।

5- विष्णु धर्मोत्तर 2. 145. 15-16
अग्निपुराण 233, 21-22

(ब)

<u>मध्यम</u> : मध्यम राजा उसे कहा जाता है जिसका राज्य अरि तथा विजिगीषु की राज्य-सीमा से सटा हो, जो दोनों राजाओं की संधि में संधि का समर्थक तथा विग्रह में विग्रह का समर्थक हो ।[1]

<u>उदासीन</u> : उदासीन राजा वह है जो विजिगीषु की राज्य सीमा से बहुत दूर राज्य करता हो जो राज्य तत्वों से संपन्न हो, जो अरि विजिगीषु और मध्यम की संधि में संधि का समर्थक विग्रह में विग्रह का समर्थक हो वह राजा उदासीन है ।[2] किन्तु मनु के भाष्यकार कुल्लूक मत है कि उदासीन राजा किसी कारणवश विजिगीषु के क्रियाकलापों से उदासीन हो उठा[3] हो वह शक्ति-शाली राजा ही उदासीन राजा कहलाता है ।

मनु का मत है कि नीतिज्ञ राजा सभी उपायों से ऐसा कर्म करे कि जिसमें उसके मित्र, उदासीन और शत्रु की संख्या न बढ़ने पाये । जिस नियम से मित्र, उदासीन और शत्रु कोई कभी उसे कष्ट न दे सके ऐसे ही नियम से चलना चाहिए । संक्षेप में यही नीति है ।[4] याज्ञवल्क्य का मत है कि सीमा में सटे हुए राज्य उसके बाद के राज्य और उसके भी बाद के राज्य पर शासन करनेवाले राजा क्रमश: शत्रु-मित्र और उदासीन होते हैं । इन राज्य मण्डलों पर क्रमश: ध्यान रखना चाहिए तथा इनके साथ साम दामादि उपायों का प्रयोग करना चाहिए ।[5]

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 6. 97. 2. 2 - अरिविजिगीष्वोर्भूम्यनन्तर: संहतासंहत
अनु० वाचस्पति गैरोला योरनुग्रहसमर्थो निग्रहे चासंहतयोर्मध्यम: ।

2- कौटिल्य अर्थशास्त्र 6. 97. 2. 3

3- मनु पर कुल्लूक की टिप्पणी 7. 153

4- मनुस्मृति 7. 177 - सर्वोपायैस्तथा ——————
—————— स्युर्मित्रोदासीनशत्रव: ।।
गणेशदत्त पाठक, ठाकुर प्रसाद एंड संस, वाराणसी
7. 180 - यथैत ——————
—————— नय: ।।

5- याज्ञवल्क्य 13. 345 अरिर्मित्र ——————
—————— सामादिभिरुपक्रमै: ।।

महाभारत में, वर्णन है -

बुद्धिमान, विद्वान और नीतिशास्त्र में निपुण पुरुष भारी और भयंकर विपत्ति में भी डूब नहीं जाते उससे छूटने की चेष्टा करते हैं ।[1] आचार्यों का कथन है कि संकट के समय जीवन चाहनेवाले बलवान पुरुष को भी निकटवर्ती शत्रु से मेलजोल कर लेना चाहिए । विद्वान शत्रु अच्छा होता है मूर्ख मित्र नहीं ।[2] मित्रों को भी जानना चाहिए, शत्रुओं को भी अच्छी तरह से जानना चाहिए । अवसर आने पर कितने ही मित्र शत्रुरूप हो जाते हैं और कितने ही शत्रु मित्र बन जाते हैं । परस्पर संधि कर लेने के पश्चात जब वे काम और क्रोध के अधीन हो जाते हैं तब यह समझना अब असम्भव हो जाता है कि वे शत्रुभाव से युक्त है या मित्र भाव से युक्त है ।[3] न कभी कोई शत्रु होता है और न मित्र होता है । आवश्यक शक्ति के संबंध में लोग एक दूसरे के शत्रु और मित्र हुआ करते हैं । मैत्री कोई स्थिर वस्तु नहीं है और शत्रुता भी सदा स्थिर रहनेवाली चीज़ नहीं है । स्वार्थ के संबंध मे शत्रु और मित्र होते रहते हैं ।[4]

कभी-कभी समय के फेर से मित्र शत्रु बन जाता है और शत्रु भी मित्र हो जाता है क्योंकि स्वार्थ बड़ा बलवान होता है ।[5] जो विश्वास पात्र न हो उस पर कभी भी विश्वास न करे और जो विश्वास पात्र हो उस

1- महाभारत शांति० आप० 138-39,40
दामोदर सातवलेकर, न हि बुद्ध्यान्वितः प्राज्ञो नीतिशास्त्र विशारदः ।
पारडी, बलसाड़   निमज्जत्यापदं प्राप्य महतीं दारुणामपि ।।

2- ,, ,,138.46 - श्रेष्ठो हि पण्डितः शत्रुर्न च मित्रमपण्डितः ।।

3- ,, ,, 138 - शत्रुरुपा हि सुहृदो मित्ररुपाश्च शत्रवः ।
संधितास्ते न बुद्धयन्ते काम क्रोध वशंगता ।।

4- ,, ,, 138.14 नास्ति मैत्री स्थिरा नाम न च ध्रुवमसौहृदम ।
अर्थयुक्त्यानुजायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ।।

5- ,, ,, 138.142 मित्रंच शत्रुतामेति किस्मिश्चित् कालपर्यये ।
शत्रुश्च मित्रतामेति स्वार्थो हि बलवन्तरः ।।

पर भी अधिक विश्वास न करे क्योंकि विश्वास से उत्पन्न हुआ भय मनुष्य का मूलोच्छेद कर डालता है ।[1] मनुष्य कारण से ही प्रेमपात्र और कारण से ही द्वेषपात्र बनता है । यह जीव जगत स्वार्थ का ही साथी है । कोई किसी का प्रिय नहीं है । दो सगे भाईयों तथा पति और पत्नी में भी जो परस्पर प्रेम होता है वह भी स्वार्थवश ही है । इस जगत में कोई प्रेम निष्कारण नहीं है ।[2] मित्रता और शत्रुता के रूप तो बादलों के समान क्षण-क्षण में बदलते रहते हैं । आज ही तुम मेरे शत्रु होकर, आज ही तुम मेरे मित्र और पुन: शत्रु बन सकते हो स्वार्थवश । किसी कारण को लेकर उत्पन्न होनेवाली प्रीति जब तक वह कारण रहता है तब तक बनी रहती है । कारण के समाप्त हो जाने पर वह प्रीति भी समाप्त हो जाती है । समय कारण के स्वरूप को बदल देता है और स्वार्थ उस समय का अनुसरण करता है विद्वान पुरुष उस स्वार्थ को समझता है ।[3]

इस विषय में महान राजनीतिज्ञ कूटनीतिज्ञ शुक्राचार्य ने दो उपाय बताये हैं -

।1। जब अपने और शत्रु दोनों पर एक ही विपत्ति आयी हो तो निर्बल को सबल शत्रु के साथ मेल करके बड़े सावधानी और युक्ति से अपना काम निकालना चाहिए और जब काम पूरा हो जाय तो फिर शत्रु पर विश्वास नहीं करना चाहिए ।

।2। जो विश्वास पात्र न हो उस पर विश्वास न करे

1- महा० शांति० आप० 138. 144- न विश्वसेद विश्वस्ते नाति विश्वसेत ।
विश्वसाद् भयमुत्पन्नमपि मूलानि कृन्तति ।।

2- ,, ,, 138. 152 अर्थार्थी जीवलोकेऽयं न कश्चित कस्याचित प्रिय:
सख्यं सोदर्य योर्भ्रामोर्दम्पत्योर्वा परस्परम् ।।
कस्यचिन्नाभिजानानि प्रीति निष्कारणामिहि ।।

3- ,, ,, 138. 157-8 कालो हेतु विकुरुते स्वार्थमनुवर्तति ।
स्वार्थं प्राज्ञोऽभिजानाति प्राज्ञं लोकोऽनुवर्तति ।।

अपने प्रति सदा दूसरों का विश्वास उत्पन्न करे किन्तु स्वयं दूसरों पर विश्वास न करें ।[1]

संक्षेप में नीतिसार का यह सार है कि किसी का भी विश्वास न करना ही उत्तम माना गया है । इसलिए दूसरे लोगों पर विश्वास न करने में ही अपना विशेष हित है । जो विश्वास न करके सावधान रहते हैं वे दुर्बल होने पर भी शत्रुओं द्वारा मारे नहीं जाते । जो उन पर विश्वास करते हैं वे बलवान होने पर भी शत्रुओं द्वारा मार डाले जाते हैं ।[2]

मनुष्य भयभीत होकर भी निडर के समान और किसी पर विश्वास न करते हुए भी विश्वास करनेवाले के समान बर्ताव करे, उसे कभी असावधान होकर नहीं चलना चाहिए यदि चलता है तो नष्ट हो जाता है ।[3] समय के अनुसार शत्रु के साथ भी संधि और मित्र के साथ भी युद्ध करना चाहिए ।[4] संधि तत्व को जाननेवाले विद्वान पुरुष इस बात को सदा कहते हैं ।

1- महा०शांति० आप० 138. 193-94

अस्मिन्नर्थे च गाथे द्वे निबोधोशनसकृते ।
शत्रु साधारणे कृत्ये कृत्वासंधि बलियसा ।।
समाहितश्चरेद युक्त्या कृतार्थश्च न विश्वसेत् ।
न विश्वसेद विश्वस्ते विश्वस्ते नाति विश्वसेत् ।
नित्यं विश्वासयेन्यान् परेषां तु न विश्वसेत् ।

2- ,, ,, 138. 197

वध्यन्ते न ह्यविश्वस्ता: शत्रुनिर्दुर्बला अपि ।
विश्वस्तास्तेषु वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बल: ।।

3- ,, ,, 138. 206

तस्माद्भीतवद भीतो विश्वस्तवद विश्वसन् ।
न ह्यप्रमत्तश्चलति चलितो वा विनश्यति ।।

4- ,, ,, 138. 207

कालेन रिपुणां संधि काले मित्रेण विग्रह: ।
कार्य इत्येव संधिज्ञा प्राहुर्नित्यं नराधिप ।।

प्राचीन भारतीय आचार्य जानते थे कि युद्ध का एकदम त्याग कर देना संभव नहीं, अतः युद्ध की संभावना यथासंभव कम करने के लिए उन्होंने विविध राज्यों के मण्डल बनाकर उनमें शक्ति संतुलन कायम रखने की व्यवस्था की थी । स्मृति और ग्रंथकारों की प्रख्यात मण्डल नीति शक्ति संतुलन के सिद्धान्त पर आधारित थी । इनकी यह नीति थी कि आस-पास के पड़ोसी राज्यों से ऐसा सम्बन्ध रहे कि आक्रमण करनेवाले राज्यों को सदा भय बना रहे कि वे शक्तिशाली राज्य हैं । अतः नीतिशास्त्रकारों ने राज्यों को मण्डल बनाने की सलाह दी जिनमें विजयिषणु, मित्र, मित्र-मित्र, अरिमित्र पार्ष्णि ग्राह आदि आते थे ।[1] जिनकी भूमिका आधुनिक युग के संयुक्त राष्ट्र संघ की भाँति ही होती थी ।

युद्धकाल में राजा के कर्त्तव्यों की व्याख्या

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजा के युद्धकालीन (आपात्कालीन) कर्त्तव्यों की व्याख्या बड़े ही सुन्दर ढंग से की गयी है । सामान्य अवस्था में तो राजा सामान्य ढंग से अपने राजकार्य करता है किन्तु आपत्ति के समय संकटकाल में एक राजा अपने प्रखर प्रतिभा का परिचय देता है । कूटनीति, संधिविग्रह, शत्रु मित्र की परख राजा के बुद्धि कौशल द्वाराही संचालित होता है, अपने इन्हीं कौशलों के माध्यम से एक राजा अपने राज्य की उन्नति और अवनति का कारण बनता है ।

कौटिल्य ने पुरातन आचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए राजा के युद्धकालीन छः गुणों का विवेचन किया है -

। 1 । संधि - दो राजाओं का कुछ शर्तों पर मेल हो जाना ही संधि है ।

। 2 । विग्रह - शत्रु का कोई अपकार करना विग्रह है ।

। 3 । आसन - शत्रु की उपेक्षा करना ।

1- ए०एस०अल्टेकर - प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 224-225

। 4 । यान - शत्रु पर चढ़ाई करना ।

। 5 । संश्रय - आत्म समर्पण करना ।

। 6 । द्वैधीभाव - संधि तथा विग्रह दोनों से काम लेना ।[1]

मनु ने भी कौटिल्य के इस मत का समर्थन किया है ।[2]

।1। संधि - कौटिल्य का मत है कि विजिगीषु राजा को चाहिए कि वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार सन्धि आदि छः गुणों में जिसको उचित समझे उसी को व्यवहार में लाये । उसके लिए उचित यही है कि बराबर तथा बड़ी शक्तिवाले राजा के साथ वह सन्धि कर ले और शक्तिहीन के साथ विग्रह कर दे, क्योंकि अधिक शक्ति वाले के साथ विग्रह करने पर हीन शक्ति राजा की वही दुर्दशा होती है जो कि गजारोही सैनिकों के साथ पैदल सैनिकों की । समान बल विक्रम वाले के साथ विग्रह करने पर दोनों उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे दो कच्चे घड़े आपस में भिड़कर टूट जाते हैं ।[3]

आपत्तिकाल में (युद्ध के समय) सेना आदि के द्वारा बलवान राजा से दबाये हुए निर्बल राजा को चाहिए कि वह तत्काल धन, सैना और भूमि आदि के सहित आत्म समर्पण करके बलवान राजा के सामने झुक जाये ।[4]

संधियों के प्रकार :- कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में विविध प्रकार के संधियों की चर्चा की है ।

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 7. 98-99.1.5 तत्र पणबन्धः सन्धिः, अपकारो विग्रहः, उपेक्षण-मासनम्, अभ्युच्चयो यानं, परार्पणं संश्रयः, संधि विग्रहोपादानं द्वैधीभाव इति षड्गुणाः ।
अनु० वाचस्पति गैरोला, 453

2- मनुस्मृति 7. 169 - 172
गणेशदत्त पाठक, ठाकुर प्रसाद एंड संस, वाराणसी

3- कौटिल्य अर्थशास्त्र 7. 101-102.3.1 विजिगीषुः शक्त्यपेक्षः ---------- ----------हीनेनैकान्तसिद्धिमवाप्नोति ।
अनु० वाचस्पति गैरोला, पृ० 461

4- ,, ,, 7. 101-102 3. 2 प्रवृत्तचक्रेणाक्रान्तो ---------- ------- कोशदण्डात्मभूमिभिः ।।
पृ० 468

(1) अभिणसंधि – जब विजित राजा विजयी राजा के कथनानुसार अपनी शक्ति भर सेना तथा धन लेकर आत्म समर्पण कर दे तो उस संधि को अभिणसंधि कहते हैं ।[1]

(2) पुरुषांतर (आत्मरक्षण) संधि :- सेनापति और राजकुमार को शत्रुराज की सेवा में पेश करके जो संधि की जाती है वही पुरुषांतर संधि कहते हैं, इसमें राजा शत्रु के दरबार में न जाने से आत्मरक्षा कर लेता है ।[2]

(3) अदृष्टपुरुष संधि (दण्डमुख्यात्मरक्षण) संधि :- जब यह सोच कर संधि की जाती है कि शत्रु के कार्य की सिद्धि के लिए जब मैं स्वयं अकेला ही जाऊंगा या मेरी सेना ही जायेगी " ऐसा कहकर संधि की जाती है तब उसे अदृष्ट पुरुष संधि कहते हैं, इसी संधि को दण्डमुख्यात्मरक्षण संधि भी कहते हैं क्योंकि इसमें मुख्य सैनिकों की और राजा की रक्षा हो जाती है ।[3]

इन संधियों में शक्तिशाली राजा प्रमुख राजपुरुषों की कन्याओं से विवाह करे जैसा चन्द्रगुप्त मौर्य ने सेल्युकस की कन्या से विवाह किया था, गुप्तकाल में समुद्रगुप्त ने भी कन्योपायनदान संधि प्रचलित की थी । इन तीन संधियों को दण्डोपनत संधि भी कहते हैं ।

(4) परिक्रम, उपग्रह (प्रत्यय,सुवर्ण,कन्यादान) संधि – जिस संधि में बलवान शत्रु द्वारा युद्ध में गिरफ्तार किये गये अमात्य आदि प्रकृतिजनों को धन देकर छुड़ाया जाय उसे परिक्रम संधि कहते हैं और यही संधि जब सुविधानुसार किस्तवार धन अदा करने की शर्त पर की जाय तो उसे उपग्रह संधि कहते हैं, जब

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 7.101-102.3.4 – स्वयं संख्यातदण्डेन ------- मत: ।।
अनु० वाचस्पति गैरोला,पृ० 463.

2- ,, ,, 7.101-102.3.4- सेना पति --------------
,, पृ० 463 ---------स्यान्नात्मनेत्यात्मारक्षण: ।।

3- ,, ,, 7.101-102.3.5 – एकेनान्यत्र ------- सन्धिर्दण्डमुख्यात्म-
रक्षण: ।।

उपग्रह संधि के लिए स्थान और समय निश्चित की जाय तो उसे प्रत्यय संधि कहते हैं । नियमित धनराशि देने के कारण यह कन्यादान संधि कहलाती है इसका एक नाम सुवर्ण संधि भी है क्योंकि यह तपे हुए सुवर्ण के समान शत्रु और विजिगीषु दोनों के मिलने का साधन सिद्ध होती है ।[1]

कपाल संधि :- इस संधि में संपूर्ण धनराशि तत्काल ही अदाकर देने की शर्त होती है ।[2]

कोशोपनत संधि :- संधि में देय धन का कुछ हिस्सा देकर और यह कह दे कि अभी मेरी स्थिति बिगड़ी है कुछ समय बाद और धन दे दूंगा ऐसा कहकर जो संधि की जाती है वही कोशोपनत संधि है ।[3]

आदिष्ट और उच्छिन्न संधि :- राष्ट्र और प्रकृति की रक्षा के लिए भूमि का कुछ भाग देकर संधि करने को आदिष्ट संधि तथा राजधानी और दुर्गों को छोड़कर सारहीन भूमि शत्रु को देकर जो संधि की जाती है उसे उच्छिन्न संधि कहते हैं इसमें राजा सोचता है कि कब विजिगीषु पर विपत्ति पड़े और हम अपनी भूमि वापस ले लें ।[4]

अपक्रम और परदूषण संधि :- जिस संधि में भूमि की पैदावार को देकर भूमि को छुड़ा लिया जाय उसका नाम अपक्रम संधि है और जिस संधि में पैदावार के अलावा कुछ और देना पड़े वह परदूषण संधि कही जाती है ।[5]

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 7. 101-102,7.1 कोशदानेन शेषाणां ------------ सुवर्णसन्धि विश्वासादेकीभागवतो भवेत ।
अनु० वाचस्पति गैरोला, पृ० 463-464

2- ,, ,, पृ० 464 विपरीत: कपाल स्यादत्यादानादभाषित:

3- ,, ,, पृ० 464 तृतीये प्रणयेदर्थ कथयन् कर्मणां दायम् ।
तिष्ठेच्चतुर्थे इत्येते कोशोपनतसन्धय: ।।

4- ,, ,, पृ०464-465 भूम्ये कदेशत्यागेन ------------ ------------परव्यसनकांक्षिण: ।।

5- ,, ,, पृ०465 फलदानेन भूमिनां मोक्षणं स्यादवक्रय: ।
फलातिमुक्तो भूमिभ्य: सन्धि:स परदूषण: ।।

इस प्रकार से निर्बल राजा को चाहिए कि वह आपत्तिकाल में दण्डोपनत कोशोपनत तथा देशोपनत इन तीन प्रकार की संधियों को अपने कार्य देश तथा समय के अनुसार उपयोग करे ।[1]

विग्रह करके आसन और यान का अवलंबन :-

इसका संक्षिप्त अर्थ है युद्ध करना । कौटिल्य का मत है जब विजिगीषु देखे कि अपने तथा मित्र की या आटविक राजा की सेना के द्वारा मैं बराबर के या अधिक शक्तिवाले शत्रु राजा की सेना को परास्त कर सकूँगा तो भीतर और बाहर की व्यवस्था को ठीक करके विग्रह कर देना चाहिए ।[2] उसे इसका भी ध्यान रहे कि उसकी अमात्यादि प्रकृतियाँ उत्साह तथा शौर्य से भरी हो और वे शत्रु पर आक्रमण करने को व्याकुल हो । जब विजिगीषु को यह विश्वास हो जाय कि शत्रु व्यसनों में फँसा है, उसका प्रकृतिमण्डल भी व्यसनों में उलझा है उसकी प्रजा उससे विरक्त हो गयी है । राजा स्वयं उत्साह हीन तथा प्रकृति मण्डल परस्पर कलह युक्त है, वह सभी दैविय आपत्तियों द्वारा क्षीण हो गया हो, तो ऐसी दशा में विग्रह करना उचित है ।[3]

आपत्तिकाल में संश्रयवृति का आश्रय लेना :-

संश्रय वृत्ति का अर्थ है आत्म समर्पण करना या आश्रय लेना, आश्रय उसका लेना चाहिए जो अपने शत्रु राजा से बलवान हो यदि ऐसा बलवान राजा न मिले तो अपने शत्रु राजा का ही आश्रय लेना चाहिए किन्तु दूर से ही धन सेना भूमि आदि को देकर उसका उपकार करे उसके पास न आवे क्योंकि बलवान

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 7. 101-102.4 अनु० वाचस्पति गैरोला, पृ०465 — स्वकार्याणि वशेनैते देशे काले च भाषिताः । आबलीयसिकाः कार्यास्त्रिविधा हीनसन्धयः ।

2- ,, ,, पृ० 466 — युद्ध वा पश्येत् ———————— ———————— विगृह्यासीत ।

3- ,, ,, पृ०468 — विगृह्यासनहेतुभिरभ्युच्चितः ———————— ———————— तदा विगृह्या यायात् ।।

राजा का साथ कभी-कभी महान अनर्थकारी सिद्ध होता है । यदि उस बलवान राजा[1] ने किसी शत्रु से दुश्मनी ठानी है तो उसके निकट रहने में कोई हानि नहीं है । इसका एक महत्वपूर्ण पक्ष भी है कि जो जिसका प्रिय है, वे दोनों एक दूसरे के अवश्य प्रिय होते हैं इसलिए जो जिसका प्रिय[2] हो वह उसी का आश्रय ले उसी को सर्वश्रेष्ठ आश्रय स्थान बताया गया है ।

मनु का मत है कि शत्रुओं के सताये जाने पर कार्य और अर्थ की सिद्धि के लिए किसी बलवान राजा का आश्रय लेना अथवा किसी शत्रु के सताये जाने की आशंका से किसी बलवान का आश्रय घोषित करना यह दो प्रकार के संश्रय हैं ।[3]

आपत्तिकाल में द्वैधी भाव का आश्रय लेना -

द्वैधी भाव का अर्थ है संधि तथा विग्रह दोनों द्वारा आपत्तियों का निवारण करना यदि एक राजा संधि करने के बाद भी अनिष्ट करना चाहता हो तो उसके साथ विग्रह कर देना ही उचित है इसके लिए सर्वप्रथम विजिगीषु को अपनी स्थिति सुदृढ़ कर लेनी चाहिए । विजिगीषु राजा को चाहिए कि अपने पड़ोसी के शत्रु राजा को वह अपनी सहायता के लिए इन तरीकों से तैयार करे - किसी सामन्त से मिलकर यातव्य सामन्त पर चढ़ाई करे । यदि उसे विश्वास हो जाय कि वह मेरे सुख दु:ख में समभाव से मेरे साथ रहेगा इसको साथ रखने से मेरी शक्ति दुगुनी होगी आपत्ति आ जाने पर यातव्य से मेरी संधि करा देगा तो इस अवस्था में इसे पड़ोसी शत्रु राजा से संधि या मेल कर लेना चाहिए । इसी प्रकार से

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 7. 100.2.4 पहल: ----------------
अनु0 वाचस्पति गैरोला, पृ0458 ------------ राज्ञामन्यत्रारिविगृहीतात् ।।

2- ,, ,, पृ0 460 प्रियो यस्य भवेद् यो वाप्रियोऽस्य कतरस्तयो: ।
प्रियो यस्य स तं गच्छेदित्याश्रयगति: परा ।।

3- मनुस्मृति 7. 168 - अर्थ संपादनार्थं ------------------ स्मृत: ।।

समशक्ति सामन्त दूसरे समशक्ति सामन्त के साथ दुष्ट बुद्धि और कल्याण बुद्धि ही देखकर ही निग्रह तथा अनुग्रह करे ।[1]

इस प्रकार से कौटिल्य ने इन छह गुणों के विषय में कहा है कि शत्रु की तुलना में अपने को निर्बल समझने पर संधि कर लेनी चाहिए, बलवान समझे तो विग्रह कर देनी चाहिए, शत्रु-बल और आत्मबल में अन्तर न समझे तो आसन अपना लेना चाहिए । स्वयं को शक्ति संपन्न समझे तो यान (चढ़ाई) कर देना चाहिए । अपने को निरा अशक्त समझने पर संश्रय से काम लेना चाहिए और यदि सहायता की अपेक्षा समझे तो द्वैधीभाव अपनाना चाहिए।[2]

मनु का मत है जब संधि करने पर अपनी वृद्धि समझे तो थोड़ा कष्ट और हानि सहकर भी सन्धि कर ले । जब अपनी प्रकृति (मंत्री आदि अधिकारी) पूरे तौर पर संतुष्ट हो और अपने शत्रु से बल में सब प्रकार से बढ़े हो तो विग्रह करे । जब अपने को शत्रु के हाथ में जानेवाला समझे तब वह शीघ्र ही किसी धार्मिक और बली राजा का आश्रय ले यदि संश्रय करने पर भी रक्षा न हो सके तो निःशंक होकर युद्ध ही करे ।[3]

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी षडगुण सम्बन्धी यही विचार दृष्टिगत होते हैं । याज्ञवल्क्य का विचार है कि सन्धि विग्रह (अपकार) यान (चढ़ाई) उपेक्षा भाव बलवान का आश्रय तथा अपनी सेना का द्विधा विभाजन इन गुणों का यथोचित देश काल शक्ति व मित्र का विचार करके अवलम्बन करे ।[4]

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 7. 112.7.1,2 अनु० वाचस्पति गैरोला, पृ० 484-486 — विजिगीषु द्वितीयां ———— ———— विश्वासयिज्यति ति । एवं सम: सममति संदध्यादनुगृह्वीयाद्वा।।

2- ,, ,, 7. 98-99 | 6 पृ० 453 — परस्माद्धीयमान: ———— ———— द्वैधीभावं गच्छेत् ।

3- मनुस्मृति 7. 169,170,174,176

4- याज्ञवल्क्य स्मृति 13. 347. संधिं च विग्रहं यानमासनं संश्रय तथा । द्वैधी भावं गुणानेतान यथावत्परिकल्पयेत् ।।

महाभारत के शान्तिपर्व के आपद्धर्मपर्व में संधि विग्रह के विषय में वर्णन है कि देशकाल को समझकर कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का निश्चय करके किसी पर विश्वास और किसी के साथ युद्ध करना चाहिए ।[1] कर्त्तव्य का विचार करके सदा हित चाहनेवाले विद्वान मित्रों के साथ संधि करनी चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर शत्रुओं से भी संधि कर लेनी चाहिए क्योंकि प्राणों की रक्षा सदा ही प्रथम कर्त्तव्य है ।[2]

जो मूर्ख मानव शत्रुओं के साथ कभी किसी भी दशा में संधि ही नहीं करता वह किसी भी उद्देश्य को सिद्ध नहीं कर सकता और न कोई फल ही प्राप्त कर सकता है ।[3] जो स्वार्थ सिद्धि का अवसर देखकर शत्रु से तो संधि कर लेता है और मित्रों के साथ विरोध बढ़ा लेता है वह महान फल प्राप्त कर लेता है ।[4] इसी विषय में महाभारत शान्तिपर्व के आपद्धर्मपर्व में बिडाल चूहे का आख्यान बड़ा ही महत्वपूर्ण है । इससे ज्ञात होता है कि बेमौके शुरु किया कार्य करनेवाले के लिए लाभदायक नहीं होता और वही उपर्युक्त समय के आने पर आरंभ किया जाय तो महान अर्थ का साधक हो जाता है ।[5] जो व्यक्ति बलवान से संधि करके अपनी रक्षा का ध्यान नहीं रखता उसका वह मेल-जोल खाये हुए अपथ्य अन्न के समान हितकर नहीं होता है ।[6]

1- महा० शांति० आप० 134.14 तस्माद् विश्वसितव्यं च विग्रहं च समाचरेत् ।
देशं कालं च विज्ञाय कार्याकार्यविनिश्चये ।।

2- ,, ,, 138.15 संधातव्यं बुधैर्नित्यं व्यवस्य च हितार्थिभिः ।
अमित्रैरपि संधेय प्राणः रक्ष्या हिभारत ।।

3- ,, ,, 138.16 यो ह्यामित्रैर्नरो नित्यं न संदध्यादपण्डितः ।
न सोऽर्थं प्राप्नुयात् किंचित फलान्यपिचभारत ।।

4- ,, ,, 138.17 यस्त्वमित्रेण संदध्यान्मित्रेण च विरुद्ध्यते ।
अर्थयुक्तिं समालोक्य सुमहद्विदते फलम् ।।

5- ,, ,, 138.95 अकाले कृत्यमारब्ध कर्तुर्नार्थाय कल्पते ।
तदेव काल आरब्ध महतेऽर्थाय कल्पते ।।

6- ,, ,, 138.96 कृत्वा बलवता संधिमात्मानं यो न रक्षति ।
अपथ्यमिव तद्भुक्तं तस्य नार्थाय कल्पते ।।

आपत्तिकाल में आत्मरक्षा के उपाय :- (कूटनीति)

महाभारत के शान्तिपर्व में राजा के आत्मरक्षक उपायों का विस्तृत वर्णन किया गया है । राजा या किसी भी सामान्य व्यक्ति के लिए प्राण रक्षा करना सर्वोपरि है क्योंकि जीवित रहने पर ही व्यक्ति धर्म का पालन करेगा और यदि जीवित ही न रहे तो धर्म का कोई अस्तित्व नहीं है । कूटनीति के विषय में महाभारत के शान्तिपर्व में वर्णन है कि यदि शत्रु का चरित्र शुद्ध हो वह धर्म के अनुसार विजय करना चाहता हो तो उसके साथ शीघ्र ही सन्धि करके धीरे-धीरे अपने छिने हुए गांव व नगरों पर अधिकार कर ले । यदि शत्रु बलवान हो और अधर्म से विजय करने पर उतारू हो तो कुछ ले देकर उसके साथ सन्धि कर ले अथवा राजधानी तथा अन्यान्य सब सम्पत्ति छोड़कर विपत्ति से पीछा छुड़ा ले क्योंकि जीवित रहने पर फिर से ऐश्वर्य मिल सकता है ।[1] अतएव कोष ,त्याग देने पर जिस आपत्ति से[2] छुटकारा मिल सकता है । उस आपत्ति में शरीर त्याग कर देना निरी मूर्खता है । यदि स्त्रियों बच्चों की रक्षा न हो सके और शत्रुओं[3] के हाथ में पड़ जाय तो उनका स्नेह न करके राजा आत्म रक्षा ही करे ।

एक बार शत्रुता हो जाने पर पुन: किसी भी प्रकार से मित्रता नहीं हो सकती इसलिए किसी भी बहलावे में नहीं आना चाहिए । जहां पहले सम्मान मिला हो वहीं बाद में अपमान मिलने लगे[4] तो प्रत्येक शक्तिशाली पुरुष को उस स्थान का परित्याग कर देना चाहिए । (पूजनी ब्रह्मदत्त संवाद में पूजनी

1- महा० शांति० आप० 131.6 - आपस्य राजधानी वा तरेद्द्रव्येण चापदम् ।
तस्मादमुक्तो द्रव्याणि जीवन पुनरुपार्ययते ।।

2- ,, ,, 131.7 यास्तुकोशबलत्यागाच्छक्यास्तरितु भापद: ।
वस्तत्राधिकामात्मानं संत्यजेदर्थ्य धर्मवित् ।।

3- ,, ,, 131.8 अवरोधान जुगुप्सते का सपत्नधने दया ।
न त्वेवात्मा प्रदातव्य: शक्ये सति कथंचन ।।

4- ,, ,, 139.33 पूर्वसम्माना यत्र पश्चाच्चैव विमानना ।
जह्यात तत् सत्ववान स्तानं सत्रो: सम्मानितोडप्यिसन्।।

का कथन है) बैर 5 कारणों से होते हैं (1) स्त्री के लिए (2) घर और ज़मीन के लिए (3) 'कठोर वाणी के कारण (4) जातिगत दोषों के कारण (5) किसी समय के किए अपराध के कारण जिसने बैर बांध लिया हो । ऐसे सुहृदय पर भी इस जगत में विश्वास नहीं करना चाहिए क्योंकि लकड़ी के भीतर आग छुपी रहती है उसी प्रकार हृदय में बैर भाव छुपा रहता है ।[1] जिस प्रकार बडवानल समुद्र में किसी तरह शान्त नहीं होता उसी प्रकार क्रोधाग्नि भी न धन से न कठोरता से न मीठे वचन द्वारा समझाने बुझाने से और नहीं शास्त्र ज्ञान से शान्त होती है ।[2] कठोर अथवा कोमल जो अपने लिए हितकर हो वह कर्म करते रहना चाहिए, जो कर्म छोड़कर बैठ जाता है वह निर्धन होकर सदा अनर्थों का शिकार होता है ।[3] विद्या, शूरता, दक्षता, बल और धैर्य ये 5 मनुष्यों के स्वाभाविक मित्र हैं, विद्वान पुरुष इनके द्वारा ही जगत कार्य करते हैं । दुष्ट भार्या, दुष्ट पुत्र, कुटिल राजा, दुष्ट मित्र, दूषित संबंध, दुष्ट देश को दूर से ही त्याग देना चाहिए ।[4]

बलवान के साथ कभी भी युद्ध छेड़ना अच्छा नहीं माना जाता जिससे बलवान के साथ झगड़ा मोल ले लिया उसके लिए कहां राजा और कहां सुख ।[5]

1- महा० शान्ति० आप० 139. 44 कृत बैरे न विश्वासः कार्यस्त्विह सुहृद्यपि ।
छन्नं संतिष्ठते बैरं गूढोऽग्निरिव दारुणु ।।

2- ,, ,, 139. 45 न वित्तेन न पारुष्येन सान्त्वने न च श्रुते ।
कोपाग्निः शाम्यते राजं स्तोयाग्निरिव सागरे ।।

3- ,, ,, 139.83 कर्मचात्महितं कार्यं तीक्ष्णं वा यदि वा मृदु ।
ग्रस्यतेऽकर्म शीलस्तु सदानर्थैरकिञ्चनः ।।

4- ,, ,, 139.93 कुभार्यां च कुपुत्रं च कुराजनं कुसौहृदम् ।
कुसम्बन्धं कुदेशं च दूरतः परिवर्जयेत् ।।

5- ,, ,, 197. 111 बलिना विग्रहो राजन न कदाचित् प्रशस्यते ।
बलिना विग्रहो यस्य कुतो राज्यं कुतः सुखम् ।।

राजा को सर्वदा दण्ड देने के लिए उद्यत रहना चाहिए और सदा ही पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिए । राजा अपने में छिद्र अर्थात् दुर्बलता न रहने दे । शत्रु पक्ष में छिद्र अर्थात् दुर्बलता पर सदा ही दृष्टि रखे और यदि शत्रुओं के दुर्बलता का पता लग जाय तो उस पर आक्रमण कर दे ।[1]

संकट काल उपस्थित होने पर राजा को सुन्दर मंत्रणा उत्तम पराक्रम एवं उत्साहपूर्वक युद्ध करे तथा अवसर आ जाय तो सुन्दर ढंग से पलायन भी करे[2] आपातकाल के समय आवश्यक कर्म ही करना चाहिए । सोच विचार नहीं करना चाहिए। शत्रु के साथ समझौते आदि कार्य में संधि कर लेने पर भी उस पर विश्वास न करे और अपना कार्य बना लेने पर भी उस पर विश्वास न करे । अपना कार्य बना लेने पर बुद्धिमान पुरुष शीघ्र ही वहां से हट जाय । ऐश्वर्य चाहनेवाले राजा को चाहिए कि वह अवसर देखकर शत्रु के सामने हाथ जोड़े शपथ खाये आश्वासन दे और चरणों में सिर झुका कर बातचीत करे इतना ही नहीं वह धीरज देकर आंसू तक पोछे ।

जब तक समय बदल कर अपने अनुकूल न हो जाय तब तक शत्रु के कंधे पर बिठाकर ढोना पड़े तो वह भी करे परन्तु अनुकूल समय आ जाय तो उसे उसी प्रकार नष्ट कर दे जैसे घड़े को पत्थर पर पटक कर नष्ट कर दिया जाता है ।[3]

अनेक प्रकार के प्रयोजन रखनेवाला मनुष्य कृतघ्न के साथ आर्थिक संबंध न जोड़े किसी का भी काम पूरा न करे क्योंकि जो अर्थी होता है (प्रयोजन सिद्ध की इच्छा रखनेवाला) उससे तो बराबर काम लिया जा सकता है परन्तु जिसका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है वह अपने उपकारी पुरुष की उपेक्षा कर देता है, इसलिए दूसरों के सारे कार्य (जो अपने द्वारा होनेवाले हो) अधूरे ही रखना चाहिए ।[4]

1- महा०शांति०आप० 140.7 नित्यमुद्यतदण्ड: स्यान्नित्यं विवृतपौरुष: ।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी च परेषां विवरानुग: ।।

2- ,, ,, 140.12 सुमंत्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ।
आपदास्पदकाले तु कुर्वीत न विचारयेत् ।।

3- ,, ,, 140.18 वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः ।
प्राप्तकालं तु विज्ञाय भिन्द्याद् घटमिवाश्मनि ।।

4- ,, ,, 140.20 नानार्थिकोऽर्थसम्बन्धं कृतघ्ने समाचरेत् ।
अर्थी तु शक्यते भोक्तुं कृतकार्योऽवमन्यते ।
तस्मात् सर्वाणि कार्याणि सावशेषाणि कारयेत् ।।

राजा को चाहिए कि वह प्रतिदिन उठकर पूर्ण सावधान होकर शत्रु के घर जाय और अमंगल ही क्यों न हो रहा हो सदा उसकी कुशल पूछे और मंगल कामना करे।[1] राजा बगुले के समान एकाग्रचित्त होकर कर्तव्य विषय का चिन्तन करे सिंह के समान पराक्रम प्रकट करे भेड़िये की भाँति सहसा आक्रमण करके शत्रु का धन लूट ले तथा बाण की भाँति शत्रु पर टूट पड़े।[2] राजा बांस का धनुष बनावे, हिरण के समान चौकन्ना होकर सोवे अंधा बने रहने योग्य समय हो तो अंधे का भाव लिये रहे और अवसरानुकूल बहरे का भाव भी स्वीकार कर ले।[3] बुद्धिमान पुरुष देशकाल को अपने अनुकूल पाकर पराक्रम प्रकट करे देशकाल की अनुकूलता न होने पर किया गया पराक्रम निष्फल होता है।[4] शत्रु के भी बल को समझकर युद्ध या संधि के कार्य में अपने को लगावे जो राजा दण्ड से नतमस्तक हुए शत्रु को पाकर भी उसे नष्ट नहीं कर देता वह अपनी मृत्यु को आमंत्रित करता है ठीक उसी तरह जैसे मौत के लिए खच्चरी गर्भधारण करती है। नितिज्ञ राजा ऐसे वृक्ष के समान रहे जिसमें फूल तो खुब लगे हो परन्तु फल न लगे हों। फल लगने पर भी उस पर चढ़ना कठिन हो वह रहे तो कच्चा पर दिखे पके के समान एवं स्वयं कभी जीर्ण शीर्ण न हो।[5] जो राजा शत्रु राजा के साथ संधि करके विश्वासपूर्वक सुख से सोता है वह उसी मनुष्य के समान है जो वृक्ष की शाखा पर गाढ़ी नींद में सो गया हो। ऐसा मनुष्य नीचे गिरने से ही सचेत हो सकता है। मनुष्य कोमल हो या कठोर जिस किसी उपाय से संभव हो दीन दशा से अपना उद्धार करे इसके बाद शक्ति शाली

1- महा०शांति०आप० 140. 22 उत्थायोत्थाय गच्छेत नित्युक्तो रिपोर्गृहाम् ।
कुशलं चास्य पृच्छेत् यद्यत्य कुशलं भवेत् ।।

2- ,, ,, 140.25 वकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चा ।।

3- ,, ,, 140.27 कुर्यात तममर्यं चापं शायीत् मृगशायिकाम् ।
अन्धः स्यादन्धवेलायां बाधिर्यमपि संश्रयेत् ।।

4- ,, ,, 140.28 देशकालौ समासाद्य विक्रमेत विचक्षणः ।
देशकाल व्यतीतो हि विक्रमो निष्फलो भवेत् ।।

5- ,, ,, 140.31 सुपुष्पितः स्यादफलः फलवान् स्याद् दुरारुहः ।
आमः स्यात् पक्वसंकाशो न च शीर्येत कस्यचित् ।।

होकर पुन: धर्म धारण करे ।[1]

जो लोग शत्रु के शत्रु हों उन सब का सेवन करना चाहिए । अपने ऊपर शत्रुओं द्वारा जो गुप्तचर नियुक्त किये हों उनको भी पहचानने का प्रयत्न करे ।[2] अपने तथा शत्रु के राज्य में ऐसे गुप्तचर नियुक्त करे जिनको कोई जानता पहचानता न हो शत्रु के राज्य में पाखण्ड, वेशधारी, तपस्वी आदि को ही गुप्तचर बनाकर भेजना चाहिए । किसी यथार्थ कारण से शत्रु के मन में विश्वास उत्पन्न करके जब कभी उसका पैर लड़खड़ाता दिखे अर्थात् उसे कमजोर समझे तभी उस पर प्रहार करे ।[3] जो सन्देह करने योग्य न हो ऐसे व्यक्ति पर भी सन्देह करे उसकी ओर से चौकन्ना रहे और जिससे भय की आशंका रहे उसकी ओर से तो सदा सब प्रकार से सावधान रहना चाहिए क्योंकि जिसकी ओर से भय की आशंका न हो उसकी ओर से यदि भय उत्पन्न हो तो वह जड़ मूल सहित नष्ट हो जाता है।[4] शत्रु के हित के प्रति मनोयोग दिखाकर मौनव्रत लेकर गेरुआ वस्त्र पहन कर तथा जटामृग धारण करके अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करके और जब विश्वास उत्पन्न हो जाय तो भूखे भेड़िये की तरह उस पर टूट पड़े । भाई, पुत्र, पिता, मित्र जो भी अर्थ प्राप्ति में बाधक बने उन्हें ऐश्वर्य चाहनेवाला राजा अवश्य मार डाले । यदि गुरु भी घमण्ड में भर कर कर्तव्याकर्तव्य नहीं समझ रहा हो और बुरे मार्ग पर चलता है तो उसे भी दण्ड देना चाहिए । दण्ड उसे राह पर लाता है ।[5]

1- महा० शांति० आप० 140.38 कर्शिता येन तनैव मृदुना दारुणेन च ।
उद्धरेद दीनमात्मानं समर्थो: धर्ममाचरेत् ।।

2- ,, ,, 140.39 ये सपत्नाना: सपत्नानां सर्वास्तानुपसेवयेत ।
आत्मानश्चपि बोद्ध व्याश्चरा विनिहिता: परै: ।।

3- ,, ,, 140.40 विश्वासयित्वा तु परं तत्वभूतेन हेतुना ।
अथास्य प्रहरेत काले किंचित विचलित पदे ।।

4- ,, ,, 140.45 आशंक्यमपि शंकित नित्यं शंकित शङ्कितात् ।
भयं ह्यशङ्कि० ताज्जातं समूलमपि कृन्तन्ति ।।

~~[illegible] ,, ,, [illegible] [illegible]~~
~~[illegible]~~

5- ,, ,, 140.48 गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानत: ।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शासनम् ।।

शत्रु के आने पर उसका स्वागत करे, उठकर उसे प्रणाम करे, उसे कोई अपूर्व उपहार दे । इन सब उपायों द्वारा उसे पहले वश में करे । इसके बाद ठीक वैसे ही जैसे तीखी चोंचवाला पक्षी वृक्ष के प्रत्येक फल फूल को चोंच मारता हो उसी प्रकार उसके साध्य और साधन पर आघात करे ।[1]

शत्रु करुणाजनक वचन बोल रहा हो तो उसे भी न छोड़े बिना मारे। जिसने पहले अपना अपकार किया हो उसको अवश्य मार डाले और उसमें दु:ख न माने । ऐश्वर्य की इच्छा रखनेवाले राजा दोषदृष्टि परित्याग करके सदा लोगों को अपने पक्ष में मिलाये रखना तथा दूसरों पर अनुग्रह करके के लिए यत्नशील बना रहे और शत्रुओं का दमन भी प्रबल पूर्वक करे, प्रहार के लिए उद्यत होकर भी प्रिय वचन बोले और प्रहार के पश्चात् भी प्रिय वचन बोले । तलवार से शत्रु का मस्तक काट कर भी उसके लिए शोक करे और रोये ।[2] ऋण अग्नि और शत्रु में से कुछ भी बाकी रह जाय तो निरन्तर बढ़ता जाता है । इसलिए इनमें से कुछ भी शेष नहीं छोड़ना चाहिए ।[3] जो समय पर कोमल और समय पर कठोर बन जाता है वह अपने सारे कार्य सिद्ध कर लेता है और शत्रु पर भी विजय कर लेता है ।[4]

विद्वान पुरुष से विरोध करके " मैं दूर हूँ " ऐसा समझकर निश्चिन्त नहीं रहना चाहिए क्योंकि बुद्धिमान की बाहें बड़ी लम्बी होती है, अत: बुद्धिमान पर चोट की गयी तो अपने विशाल भुजाओं द्वारा दूसरे भी शत्रुओं का विनाश कर सकता है ।[5]

1- महा०शां०ति०आप० 140.49 अभ्युत्थानाभिवादाभ्यां सम्प्रदानेन केनचित् ।
प्रतिपुष्पफलाघाती तीक्ष्ण तुण्ड इव द्विज: ।।

2- ,, ,, 140.54 प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात प्रहृत्यैव प्रियोत्तरम् ।
असिनापि शिरश्छित्वा शोचते च रुदते च ।।

3- ,, ,, 140.58 ऋणशेषमाग्निशेषं शत्रुशेषं तथैव च ।
पुन: पुन: प्रवर्धन्ते तस्माच्छेषं न धारयेत् ।।

4- ,, ,, 140.67 काले मृदुर्यो भवति कालेभवति दारुणह् ।
प्रसाधयति कृत्यानि शत्रुं चाप्यधितिष्ठति ।।

5- ,, ,, 140.68 पण्डितेन विरुद्ध: सन् दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसत: ।।

जिस नदी के पार न उतर सके उस नदी में तैरने का साहस न करे । जिस धन को शत्रु बलपूर्वक वापस ले उस धन का अपहरण ही न करे, जिसकी जड़ उखाड़ फेंकना संभव ही न हो उस शत्रु की जड़ न खोदे, जिस वीर को मार न सके उस पर आघात न करे ।[1]

राजा इन विविध उपायों को अपना कर अपनी तथा प्रजा की रक्षा करे ।

इस प्रकार से आपद् राजधर्म में राजा के आपत्तिकालीन कर्त्तव्यों की व्याख्या की गयी है । आपद् राजधर्म में राजा को अपने तथा प्रजा के प्राण रक्षा के लिए किसी भी प्रकार के उचित या अनुचित उपाय, कूटनीति, संधि-विग्रह आदि कार्यों की छूट होती है जिसका सहारा लेकर वह अपनी बुद्धि कौशल तथा प्रखर प्रतिभा के द्वारा अपने तथा प्रजा के प्राणों की रक्षा कर सके और संकट काल टल जाने पर पुन: धर्म का संवर्धन कर सके । प्रजा की नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति कर सके । इसी को आपद् राजधर्म कहते हैं ।

प्रस्तुत अध्याय में राजनीति से संबंधित प्राचीन भारतीय धर्म ग्रंथों की सैद्धान्तिक व्याख्या की गयी है । शोध ग्रंथ के चतुर्थ अध्याय के तृतीय खण्ड में राजधर्म तथा आपद्राजधर्मों का तिथि क्रमागत ऐतिहासिक विश्लेषण किया गया है ।

000

1- महा० शांति० आप० 140, 69 न तत् तरेद् यस्य न पारमुत्तरे ।
न तद्धरेद् यत् पुनराहरेत् पर ।
न तत् खनेद यस्य न मूलमुद्धरे -
न्न तहन्याद यस्य शिरोन पातयेत् ।।

अध्याय - 4

प्राचीन भारतीय ,सामाजिक गतिशीलता में आपद्धर्मों के महत्व एवं योगदान का ऐतिहासिक विश्लेषण

प्रस्तुत अध्याय में सामाजिक गतिशीलता में आपद्धर्मों के योगदान का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण किया गया है । पिछले तृतीय अध्याय में आपद्धर्मों की विविधताओं पर सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से प्रकाश डाला जा चुका है, इस अध्याय विशेष में आपद्धर्मों के क्रमश: विकास द्वारा समाज की गतिशीलता, ऐतिहासिक तिथिक्रमों तथा घटनाओं की विश्लेषणात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है । प्रस्तुत शोध अध्याय में समस्त प्रयुक्त तिथियां संभावित हैं । तिथियों के निश्चय के संबंध में डा० पी०वी०काणे, डा० आर० एस० शर्मा, डा० ए० एस० अल्टेकर तथा व्यूलर महोदय के ग्रंथों की सहायता ली गयी है ।

आपद्धर्म की अवधारणा के संबंध में जैसा कि प्रथम अध्याय में ही कहा जा चुका है कि काल चक्र के परिवर्तन के कारण कभी-कभी धर्म अप्रासंगिक हो जाते हैं, तब धर्म, मूल्य मान्यताएं, साधक न होकर सामाजिक गति के लिए बाधक बन जाती है । बदलते परिस्थितियों में समाज की गतिशीलता को बनाये रखने के लिए मनुष्य को कुछ काल विशेष के लिए (संकट के समय) नये मानकों और मूल्यों का आविर्भाव करना पड़ता है जो तत्काल प्रचलित धर्म के विपरीत होते हैं और संक्रमण (संकट) काल में जिनका पालन कर व्यक्ति अपना निर्वाह कर सके व्यक्ति के वही कर्तव्य आपद्धर्म कहे जाते हैं ।

(अ) प्राचीन भारतीय ,सामाजिक गतिशीलता में आपद्वर्ण-धर्म के महत्व का ऐतिहासिक विश्लेषण (4,000 बी०सी० - 500 बी०सी०)

डा० आर० एस० शर्मा ने 1000 ई० पू० से 500 ई० पू० के काल को वैदिक युग की संज्ञा दी है । उनके अनुसार ऐसी संभावना व्यक्त की जाती है कि ऋग्वेद ,यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, संहिताएं तथा ब्राह्मण ग्रंथों का प्रणयन इसी काल में हुआ । इस काल को कुछ विद्वानों ने दो भागों में विभाजित किया है ।[1]

1- आर० एस० शर्मा : शूद्राज इन एंशियण्ट इण्डिया, पृ० 39,45,48 ।

पूर्व वैदिक[1], उत्तर वैदिक काल । डा० शर्मा ने ईरानियन सभ्यता में प्रयुक्त दाहे (Danae) शब्द को भारतीय दास के समकक्ष माना है । इसी के लिए ग्रीक शब्द (Kudros) कुद्रोश मिलता है जिसका प्रयोग होमर के काव्यों में हुआ है जो 10वीं से 9वीं शताब्दी ई०पू० के है । शर्मा का मत है कि जब ग्रीकों ने भारत पर आक्रमण किया उसी समय इन शूद्रों (Kudros) का भी प्रवेश भारत में हुआ जो संभवत: 2000 ई०पू० के बाद का समय रहा होगा जब वे वैदिक आर्यों द्वारा परास्त हुए होंगे तथा उत्तर वैदिक काल में चौथे वर्ण के रूप में ग्रहित हुए । उस समय श्रावस्ती शूद्रों से परिपूर्ण थी । वहां से प्राप्त पेन्टेड ग्रे वेयर (Painted Grey Ware) जो 1000 ई० पू० के है शूद्रों की उपस्थिति का भान कराते हैं ।[1] डा० काणे का मत है कि ऋग्वैदिक काल में दो परस्पर विरोधी वर्ग थे आर्य तथा दस्यु जो एक दूसरे से चर्म रंग पूजा पाठ बोलचाल में भिन्न थे तथा परस्पर ईर्ष्या करते थे।[2]

वैदिक समाज में न कोई रूढ़ीवादिता थी न ही कोई निश्चित नियमों का प्रादुर्भाव हुआ था । सभी व्यक्ति सभी कार्य करते थे । एक ही परिवार के व्यक्ति जीविकोपार्जन हेतु बिना किसी भेद-भाव के विविध कार्य कर सकते थे, ऋग्वेद में एक स्थल पर वर्णन है कि मैं कारु (मंत्रदृष्टा, निर्माता, मूर्तिकार) मेरे पिता भिषक (वैद्य) मेरी माता उपल प्रक्षिणी (पत्थर की चक्की से अनाज पीसनेवाली) अपने विभिन्न कार्यों को करते हुए हम सब एक ही परिवार के सदस्य हैं ।[3] इससे यह ज्ञात होता है कि इस समय व्यक्ति के अन्दर कार्यों के स्तर विभाजन का सूत्रपात्र नहीं हुआ था । संभवत: उनका समाज कबिलेवाला रहा हो व्यक्ति विविध कर्मों से जीविको पार्जन करता रहा हो तथा उसके यायावार

1- आर०एस०शर्मा : शूद्राज़ इन एंशियण्ट इण्डिया, पृ० 39,45,48

2- डा० काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ० 110

3- ऋग्वेद , अनु० दामोदर सातवलेकर, पारडी, बलसाड

9. 112 3 कारुरहं ततो भिषगुपल प्रक्षिणी नना ।
नानाधियो वसूयवोऽनुग इव तस्थिम् ।

जीवन पद्धति में स्थिरता का सूत्रपात हुआ हो । डा० काणे का विचार है कि ऋग्वेद में पहली बार वैश्य और शूद्र का वर्णन पुरुष सूक्त में हुआ है ।[1]

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त मे चार वर्ण ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र की उत्पत्ति क्रमश: विराट पुरुष के मुख, भुजा, उरु और पाद से बतायी गयी है ।[2] यद्यपि प्रस्तुत सूक्त में वर्ण शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है तथापि समाज के कार्य विभाजन के आधार पर चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त का बीज रूप यहाँ प्राप्त होता है । इस सूक्त में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को अति प्राचीन स्वाभाविक तथा दैवी उत्पत्ति सिद्ध करने का प्रयास किया गया है । अधिकांश विद्वान इसे उत्तर कालीन रचना मानते हैं उनका मत है कि यह सूक्त उत्तरकालीन समाज का चित्रण करती है।[3]

उत्तर वैदिक ग्रंथों में समाज के चार वर्णों ब्राह्मण राजन्य(क्षत्रिय) वैश्य तथा शूद्रों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है । इस काल में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था स्थापित हो गयी थी । पहले के कबीलेवाले समाज में इस प्रकार का परिवर्तन श्रम के विभाजन एवं अन्य सामाजिक तत्वों के समावेश के कारण हुआ था ।[4] तैत्तरीय संहिता में चारों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के लिए प्रार्थना प्राप्त होती है।[5]

ब्राह्मण ग्रंथों की विशद व्याख्या करते हुए जोगीराज बसु का मत है कि शतपथ ब्राह्मण में स्पष्टत: चार वर्णों का उल्लेख हुआ है ब्राह्मण-राजन्य-वैश्य शूद्र उनके अनुसार ब्राह्मण ग्रंथों का युग संहिता ग्रंथों के लचीलेपन और उ० वैदिक काल की कठोरता के बीच का काल रहा होगा । इस समय मनुष्यों

1- डा० काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 110

2- ऋग्वेद - अनु० दामोदर सातवलेकर, पारडी, बलसाड़

10. 90. 12 ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहू राजन्य: कृत: ।
उरुतदस्ययदवैश्य: पद्भ्यां शूद्रोऽजायत् ।।

3- वैदिक इण्डेक्स, जिल्द 2, पृ० 275
दृष्टव्य - राजा रणजीत सिंह, धर्म की हिन्दू अवधारणा, पृ० 90 ।

4- डा० आर० एस० शर्मा - शूद्राज इन एंशियण्ट इण्डिया, पृ० 29

5- तैत्तरियसंहिता 5.7. 6. 4 ।

में ही नहीं अपितु देवता, पशु, सब्जियों का भी वर्गीकरण हो गया था जैसे -

चार वर्ण	ब्राह्मण	क्षत्रिय	वैश्य	शूद्र
देवो के चार वर्ण	अग्नि बृहस्पति	इन्द्र, वरुण सोम, रुद्र, यम	वसु आदित्य मरुत	पूषान
जानवर के चार वर्ग	बकरी	घोड़ा	गदहा	गदहा
	पलाश	दूब	ऊन	

पुरुष सूक्त में चार वर्णों के कर्मों की व्याख्या नहीं की गयी । संभवत: इनका वर्गीकरण समाज के कार्यों, व्यवसायों के विभाजन का मुख्य उद्देश्य था जिससे समाज रूपी शरीर के सभी कार्य सुसंचालित तथा सुव्यवस्थित हो सके । वर्ण व्यवसाय के चुनाव का माध्यम था । ब्राह्मण बौद्धिक वर्ग था, क्षत्रिय प्रशासनिक वर्ग जो लोगों को सुरक्षा प्रदान करता था, वैश्य, वाणिज्य, व्यवसाय, कृषक वर्ग का तथा शूद्र सेवा करता था ।[1]

शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मण का प्रमुख कार्य अध्ययन, अध्यापन कहा गया है । स्वाध्याय को ही ब्राह्मणों का यज्ञ, ब्रह्मयज्ञ कहा गया है ।[2] स्वाध्याय के अन्तर्गत विविध विषयों का अध्ययन आवश्यक था जैसे अनुशासन, विद्या वाकोवाक्य, इतिहास पुराण गाथा नाराशंसी आदि इसके अध्ययन को करने मात्र से ब्राह्मण देवताओं को शुद्ध की आहुति प्रदान करता है उन्हें तृप्त करता है ।[3] यदि ब्राह्मण किसी दिन स्वाध्याय न करे तो उस दिन ऐसा प्रतीत

1- जोगीराज बसु , इण्डिया आव द एज आव द ब्राह्मन्स, पृ० 9-10, 11
   शतपथ ब्राह्मण 5.5.4.9
   ऐतरेय ब्राह्मण 1.2.3
   शतपथ ब्राह्मण शुक्लयजुर्वेदिय माध्यन्दिनी शाखा ।।। भाग
   मूल अल्बर्ट वेबर, अनु० गंगा प्रसाद उपाध्याय, गोविन्दराम, हासानन्द, दिल्ली, 1988, पृ० 81

2- ,, 11. 5. 6. 3 स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञ स्तस्य

3- ,, 11.5.6.8 मध्वाहुतयो ह वाऽएतादेवानाम् ------- प्राणेन रे ।

होगा जैसे उस दिन आदित्य चन्द्र पृथ्वी की गति अवरुद्ध हो गयी हो ।[1]
शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मणों के चार विलक्षण गुणों की चर्चा की गयी है - ब्राह्मण (माता-पिता द्वारा प्राप्त पैतृक गुण) प्रतिरूपचर्या (पवित्रता) यश(महत्ता) लोकपक्ति (लोगों को पूर्ण बनाना, पढ़ाना, जब लोग ब्राह्मण से पढ़ते हैं या उसके द्वारा पूर्ण होते हैं तो वे उन्हें चार विशेषाधिकार देते हैं - अर्चा (आदर देना) दान, अज्येयता, अवध्यता ।[2] संभवत: इसी काल में सभी वर्णों के कर्मों में निश्चितता तथा स्थिरता का प्रतिपादन हुआ क्योंकि एक स्थल पर शतपथ ब्राह्मण में वर्णन है कि ब्राह्मण राज्य के योग्य नहीं हैं ।[3]

शूद्रों के विषय में बसु का मत है दस्यु ही शूद्र थे उनका निम्न स्तर था । सेवावृत्ति करते थे, तैत्तरिय ब्राह्मण में वर्णन है शूद्र द्वारा दूहा गया दूध यज्ञ में नहीं प्रयोग किया जायेगा । शतपथ ब्राह्मण में वर्णन है केवल ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ही मार्जानिय है, यज्ञ कर सकते हैं । यज्ञ स्थल पवित्र जल से धोया जाय किन्तु शूद्रों का उसमें प्रवेश वर्जित था । शूद्र ब्राह्मणों की पंक्ति में नहीं बैठ सकते थे । आर्यों का पर्याय बना ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा अनार्यों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई । ऐतरेय ब्राह्मण में विविध प्रकार के बाह्य जातियों और दस्युओं से शूद्रों की उत्पत्ति का वर्णन है विश्वामित्र की कथा से प्राप्त होती है । विश्वामित्र राजघराने से संबंधित थे । उन्होंने अपने पौत्रों को शाप दिया (उनके कर्मच्युत होने पर) कि वे निम्न वर्णों में जन्म लेंगे जैसे आन्ध्रा, पुन्दर, शबर, पुलिन्द आदि दस्युओं के प्रधान होंगे ।[4]

1- ,, 11.5.7. 10 --- तद्दह ब्राह्मणो भवति यद्दह: स्वाध्याय ना धीते तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यस्तस्माद्व्यृच ------ ।

2- ,, 11.5.7.1 प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् । ब्राह्मणमभिनिष्पादयति ब्राह्मण्यं प्रतिरूपचर्या यशो लोकपक्तिम् लोक: । पच्यमानश्च-तुर्भिर्धर्मैर्ब्राह्मणं भुनक्त्यर्चया च दानेन चाज्येयतया चावध्यतया च।

3- ,, 115.1.1 12 न वै ब्राह्मणो राज्यायालम् ।

4- जोगीराज बसु , इण्डिया आव द एज आ . ब्राह्मस, पृ० 11-14,28
तैति०ब्रा० 3.2.3.9 संस्कृत पुस्तक भण्डार, कलकत्ता, 1969
शत०ब्रा० 3.1.1 10
ऐत०ब्रा० 7. 33.6

उपनिषदों में क्षात्रिय क्षत्रियों के नाम आते हैं जहाँ ब्राह्मण लोग शिष्य के रूप में उपस्थित होते थे । यथा याज्ञवल्क्य ने जनक से, बालाकि गार्ग्य ने काशीराज अजातशत्रु, श्वेतकेतु आरुणेय ने प्रवाहण जैवलि से, पंच ब्राह्मणों ने केकय राज अजातशत्रु से ज्ञान प्राप्त किया था ।[1] बाद में धर्मसूत्र काल में ये आपद्धर्म बना कि ब्राह्मण गुरु के अभाव में व्यक्ति क्षत्रियों से शिक्षा ग्रहण करे । छान्दोग्य उपनिषद[2] में बहुत महत्वपूर्ण विचार मिलते हैं । यहाँ यह कहा गया है कि किसी वर्ण में उत्पन्न होना पूर्व जन्म के कर्म फल के आधार पर होता है । इस प्रकार जो सदाचार का अनुसरण करते हैं वे अपर जन्मों में अच्छा जन्म प्राप्त करेंगे, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के रूप में उत्पन्न होंगे । यहाँ पर कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त और वर्ण व्यवस्था का संबंध सर्वप्रथम दृष्टिगत होता है यही सिद्धान्त कालान्तर में चातुवर्ण्य व्यवस्था का अभिन्न अंग बनी ।

इस प्रकार से वैदिक काल में वर्ण लचीले सामाजिक वर्ग थे । कूली[3] के शब्दों में ये मुक्त सामाजिक वर्ग थे एक दूसरे में जाना असंभव नहीं था । जी०एच० मीज[4] का मत है कि व्यक्ति के स्वभाव, प्रवृत्तियों और अन्त: प्रेरणाओं के विभिन्नता के कारण सामाजिक व्यवस्था में इस प्रकार का वर्गीकरण हुआ जो सामाजिक सुरक्षा एवं विकास के लिए आवश्यक था ।

(600 ई०पू० - 300 ई०पू०) धर्मसूत्र, बौद्ध जैन ग्रंथ, पाणिनी व्याकरण -

इस काल की विविध रचनाओं से यह तथ्य प्रकाशित होता है कि धीरे-धीरे समाज की वर्ण व्यवस्था कर्मगत से जन्मगत की ओर अग्रसर हो रही थी ।

1- डा० काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ० 142
    शत० ब्रा० 6.21.5
    बृहदारण्यक उप० 2.1
    कौषीतकी उप० 4
    छान्दोग्य उपनिषद् 5.3.1 श्वेतकेतुर्हारुणेय: पन्चालानां-------- हि भगव इति ।
2- छान्दोग्य उपनिषद् 5.10.7 तद्य इह -------- चण्डालयोनिं वा
    डा० पी०एच०प्रभु, हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृ० 292-293
3- कूली : सोशल आर्गनाइजेशन, पृ० 21
4- जी० एच० मीज : धर्म एण्ड सोसायटी, पृ० 72

इनमें जन्मगत वर्ण व्यवस्था का बीज रूप दृष्टव्य होता है । धर्मशास्त्रकारों ने समाज की गतिशीलता को ध्यान में रखते हुए मानव जीवन रक्षा के लिए वर्ण व्यवस्था की कठोरता में कुछ ढील दी जिससे आपत्तिकाल में व्यक्ति आपद्धर्मों द्वारा अपने जीवन की रक्षा कर सके ।

धर्मसूत्रों में हमें वर्ण-धर्म विषयक अलग अध्याय मिलते हैं । इस समय विभिन्न वर्णों के कर्त्तव्यों का आदर्श स्थिर होने लगा था । वशिष्ठ धर्मसूत्र में वर्णन है ब्राह्मण का कर्त्तव्य, अध्ययन-अध्यापन, यजन (यज्ञ करना) याजन (यज्ञ कराना) दान, प्रतिग्रह । क्षत्रिय का कर्त्तव्य वैदिक अध्ययन यज्ञ करना, दान देना, प्रजा का परिरक्षण और उसकी जीविका का साधन प्रस्तुत करना माना गया है । वैश्य के कर्त्तव्य कृषि, व्यापार, पशुपालन तथा कुसीद माना गया । शूद्रों का कर्त्तव्य अपने से उच्च वर्णों की सेवा करना इससे वर्ण व्यवस्था में कठोरता आयी इसके साथ ही साथ धर्मसूत्रकारों ने प्रतिकूल परिस्थितियों का अवलोकन कर आपत्कर्त्तव्यों का भी निवेश किया कि व्यक्ति आपत्तिकाल में अपने से निम्न वर्णों के ही कर्म करे, उच्च वर्णों के कर्मों को करने अनुमति नहीं दी गयी । ये ही आपद्धर्म कहलाये । इसी समय वर्णसंकर सन्तानों द्वारा (जो अनुलोम, प्रतिलोम विवाहों द्वारा उत्पन्न) अनेक उपजातियों की रचना हुईं जिससे म्लेच्छों (निम्न वर्ण) को सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत ग्रहित किया जा सके, इनमें प्रमुख आयोगव, करणिक, मगध, माहिष्य आदि थे ।[1]

गौतम धर्मसूत्र में ऐसा वर्णन है कि ब्राह्मण का ब्राह्मणेतर (क्षत्रिय या वैश्य) वर्णों से विद्या ग्रहण करना आपत्कालीन नियम है ।[2] ब्राह्मण आपत्तिकाल में सभी अयोग्य व्यक्तियों का भी यज्ञ करा सकता है, सब को

1- एस०सी०बनर्जी : धर्मसूत्राज ए स्टडी इन देयर ओरिजिन एण्ड डवलपमेण्ट, पृ० 126, 130, 180

2- गौतम धर्मसूत्र 7, 1 : डा० उमेश चन्द्र पाण्डे, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, आपत्कल्पो ब्राह्मणस्याब्राह्मणाद्विद्योपयोगः ।

पढ़ा सकता है और सब का दान भी ले सकता है । ब्राह्मण को आपत्तिकाल में पहले दान लेकर जीविका चलानी चाहिए उससे जीविका न चले तो याजन द्वारा (यज्ञ कराना) जीविका चलानी चाहिए ।[1] प्राण संशय की दशा में ब्राह्मण को क्षात्रिय वृत्ति करनी चाहिए अर्थात् ब्राह्मण शस्त्र धारण करे ।[2] ब्राह्मण को यदि क्षात्रिय के कर्मों द्वारा लाभ न हो तो वैश्य वृत्ति करे, इसमें उसे शास्त्र विहित वस्तुएं ही बेचनी चाहिए जिसकी सूची धर्मसूत्रों में दी गयी है ।[3] इस प्रकार से जीविकोपार्जन करे यही नियम और क्रम क्षात्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों के लिए भी था. शूद्रों को आपत्तिकाल में शिल्प आदि करने की अनुमति दी गयी । डा० शर्मा का मत है कि इस समय शूद्रों का वर्ण शिल्प कला में निपुण था जैसा कि गौतम का मत है । इसके अतिरिक्त वह जुलाहा, बढ़ई, चमड़े का कार्य, कुम्भार और रंगरेज का कार्य कर सकता था । इसका वर्णन पाली ग्रंथों में भी है।[4]

यहां पर ग्रंथों में अन्तर्विरोध दर्शित होता है, धर्मसूत्र जहां ब्राह्मणों को सर्वोच्च मानते थे वहीं बौद्ध तथा जैन ग्रंथ क्षात्रियों को ब्राह्मणों से श्रेष्ठ घोषित किये थे । संभवत: यह पूर्वी भारत का प्रदेश रहा होगा । ओल्डेनवर्ग का कथन सत्य ही है कि इस समय व्यक्ति का स्तर जन्म से आंका जाने लगा था । इसके प्रभाव में आपस्तम्ब धर्मसूत्र में वर्णन है कि दूसरे वर्णों के लोग अपने से श्रेष्ठ वर्ण के व्यक्ति के लिए मार्ग छोड़े ।[5] अपने धर्म का सतत पालन करने पर निम्न वर्ण के व्यक्ति (शूद्रादि) उत्तरोत्तर अगले जन्मों में अपने वर्ण

1- गौतमधर्मसूत्र 7.4-5 याजनाध्यापन प्रतिग्रहा: सर्वेषाम् ।। 4
पूर्व: पूर्वो: गुरु: ।। 5

2- ,, 7.25 प्राणसंशये ब्राह्मणोपि शस्त्रमाददीत ।।

3- ,, 7.7 तदलाभे वैश्यवृत्ति:
7.8 तस्या पण्यम्

4- आर० एस० शर्मा , शूद्राज इन एंशियण्ट इण्डिया, पृ० 44
गौतम 10. 54-57

5- आपस्तम्ब धर्मसूत्र 5.8 वर्णज्यायसां चेतरैर्वर्णै:

की अपेक्षा श्रेष्ठ वर्णों में जन्म प्राप्त करते हैं और इस प्रकार उनका जाति परिवर्तन होता है।[1] इससे वर्ण व्यवस्था जन्मगत हुई यह तथ्य प्रमाणित होता है।

अध्ययन आदि कार्यों में भी जाति और आचार प्रमुख निर्धारक तत्व थे। एक स्थल पर वर्णन है कि अध्ययन के लिए आये हुए व्यक्ति की जाति और आचार के विषय में शंका हो तो अग्नि के उपसमाधान की विधि के अनुसार अग्नि प्रज्वलित करे और उससे उसके जाति और आचार के विषय में प्रश्न करें।[2] इसकी पुष्टि प्रमाण में डा० शर्मा ने बौद्ध ग्रंथों के उद्धरणों का अवलोकन करते हुए कहा है कि उस समय एक धर्नुधारी के लिए यह निश्चित करना आवश्यक था कि वह ब्राह्मण है, क्षत्रिय है कि वैश्य या शूद्र है।[3] इस समय के सम्पन्न शूद्र गृहपति कहलाते थे जो संभवतः कुछ शिल्पी शूद्र थे जिनकी दशा अच्छी हो गयी थी। इनके रहने के अलग-अलग क्षेत्र थे जहाँ ये समूहों में रहते थे। डा० शर्मा ने उस समय को (नार्थ ब्लैक पालिश्ड वेयर से जोड़ा है (600 बीसी से 250 बी०सी०)[4]। उनका मत है कि मौर्यों के पूर्व निश्चित व्यापार व्यवसाय शुरू हो गया था। (~~300 बी०सी० 100 ए०डी०~~) 300 बी.सी. – 100 ए.डी.

कौटिल्य अर्थशास्त्र, मनुस्मृति, मेगस्थनीज़ के विवरण पातंजली का ~~का~~ व्याकरण शिलापट्टक की रचना तथा अशोक के अभिलेखों का काल था। रामायण तथा महाभारत के भी कुछ अंश इसी काल में लिखे गये। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह मौर्यवंश ब्राह्मणवंश तथा कुषाणवंश का काल था। कौटिल्य के विषय में

1- आपस्तम्ब धर्मसूत्र 5.10 धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ।

2- ,, , 2 प्रश्न 3.1 डा० उमेशचन्द्र पाण्डे, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ जात्याचारसंशये धर्मार्थमागतमग्निमुपसमाधाय जाति माचारं च पृच्छेत

3- मज्झिम निकाय 1. 429

4- आर० एस० शर्मा : शूद्राज इन एंशियण्ट इण्डिया, पृ० 92-101

अर्थशास्त्र के अन्तिम अध्याय में वर्णन प्राप्त होता है कि जिसने शास्त्र-शस्त्र और नन्दराजा के अधीनस्थ भूमि का शीघ्र उद्धार अपने क्रोध से किया । उसी विष्णुगुप्त कौटिल्य ने इस अर्थशास्त्र विषयक ग्रंथ की रचना की है ।[1] प्राचीन अर्थशास्त्रों में बहुधा भाष्यकारों के मतभेदों को देखकर स्वयं ही विष्णुगुप्त कौटिल्य ने इस अर्थशास्त्र के सूत्रों और उनके भाष्य का निर्माण किया है ।[2] इन कथनों से यह सिद्ध होता है कि नन्दवंश के उन्मूलन में कौटिल्य का प्रमुख हाथ था तथा अर्थशास्त्र की रचना भी कौटिल्य ने ही की । कौटिल्य चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रधान मंत्री था अतः अर्थशास्त्र भी उसी काल की रचना है । इस कथन के प्रमाण में डा० शर्मा का मत है कि कौटिल्य ने राजा को उच्च वर्ण का होना आवश्यक माना है क्योंकि आर्य कभी भी निम्न वर्ण के व्यक्ति के राजछत्र में रहना नहीं पसन्द करते । चन्द्रगुप्त मौर्य को कुछ लोगों ने शूद्रा माता से उत्पन्न माना है किन्तु ये अनुश्रुति यहाँ गलत साबित होता है क्योंकि कौटिल्य कभी भी शूद्र शासित देश में रहना नहीं पसन्द करते जैसा कि वर्ण व्यवस्था की जटिलता का विवरण अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने प्रस्तुत किया है[3] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य अवश्य ही क्षत्रिय रहा होगा ।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में एक स्थल पर वर्णन है शूद्र जिस अंग से ब्राह्मण पर प्रहार करे उसका वह अंग काट देना चाहिए । शूद्र यदि ब्राह्मण का हाथ पैर झटक दे तो उस पर यथोचित दण्ड किया जाय और केवल छू दे तो उक्त दण्ड का आधा दण्ड किया जाय । इसी प्रकार चाण्डाल आदि नीच जातियों के सम्बन्ध में भी यही दण्ड व्यवस्था समझनी चाहिए ।[4] इस कथन से ऐसा प्रतीत

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 180.1.2 अनु० वाचस्पति गैरोला, पृ० 771
येनशास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः ।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम ।।

2- ,, 180. 1. 3 दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणाम् ।
771. स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च ।।

3- आर० एस० शर्मा : शूद्राज़ इन एंशियण्ट इण्डिया, पृ० 172

4- कौटिल्य अर्थशास्त्र 76. 19. 1 शूद्रोयेनाङ्गेन ——— व्याख्याताः ।।
पृ० 335

होता है कि यदि कौटिल्य शूद्र राजा के मंत्री होते ता शूद्रों के लिए ऐसे कठोर नियम नहीं बनाते । संभवत: चाण्डाल आदि शब्द अनार्यों विदेशियों के लिए प्रयुक्त किया गया था ।

मेगस्थनीज ने अपने यात्रा वृत्तान्त में भारत में 7 प्रकार की जन-जातियों का उल्लेख किया है - (1) दार्शनिक (2) कृषक (3) गोपाल गडरिया (4) शिल्पकार (5) सैनिक (6) अवेक्षक (7) सभासद एवं कर ग्राही । इनमें मिले जुले रूपों में ब्राह्मण ,क्षत्रिय ,वैश्य एवं शूद्र वर्णों के विविध कर्मों का झलक मिलती है संभवत: वे जन्म से ही ये व्यवसाय अपना लेते हो, इसी से मेगस्थनीज़ को ये भ्रम हो गया हो कि ये व्यवसायिक संगठन नहीं अपितु जातियां ही हैं । मेगस्थनीज़ के यह भी कहा कि वे केवल अपनी ही जाति में विवाह करते थे तथा अपना ही व्यवसाय करते थे ।[1] इससे ज्ञात होता है कि जाति प्रथा अब मौर्य काल में धीरे-धीरे विकट रूप ले रही थी और इसमें छुआछूत का सूत्रपात हो रहा था ।

आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में ब्राह्मणों के अपराधों पर हल्के दण्ड तथा शूद्रादि के अपराधों पर अपेक्षाकृत कठोर दण्ड की व्यवस्था की । उनके अनुसार ब्राह्मण वेदज्ञ और तपस्वी को इतना मात्र दण्ड दिया जाय कि सिपाही उनको इधर-उधर दौड़ा फिरा दे । जो लोग इन नियमों का उल्लंघन करे या कराये तथा अपराधी (ब्राह्मण) से काम कराये या उसको मारे उन्हें उत्तम साहस दण्ड दिया जाय ।[2] ब्राह्मण को किसी अपराध में मृत्यु दण्ड या ताडनदण्ड न दिया जाय बल्कि जैसे-जैसे वह अपराध कर उसके मस्तिष्क पर वैसे निशान अंकित कर दिया जाय जिससे वह पतितों को कोटी में रखा जा सके जैसे चोरी करने पर कुत्ते का निशान, मनुष्यों की हत्या करने पर मनुष्य के धड़ का निशान, गुरु पत्नी

1- डा० काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास, 1 भाग, पृ० 117

2- कौटिल्य अर्थशास्त्र 83. 8. 1 ब्राह्मणस्य सत्रिपरिग्रह ---------- पृ० 378

के साथ संभोग करने पर योनि का चिन्ह, शराब पीये तो प्याले का चिन्ह, ब्राह्मण के मस्तक पर अंकित करके उसे निर्वासित करे या खानों में रहने की आज्ञा दे[1]।

इस समय संभवत: विदेशी आक्रमणों का भय आदि रहा हो क्योंकि युद्ध बन्धकों के दास वृत्ति करने का वर्णन भी कौटिल्य ने किया है। संभवत: इस समय दास प्रथा का भी प्रचलन भारत में हुआ है क्योंकि कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में स्पष्ट उल्लेख किया है कि म्लेच्छ लोग अपनी सन्तान को बेच व गिरवी रख सकते हैं परन्तु आर्य जाति किसी भी हालत में गुलाम नहीं बनायी जा सकती[2]। पुन: वर्णन है आर्य जाति का कोई भी व्यक्ति यदि युद्ध में पराजित होने पर दास बनाया गया हो तो वह अपने कार्य के बल पर[3] या समय के अनुसार अपने पकड़े जाने का आधा मूल्य देकर छुटकारा पा सकता है।

कौटिल्य के उक्त वर्णन से ऐसा ज्ञात होता है कि उस समय कि राजनैतिक स्थिति युद्धमय थी युद्ध में पराजित राजा के व्यक्तियों को विजित राजा अपना दस्यु या दास बना लेते होंगे। उ० मौर्यकालीन राजनैतिक स्थिति बहुत ही लचर हो गयी थी। इसी से व्रह दृश्य जैसे निर्बल शासक कावधकर ब्राह्मण राजवंशों (शुंग, सातवाहन, कण्व) ने शासन का बागडोर संभाला (ब्राह्मणों का क्षात्रिय वृत्ति (राजा बनना उनका) करना उनका आपत्कालीन कर्म था जैसा कि गौतम धर्मसूत्रों में कहा जा चुका है[4][5]।

बौद्ध ग्रंथ दिव्यावदान में वर्णन है कि ब्राह्मण और वैश्य दोनों ही राजगृह में भते पर काम करते थे (भुक्तकावेति)। एक अन्य स्त्रोत से ज्ञात होता है कि नगर में गरीब और धनिक दोनों ही रहते थे। गरीब वर्ग ही किराये पर कार्य करनेवाले मजदूर वर्ग था। भुक्तकावेत्ति में केवल गरीब, गन्दे वस्त्रों वाले व्यक्ति ही नौकरी पा सकते थे यह नौकरी अच्छे वस्त्रोंवाले संपन्न व्यक्ति को

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 83.8.2,3 सर्वापराधेष्वपीडनीयो ——————
पृ० 379 ——— मद्यध्वज: ।
ब्राह्मणं ——— वासयेदाकरेषु वा ।।

2- ,, 69.13.2 म्लेच्छानामदोष: ———— दासभाव:
पृ० 311

3- ,, 69. 13. 3 आर्यप्राणो ध्वजाहृत: कर्मकालानुरूपेण मूल्यार्धेन वा विमुच्यते।

4- गौतम धर्मसूत्र 7. 25 प्राणसंशये ब्राह्मणोपि शस्त्रमाददीत ।

नहीं मिल सकती था भले हो वह दिन भर इन्तज़ार करे । इसी में आगे वर्णन मिलता है कि शूद्र उच्छिष्ट भोजन और पुराने वस्त्रों तथा बिस्तरों का प्रयोग करते थे यहाँ पर मनु तथा गौतम के मतों का अनुशीलन किया गया है । मिलिन्दपन्ह में वर्णन है कि क्षत्रिय ब्राह्मण और गृहपति (वैश्यो) की पत्नियाँ अच्छे वस्त्र तथा भोजन ग्रहण करती थी, यहाँ पर कहीं शूद्र की पत्नी का उल्लेख नहीं है ।[1] इससे ज्ञात होता है कि उस काल में भी विपत्ति में सम्पन्न ब्राह्मण श्रमिकों का कार्य कर सकते थे या ऐसी भी संभावना व्यक्त की जा सकती है कि बौद्ध ग्रंथ ब्राह्मणों को नीचा दिखाने के लिए ऐसा वर्णन किये हो ।

इसके पश्चात् यवन शक पार्थियनो एवं कुषाणों के बाह्य आक्रमणों के कारक चातुर्वर्ण्य - व्यवस्था को एक गहरा धक्का लगा होगा । संभवतः इन्हीं परिस्थितियों में मनुस्मृति (200 ई0पू0 - 200 ई0) की रचना हुई होगी ।[2] उत्तर मौर्य काल की राजनीतिक दशा का चित्रण मनु के उन पाठ खण्डों से ज्ञात होता है कि शूद्र द्वारा शासित देश में स्नातक (ब्राह्मण) न वास करे ,जो गांव चोर, डाकू, छली, कपटी आदि दुरात्माओं की बस्तियों से घिरा हो या नास्तिकों वेद निन्दकों से आक्रान्त हो या जहाँ चाण्डाल आदि अधम जातियों के उपद्रव होता हो वहाँ भी न रहे ।[3] मनु के इन वर्णनों से ज्ञात होता है कि इस काल में शूद्र राजा राज्य करते होंगे किन्तु राजनैतिक इतिहास में शूद्र राजा का वर्णन नहीं मिलता है । इस समय शक, यवन, पार्थियन, कुषाण आदि राजाओं का वर्णन है, मनु ने इनको निम्न स्तरीय क्षत्रिय कहा जो क्रिया लोप और ब्राह्मणों की कृपा दृष्टि से वंचित होने के कारण शूद्रत्व को प्राप्त हो गयी है ऐसा वर्णन किया है ।[4] जी0 एच0 मीज ने इसी श्लोक का उद्धरण देते हुए

1- डा0 आर0एस0शर्मा : शूद्राज़ इन एंशियण्ट इण्डिया, पृ0 206 ।

2- वही, पृ0 176

3- मनुस्मृति 4. 61 - न शूद्रराज्ये ———————

——————— नोपसृष्टेऽन्त्यजैर्नृभिः ।।

4- मनुस्मृति 10.43 ... शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ।।

,, 10.44 पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।
पारदाः पह्लवाश्चीना किराताः दरदाः खशाः ।।

कहा है कि विदेशी जो युद्धप्रिय जातियाँ थी जैसे शक, यवन, कुषाण आदि उन्हें मनु सदृश्य शास्त्रकारों ने भारतीय वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत क्षात्रिय वर्ण में निम्न स्तर का स्थान देकर ग्रहित किया क्योंकि युद्ध एवं प्रशासन दोनों का ही जन्मजात कर्म था ।[1] इस प्रकार से मनुस्मृति में चातुवर्ण्य व्यवस्था के पुर्नस्थापना का विशेष प्रयास मिलता है । इसमें वर्ण धर्म का विस्तृत क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित रूप प्राप्त होता है ।[2] परन्तु यह तथ्य विचारणीय है कि सूत्रों में वर्णित आदर्श ही मूलत: यहाँ पर भी रखे गये हैं । इसके साथ ही साथ विदेशी आक्रामकों को भी भारतीय वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत ग्रहित कर उनके सामाजिकरण का सुन्दर प्रयास किया गया । मनुस्मृति[3] में वर्णों के कर्त्तव्यों का विधान कालान्तर में सभी स्मृतिकारों[4] द्वारा प्रामाणिक माना गया । इस प्रकार मनुस्मृति में वर्णधर्म का पूर्ण एवं स्थिर रूप हमारे समक्ष उपस्थित होता है । याज्ञवल्क्य और अन्य स्मृतिकारों ने भी मनु द्वारा प्रतिपादित आदर्श को ग्रहण किया ।

वर्ण धर्म के साथ ही साथ आपद्धर्म की भी चरमोन्नति विकास का भी काल था । मनुस्मृति में अत्यन्त विपति की दशा में ऋषियों द्वारा माँस भक्षण का दृष्टान्त उपलब्ध होता है ।[5] सभी वर्णों के आपद्धर्मों के साथ-साथ शूद्रों के भी आपद्धर्मों का वर्णन प्राप्त होता है कि यदि ब्राह्मण सेवा से जीवन निर्वाह न हो तो क्षात्रिय सेवा करे उससे भी पेट न भरे तो धनिक वैश्य की सेवा करे ।[6] इस प्रकार से इस काल में वर्णों के आपत्कार्यों में विविधता दर्शित होती है।

1- जी०एच०मीज़ - धर्म एण्ड सोसाइटी, पृ० 84

2- जी०एस०धूर्ये - कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, पृ० 89-90

3- मनुस्मृति 1. 87-91

4- याज्ञ० स्मृ० 1. 118, 3. 36-38
 दृष्टव्य - डा० रणजीतसिंह राणा - धर्म की हिन्दू अवधारणा, पृ० 102

5- मनुस्मृति - 10. 105-108 अजीगर्त: सुतं ----------
 ---------- धर्माधर्म विचक्षण: ।

6- मनुस्मृति 10. 121 - शूद्रस्तु वृत्तिमाकाङ्क्षन्क्षत्रमाराधयेधदि ।
 धनिनं वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत् ।।

मनु ने आपत्कर्मों को व्यक्ति के जीवन रक्षा और पवित्रता से जोड़ा है जिससे आपद्‌काल में वह सुरक्षित ढंग से अपना जीवन यापन कर सके। उनका मत है कि चारों वर्णों के आपत्काल कर्मों का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करके सभी वर्ण वाले परमगति को पा सकते हैं।[1]

किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उस काल में जाति प्रथा लुप्त प्राय हो गयी थी। उस काल में जाति प्रथा बहुत ही कठोर थी। निम्न वर्णों के व्यक्ति उच्च वर्णों के व्यक्तियों के साथ यदि बैठने या छूने का साहस करे तो बहुत ही कठोर दण्ड देने का विधान था। यदि नीच वर्ण ब्राह्मणादि वर्ण के साथ आसन पर बैठना चाहे तो राजा उसकी कमर में चिन्ह अंकित करके देश से निकाल दे अथवा उसके चूतड़ का मांस कटवा ले।[2] मनु ने तो यहाँ तक कहा कि अन्त्यज जिस अंग से द्विजों को मारे या छुए उनका वही अंग काटना चाहिए।[3] इस प्रकार से यह ज्ञात होता है कि उस समाज में अस्पृश्यता की भावना भी बलवती हो गयी थी। (~~100 ई० - 500 ई०~~)
(100ई० - 500ई०)

इस काल में याज्ञवल्क्य, विष्णु, नारद, बृहस्पति आदि स्मृतियों की रचना हुई। इसी काल में रामायण और महाभारत के कुछ खण्ड पाठों का सृजन हुआ। हाप्किंस का मत है कि महाभारत का रचनाकाल 200 ई० पू० से 200 ई० तक का रहा होगा। ऐतिहासिक दृष्टि से यह गुप्तों का काल था इस काल में बहुत से प्रकाण्ड नाटककार हुए जिनमें कालिदास की अभिज्ञान शाकुंतल, मेघदूत, रघुवंश, शूद्रक का मृच्छकटिकम्, कामन्दक नीतिशास्त्र, भरत का नाट्यशास्त्र,

---

1- मनु० 10. 130 - एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः ।
यान्सम्यगनुतिष्ठन्तो व्रजन्ति परमां गतिम् ।।

2- मनु० 8. 281 - सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः ।
कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिचं वास्यावकर्तयेत् ।।

3- मनु० 8. 279 - येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः ।
छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् ।

वात्स्यायन कामसूत्र, वाराहमिहिर वृहत्संहिता , अमर सिंह का अमर कोष आदि प्रसिद्ध हैं जिससे तत्कालीन सामाजिक दशा का सचित्र चित्रण प्रस्तुत होता है ।[1]

इस काल में भी मनु द्वारा निर्देशित सभी विधि-विधानों वर्ण धर्म के नियमों आपत्कालीन कर्मों को याज्ञवल्क्य स्मृति द्वारा प्रामाणिकता प्राप्त हुई, ऐसा संभव है कि मनु बाद के स्मृतिकारों के आदर्श पुरुष रहे हो ।[2] नारद स्मृति में प्रत्येक वर्ण के कार्यों का स्पष्ट रूप से दो भागों में विभाजन किया गया,[3] एक तो वे जो धनोत्पादक नहीं हैं दूसरे वे जो धनोत्पादक हैं । जहाँ तक वर्णों के कर्तव्यों का प्रश्न है उनमें कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई । परन्तु कालान्तर में 300 ई० से सामान्तवाद की प्रथा का उत्कर्ष होने लगा । इसके साथ ही साथ ऐसी संभावना की जाती है कि क्षत्रियों में अभिजात्य शासक वर्ग का उदय हुआ होगा । संभवत: इन्हीं परिस्थितियों में वृहस्पति स्मृति में यह उल्लेख है कि क्षत्रिय का एक कर्तव्य कर वसूलना भी है । इस कर्तव्य का उल्लेख प्रारंभ की स्मृतियों में नहीं मिलता है ।[4]

इस काल में बहुत से ब्राह्मण और क्षत्रिय कृषि कार्य में लगे हुए थे । (जो धर्मसूत्रों के अनुसार आपत्कर्तव्य थे) इस कार्य को परिस्थितियों की वास्तविकता में परिणित करने के लिए पराशर ने अपने स्मृति (600ई०) में यह विधान बनाया कि ब्राह्मण अपने उक्त छ: कर्तव्यों के अतिरिक्त कृषि कर्म भी कर सकता है तथा क्षत्रिय भी खेती कर सकता है ।[5] इस प्रकार से हम

1- आर० एस० शर्मा - शूद्राज इन एंशियण्ट इण्डिया, पृ० 246

2- याज्ञवल्क्य स्मृति 1. 118 ; 3. 36-38

3- नारद स्मृति 2. 48-57 वैशेषिकं धनं ——————
—————— गरीयसी ।।

4- वृह० स्मृति 1.7. 11 त्रिविध क्षत्रियस्यापि प्राहुर्वैशेषिकं धनम् ।
युद्धोपलब्धं करतो दण्डश्च व्यवहारत: ।।

5- पराशर स्मृति 2. 2 षट् कर्म सहितो विप्र: कृषिकर्म्म च कारयेत् ।
2. 13 क्षत्रियोऽपि कृषिं कृत्वा देवान् विप्रांश्च पूजयेत ।

देखते हैं कि वर्ण धर्म कोई अचल आदर्श नहीं था जो सदैव एक समान रहा हो बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों के साथ-साथ इसमें भी कुछ परिवर्तन होना अनिवार्य था ।[1] संभवतः प्रारंभ में ये परिवर्तन आपद्धर्मों के कारण हुए होंगे किन्तु कुछ काल पश्चात परिस्थितियों के कारण उनको मूल वर्णधर्मों में शामिल कर धर्म के अन्तर्गत ग्रहित कर लिया गया हो ।

इसी समय चक्र परिवर्तनों के कारण आपद्धर्म, धर्म स्वरूप हो जाते हैं, उन्हें सामाजिक मान्यतायें मिल जाती हैं । इस मत्त की पुष्टि में महाभारत शान्ति पर्व के राजधर्म अनुशासन पर्व का श्लोक अति महत्वपूर्ण एवं विवेचनीय है कि " किसी समय धर्म ही अधर्म रूप हो जाता है और कहीं अधर्म रूप दिखनेवाला धर्म ही धर्म बन जाता है । इसलिए विद्वान पुरुष को धर्म और अधर्म का रहस्य अच्छी तरह समझ लेना चाहिए ।"[2] महाभारत में आपद्धर्मों के कई विवेचनीय दृष्टान्त प्राप्त होते हैं जैसे कई ब्राह्मण शस्त्र विद्या में निपुण थे जैसे कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, परशुराम[3] । महाभारत के युद्ध में पांडवों ने अपने गुरु को मार डाला जबकि सामान्य दशा में ब्राह्मण और गुरु अवध्य थे । ब्राह्मणों के विविध कर्मों का उल्लेख महाभारत के अनुशासन पर्व के 33वें अध्याय में वर्णित है जैसे - कुछ ब्राह्मण खेती और गोरक्षा से जीवन चलाते हैं, कुछ भिक्षा पर जीवन चलाते हैं, कितने ही चोरी करते हैं और कोई झूठ बोलते, दूसरे कितने ही नटो तथा नर्तकों का कार्य करते हैं, कितने ही ब्राह्मण राजाओं के यहां विविध प्रकार के कर्म करते हैं ।[4] ब्राह्मणों द्वारा

1- डा० पी०एच०प्रभु : हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, पृ० 308-312

2- महाभारत शा०प०राज०अनु० प० 33.32

अधर्मरूपो धर्मो हि कश्चिदस्ति नराधिप ।
धर्मश्चाधर्मरूपोऽस्ति तच्च ज्ञेयं विपश्चिता ।।

3- महा०अनु० प० आश्वमेधिक पर्व 29. 15

4- महा० अनु० प० 33. 12 कृषि गोरक्ष्यमप्येके भैक्ष्यमन्येऽप्यनुतिष्ठिता: ।
चौराश्चान्येऽनृताश्चान्ये तथान्ये नटनर्तका: ।।

,, 33. 13 सर्व कर्मसहाश्चान्ये पार्थिवेष्वितरेषु च ।
विविधाकारयुक्ताश्च ब्राह्मणा भरतर्षभ: ।।

कतिपय कार्यों का वर्णन उनके निम्नतम सामाजिक दशा का परिचायक है ।
आपद् वर्ण धर्म का एक अन्य रोचक उदाहरण महाभारत के द्वितीय खण्ड के विराट पर्व में दर्शित होता है । पाण्डव क्षत्रिय होते हुए भी अज्ञातवास के समय विराट नरेश के यहाँ विविध कार्य करते थे तथा द्रौपदी रानी होकर भी आपत्तिकाल में दासी रूप में विराट रानी सुदेष्णा का श्रृंगार करती थी ।[1] इस प्रकार वर्णों के आपत्कर्मों में विविधता दृष्टिगत होती है ।

ऐतिहासिक घटनाओं की दृष्टि से गुप्तकाल में ब्राह्मणों का काम केवल अध्ययन-अध्यापन ही नहीं बल्कि उनमें भी बड़े धनाढ्य और संभवतः व्यापारी से धन प्राप्त करनेवाले व्यक्ति थे । इस प्रकार ब्राह्मण अपने पैतृक कार्य (अध्ययन-अध्यापन) को छोड़कर व्यापार द्वारा धन संग्रह के कार्य में व्यस्त थे (जबकि धर्मसूत्रों में वर्णन था कि व्यापार ब्राह्मण की आपत्कालीन वृत्ति थी) । शूद्रक मृच्छकटिकम् नाटक से ज्ञात होता है कि आर्य चारुदत्त के पितामह बड़े भारी सेठ थे । इसमें ब्राह्मण पात्र की विशेषताओं में जुआ खेलना, दम्भ, माया, कपट, असत्य, धूर्तता और वेश्या वृत्ति का वर्णन है । आगे कहा गया है वसन्त सेना कहती है आर्य मैत्रेय तुम्हारे जुआरी (चारुदत्त) कहाँ है ।[2] इस प्रकार से यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों के भीतर भी छल कपट का प्रवेश हो गया था । ब्राह्मण युवकों में से अनेक का जीवन जुआ ,छल-कपट में बीतता था ।

बौद्ध धर्म में भी निकम्मे लोगों की भरमार थी । वैसे तो यह युग समृद्धि का था किन्तु इसमें संपन्नता से आनेवाली विलासिता तथा बुराइयों की भर मार थी । गुप्तकाल में शूद्र ब्राह्मणों के साथ बैठ सकते थे वे उनके धर्म कार्यों में भाग ले सकते थे क्योंकि ब्राह्मण वर्ण यह सोचता था कि उनके मतों को माननेवालों

1- महाभारत, द्वितीय खण्ड - वन पर्व, विराट पर्व, 2.7-12

2- शूद्रक - मृच्छकटिकम्, अंक 5, 36

साटोप कूटक पटानृत जन्मभूमे ---------------

--------------------- सिद्धिरस्तु ।

वसन्तसेना --- अज्ज मित्तेअ कहिं तुम्हाणं जूदिअरो ।

अनु० श्रीनिवास शास्त्री, साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, 1972,पृ० 218

की संख्या हो ।[1] इसके विपरीत कुछ कट्टरपंथी धारणाएँ भी समाज में विद्यमान थी । फाह्यान के विवरणों से ज्ञात होता है कि चाण्डाल जब नगर में या बाजार में प्रवेश करते थे तो लकड़ी से ढ्रम पीटना पडता था जिससे लोग सावधान हो जाय और अपवित्र होने से बच जाय वे चाण्डाल आखेटक मछुओं और कसाइयों का वर्ग था ।[2] इस प्रकार से शूद्रों के दो वर्ग थे (1) भोज्यान्न (2) अभोज्यान्न जो निर्वासित और अनिर्वासित श्रेणियों में विभक्त थे । प्रथम प्रकार के शूद्रों के यहाँ भोजन किया जा सकता था जो नगर में ही रहते थे दूसरे प्रकार के शूद्र नगर से बाहर रहते थे उनका छुआ भोजन अपवित्र समझा जाता था । अमरकोष में वर्णन है कि शूद्रों के कार्यों के आधार पर विविध वर्ग हो गये थे जैसे माला बनानेवाले, धोबी , कुम्भार, ईंट निर्माता ,जुलाहे, खनिक, रंगरेज, लुहार, हथियार बनानेवाले इसके अतिरिक्त ढ्रम बनानेवाले, बासुरी वीणा वादन करनेवाले, नर्तक तथा कलाकार आदि थे ।[3]

(600 ई० - 1200 ई०)

इस काल खण्ड के अन्तर्गत पुराणों की चर्चा की जायेगी वैसे डा० पी०वी०काणे का मत है कि कुछ पुराणों की रचना 600 ई० के पूर्व हो चुकी थी ।[4] अतः ऐसी संभावना व्यक्त की जा सकती है कि पुराण गुप्तकाल और वर्धनकालीन सामाजिक गतिशीलता के चित्रण करनेवाले माध्यम हैं । ऐतिहासिक दृष्टि से यह काल वर्धन वंश का था जिसकी तिथि (600 ई०-) है इसी काल खण्ड में मनुस्मृति के व्याख्याकार मेधातिथि (900 ई०) तथा याज्ञवल्क्य स्मृति के व्याख्याकार विज्ञानेश्वर (1200 ई०) थे जिन्होंने मिताक्षरा भाष्य लिखा, अल्बरुनी का यात्रा विवरण भी इसी काल की रचना है ।

1- घूर्ये, कास्ट एण्ड क्लास, पृ० 95

2- एन०के०त्यागी, प्राचीन भारतीय इतिहास,पृ० 328-329

3- अमरकोष II, 10.5-12

दृष्टव्य - आर०एस०शर्मा, शूद्राज इन एंशियण्ट इण्डिया,पृ० 267

4- डा० पी०वी०काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास, I, पृ० 49

पुराणों का अनुशीलन करने पर यह ज्ञात होता है कि पुराणों में भी वर्णों के आपत्कर्त्तव्यों की विस्तृत व्याख्या की गयी थी । विष्णु पुराण में यह वर्णन प्राप्त होता है कि ब्राह्मण आपत्तिकालीन अवस्था में क्षात्रियोचित कर्म अपना सकता है इसके अतिरिक्त क्षत्रिय तथा ब्राह्मण वैश्य के कर्मों का अनुसरण कर सकते हैं पर शूद्र का नहीं प्रस्तुत सन्दर्भ में इस बात पर बल दिया गया है कि यह अवस्था केवल आपत्काल के लिए थी, समर्थ होने पर पुनः अपने कर्म करना चाहिए ।[1] ऐसा ज्ञात होता है कि पुराणों का भी लक्ष्य व्यक्ति के कर्म संकरत्व जन्म संकरत्व को रोकने के लिए थे परन्तु तत्कालीन पौराणिक समाज में कतिपय कुछ ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उस समाज में जाति परिवर्तन होता था ।

कुछ पुराणों में उन विशिष्ट ब्राह्मणों का वर्णन है जिन्होंने क्षात्र धर्म स्वीकार किया था ।[2] विष्णु पुराण में कहा गया है कि नृप दुरुक्षय के पुत्र ने बाद में विप्रत्व स्वीकार किया था ।[3] क्षत्रा से उत्पन्न कक्षीवान के विषय में वर्णन प्राप्त होता है कि तपश्चर्या के कारण उन्हें ब्राह्मणत्व की प्राप्ति हुई थी ।[4]

1- विष्णु पुराण 3.8.40 गुणांस्तथापद्धमश्च विप्रादीनाभिमाश्रृणु ।
क्षात्रं कर्म द्विजस्योक्तं वैश्यकर्म तथापदि ।
राजन्यस्य च वैश्यस्योक्तं शूद्रकर्म न चैतयोः ।
सामर्थ्ये सति तत्त्याज्यमुभाभ्यामपि पार्थिव ।
तदेवापदि कर्त्तव्यं न कुर्यात्कर्मसंकरम ।।

2- विष्णु पुराण 4. 19 मुद्गलाच्च मौद्गल्याः क्षात्रोपेता द्विजातयो बभूव।
वायु० पुराण 88. 7 रथी तराणां प्रवराः क्षात्रोपेता द्विजातयः ।
ब्रह्माण्ड पुराण 3. 63 7 ,,
मत्स्य पुराण 144. 37 श्रुयते हि तपः सिद्धा ब्रह्मक्षात्रादयो नृपाः

3- विष्णु पुराण 4. 19. 26 तच्च पुत्रत्रितय पश्चाद्विप्रताभुपजगाम ।

4- वायु पुराण 99. 94 विधूय सानुजो दोषानुब्राह्मण्यं प्राप्तवान्प्रभुः ।
ब्रह्माण्ड पुराण 3. 74. 96

वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में वर्णन है कि बालि के पुत्र ब्राह्मण और क्षत्रिय दो प्रकार के वर्णों में विभक्त हुए ।[1] विष्णु तथा ब्रह्माण्ड पुराणों में आख्यात है कि गो वध के कारण नृपपुत्र पृषध्र शूद्रत्व को प्राप्त हुआ ।[2] विष्णु पुराण के अनुसार राजा त्रिशंकु नीच कर्म करने के कारण चाण्डालत्व को प्राप्त हुए थे ।[3] इस प्रकार से ज्ञात होता है कि उस काल में जाति निर्धारण में कर्म का स्थान न्यूनाधिक अंशों में विद्यमान था ।

पुराणों में कलिकाल का वर्णन प्राप्त होता है । कूर्म पुराण में कलिकाल की तिथि 700 ई०-800 ई० है । इसी के प्रसंग में 550 ई० के एक पल्लव शासक सिंह वर्मन के अभिलेख से ज्ञात होता है कि धर्म की कलिकाल के पापों से रक्षा करो, इसका तात्पर्य यह हुआ कि कलिकाल कोई बहुत पुराना काल नहीं है जब भारत में म्लेच्छों का प्रवेश हुआ और भारतीय सभ्यता में उनका शूद्र वर्णों के अन्तर्गत एकीकरण हुआ उसी समय से कलिकाल का वर्णन प्राप्त होता है । पुराणों में वर्णन है कि विदेशी ब्राह्मण और स्त्रियों को मारेंगे ।[4]

मत्स्य पुराण में वर्णन है कि कलियुग के ~~[illegible]~~ में विप्र अपने कर्मों से दूषित हो गये हैं और उनके ही कर्मों के दोषों के कारण प्रजाओं में भय उत्पन्न हो जाया करता है । मनुष्यों में हिंसा, मान, ईर्ष्या, क्रोध, असूया, अक्षमा, अधृति, लोभ और अतिशय मोह आदि अवगुण उत्पन्न

1- वायु पुराण 99. 29 बालेया ब्राह्मणश्चैव तस्य वंशकरा: प्रभो:
ब्रह्माण्ड पुराण 3.74.28
मत्स्य पुराण 48. 25

2- विष्णु पुराण 4.1.17 पृषध्रस्तु मनु पुत्रो गुरुगोवधाच्छूद्रत्व मगमत् ।
ब्रह्माण्ड पुराण 3.61.2 पृषध्रो हिंसयित्वा तु गुरोर्गां निशि तत्दाये ।
शापाच्छूद्रत्वमापन्नश्च्यवनस्य महात्मन: ।

3- विष्णु पुराण 4.3.21-23 यो ऽ सौ त्रिशंकुसंज्ञामवाप ।
स चाण्डालतामुपागतश्च ।।
दृष्टव्य डा० एस०एन०राय - पौराणिक धर्म एवं समाज ,पृ० 157-158

4- जायसवाल , हिस्ट्री आव इण्डिया, पृ० 151-52
दृष्टव्य - आर०एस०शर्मा - शूद्राज इन एंशियण्ट इण्डिया,पृ० 234

हो जाते हैं । इस कलियुग में अनेक संक्षोभ उत्पन्न हो जाया करता है । द्विजाति गण वेदों का अध्ययन नहीं करते और न वे भजन करते हैं । क्षत्रियों का वैश्यों से संबंध हो जाता है । शूद्रों का ब्राह्मणों के साथ मन्त्र और योनि का संबंध हो जाता है । इस घोर कलियुग में शूद्रों का ब्राह्मणों के साथ शयन आसन और भोजन का संबंध हो जाता है । राजा वर्ग में प्राय: शूद्रों की अधिकता होती है । चारों ओर पाखण्डी धूर्तों का समुदाय दिखायी देता है । सब का लक्ष्य केवल धर्मों का आडम्बर दिखाकर रोजी कमाना हुआ करता है । कलियुग में शूद्र लोग वेदों का अध्ययन करते हैं वे ही धर्म तथा अर्थ के विद्वान होते हैं । शूद्र योनि से समुत्पन्न राजा इस कलियुग में अश्वमेध यज्ञों के द्वारा भजन किया करते हैं । ये लोग गौ, स्त्री, बालकों का वधकर धन अपहरण करते हैं ———— इस कलियुग में समस्त वेद होकर भी नहीं हुआ करते अर्थात् वे निष्फल होते हैं, केवल धर्म के हेतु यज्ञ उत्सीदमान हुआ करते हैं ।[1]

जो ब्राह्मण पहले अवध्य थे कौटिल्य और मनु आदि शास्त्रकारों ने जिन्हें अन्य वर्णों की अपेक्षा हल्के दण्ड का विधान प्रणीत किया था उन्हीं ब्राह्मणों के लिए पुराणों ने शारीरिक दण्ड (वध) का विधान बनाया । कूर्म पुराण में वर्णन है यदि ब्राह्मण सुवर्ण की चोरी करे तो राजा उसे मूसल से मारे जिससे उसका चोरीपन का पाप दूर हो जाता है अन्यथा उसका पाप राजा को लगेगा ।[2] इस प्रकार यह काल ब्राह्मणों के पतन की दशा का परिचायक है ।

1- मत्स्य पुराण 57. 36-47 विप्राणां कर्म्म दोषैस्ते: प्राजानां जायते भयम् ----- उत्सीदन्ते तथा यज्ञा: केवलं धर्महेतव:
अनु० श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृत संस्थान, बरेली, 1971

2- कूर्मपुराण 32. 4,5,8. सुवर्णस्तेयन्दकृद् ------ भवाननुशास्त्विति ।
गृहीत्वा --------- ब्राह्मणस्तयसैव वा
शासनाद् ---------- किल्विषम् ।

ऐतिहासिक घटनाओं के कालक्रम में हर्षोत्तर काल में जातिप्रथा धीरे-धीरे कठोर होने लगी थी।[1] जाति व्यवस्था में कर्तव्यों पर नहीं अपितु जातियों के अधिकारों पर बल दिया जाने लगा था ।[2] मनुस्मृति के भाष्यकार मेधातिथि (900 ई०) ने वर्ण धर्म वाले श्लोक का भाष्य करते समय वर्ण को जाति के अर्थ में ग्रहण किया है तथा वर्णधर्म के प्रथम उदाहरण रूप में कर्तव्य नहीं अपितु जाति विशेष के अधिकार का निर्देश करते हुए वर्णन करते हैं कि ब्राह्मण को न मारना चाहिए । यह ब्राह्मण का अधिकार है और उन्हें सुरापान नहीं करनी चाहिए ।[3] यह भी उल्लेखनीय है कि मनु ने जहाँ पर शूद्र के लिए उच्च वर्णों की सेवा का ही कार्य बताया है वहीं मेधातिथि कहते हैं यह कार्य दृष्टान्त के लिए है और इससे शूद्र के दानादिक कार्यों का निषेध नहीं होता ।[4] एक अन्य स्थल पर भाष्यकार का मत है कि शूद्र व्याकरण का अध्यापक भी हो सकता है तथा यदि वह धन संपन्न होकर अनाश्रित होकर स्वतन्त्र जीवन यापन करे तब कोई दोष नहीं है ।[5] इस प्रकार से ब्राह्मणों और शूद्रों की दशा का जैसा चित्रण मेधातिथि ने किया है उससे और पुराणों के कथनों में साम्यता दृष्टिगत होती है । इससे यह सिद्ध होता है कि मनुस्मृति का भाष्य करते समय भाष्यकार के समक्ष सामाजिक परिस्थितियाँ सर्वथा बदल चुकी थी जिससे प्रभावित होकर उन्होंने मनु के आदर्श वचनों का संशोधित अर्थ समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया ।

1- डा० आर० सी० मजूमदार - एज आव इम्पीरियल कन्नौज, पृ० 371-72

2- के०वी०आर० आयंगर - सम आस्पेक्ट्स आँव हिन्दू व्यू आव लाइफ स्कार्डिंग टु धर्मशास्त्र, पृ० 112-113

3- मनु० 2. 25 पर मेधातिथि का भाष्य - वर्णधर्मः यथा ब्राह्मणो न हन्तव्यः ब्राह्मणो सुरा न पेयेति, जाति मामास्याऽऽत्याद्-च्छ्वासादेष धर्मः ।

4- मनु० 1.91 पर मेधातिथि का भाष्य

5- मनु० 8. 415 पर मेधातिथि का भाष्य - यदि शूद्रो विद्यमानधनः स्वातन्त्र्येव जीवेद ब्राह्मणाधनपाश्रितो न जातु दुष्येत् । न हि तस्य दानाधान क्रिया युज्यते ।

ग्यारहवीं सदी का विदेशी यात्री अल्बरुनी का मत है कि इस काल में ब्राह्मण कपड़े व सुपारियों के व्यवसाय में अपना भाग्य अजमा सकता है किन्तु उत्तम यह है कि वह इसके लिए वैश्य को रखे स्वयं व्यापार न करे क्योंकि व्यापार में झूठ व धोखा होता है जो ब्राह्मणों के लिए वर्जित है । वह आगे कहता है कि गाय, घोड़ा आदि पशुओं का व्यापार करना ब्राह्मणों के लिए निषिद्ध है ।[1]

बारहवीं सदी ईसवी में विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य स्मृति पर मिताक्षरा नामक भाष्य लिखा था । उस समय ब्राह्मण अपने निश्चित कर्तव्यों के अतिरिक्त बहुत से अन्य कर्तव्यों का पालन करने लगे थे तथा कुछ अपने आचार से च्युत भी हो गये थे फलतः भाष्यकारों ने ब्राह्मणों का उनके वास्तविक कर्तव्य और आचार के आधार पर निम्नलिखित रूप से विभाजन किया -[2]

।1। देव

।2। मुनि

।3। द्विज

।4। राज

।5। वैश्य, व्यापारी एवं पशुपालक

।6। शूद्र : युद्ध जीवी

।7। मार्जार निर्दयी

।8। पशु गन्दे रहनेवाले

।9। म्लेच्छ, मन्दिरों को गन्दा रखनेवाले

।10। चाण्डाल, धर्म विमुख वेद अध्ययन रहित तथा संध्या न करनेवाले ।

1- अल्बरुनी का भारत, भाग ।।, पृ० 132

दृष्टव्य - जयशंकर मिश्र, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० 134

2- डा० बी०एन०एस०यादव - सम आस्पेक्टस आव सोसाइटी इन नार्दर्न इण्डिया इन द ट्वेल्थ सेंचुरी ए०डी०, पृ० 71-72

इस सम्बन्ध में कुछ ऐतिहासिक प्रभाव भी मिलते हैं । बंगाल के राजा बल्लालसेन ने व्यापार करनेवाले ब्राह्मणों को जातिच्युत कर दिया था ।[1]

इस प्रकार से सामाजिक गतिशीलता में आपद् वर्णधर्मों का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रहा है । यह धर्म को सुसंचालित करनेवाले द्वितियक माध्यम थे, धर्म के अवरुद्ध गति को क्रियान्वित करने में आपद्धर्मों की महत्वपूर्ण भूमिका विविध कालों में विविध रूपों में दृष्टिगत होती है ।

1- डा० आर० सी० मजूमदार - हिस्ट्री आँव बंगाल, पृ० 116, 340.

। ५ ।   **प्राचीन भारतीय सामाजिक गतिशीलता में आपद्स्त्री-धर्म के योगदान का ऐतिहासिक विश्लेषण**

प्रस्तुत शोध ग्रंथ के तृतीय अध्याय में ' ब ' व ' स ' खण्डों के अन्तर्गत आपद् स्त्री धर्म और आपद् कुल धर्म की चर्चा की जा चुकी है । प्रस्तुत अध्याय में प्राचीनकालीन समाज में नारी के स्थान व सामाजिक गतिशीलता में उसके आपद्धर्मों के योगदान का ऐतिहासिक तिथि क्रमागत विश्लेषण किया गया है । जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि समाज का एक अंग यदि पुरुष है तो दूसरा अंग स्त्री । बिना स्त्रियों के सहयोग के समाज का निर्माण हो ही नहीं सकता । स्त्री ही कुल निर्मात्री होती है जिस पर पुरुष अपने नाम व वंश की मुहर अंकित करता है । समय असमय के चक्र का सामना पुरुषों की भांति स्त्रियों को भी करना पड़ता है उनका भी समाज की गतिशीलता में सक्रिय योगदान रहता है उनके आपद्धर्म समाज को गति प्रदान करते हैं जैसे - विधवा विवाह, नियोग प्रथा (सति प्रथा) आदि उनके आपत्कर्तव्य थे.जो तत्कालीन समाज में प्रचलित थे । इस अध्याय में इन्हीं विषयों का ऐतिहासिक तिथिक्रम के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण किया गया है ।

4000 ई०पू० से 500 ई०पू०

डा० काणे का विचार है कि ऋग्वेद अथर्ववेद एवं तैत्तरीय संहिता तथा ब्राह्मण की कुछ ऋचाएं 4000 ई०पू० से पहले की हैं ।[1] किन्तु ए०एस०अल्टेकर ने ऋग्वेद को 2500 ई०पू० से 1500 ई०पू० तथा उत्तर संहिताएं ब्राह्मण ग्रंथों और उपनिषदों को 1500 ई०पू० से 500 ई०पू० के अन्तर्गत रखा है ।[2]

इस काल में ऋग्वैदिक समाज का जो चित्रण किया गया है वह बहुत ही उन्मुक्त था कोई जटिलता नहीं थी न ही कोई बन्धन था । इस समय

1- डा० पी०वी०काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ० 14

2- ए० एस० अल्टेकर - द पोजीशन आव वूमेन इन एंशियण्ट इण्डिया,पृ० 337

पुरुष स्त्री से बलवान समझा जाता था । वह जानवरों और दुश्मनों से युद्ध करके स्त्री और बच्चों की रक्षा करता था । मेहनत कर अन्न उत्पन्न करता था । शारीरिक दृष्टि से बलवान होने के कारण स्त्री के ऊपर भी उसकी प्रभुता थी । इस काल में स्त्रियों को न कोई सुविधा थी और न ही कोई अधिकार प्राप्त था । वे पुरुषों से उसकी सहयोगी समझी जाती थी ।

डा० अल्टेकर ने उस काल के स्त्रियों की समझता ग्रीक और एथेंस की स्त्रियों से की है । उनका मत है कि उस समय ग्रीक में भी यही प्रथा थी । एक लेखक का व्यंग्य है - ऐथेंस में औरतें उस समय सब्जियों के तरह थी । स्पार्टा में भी पुरुष जानवरों से थोड़े सभ्य थे । प्राचीन रोम का यह नियम था कि पुरुष का अधिकार अपनी पत्नी की उंगुलियों पर था । फिलिस्तीन में स्त्रियां धन सम्पदा समझी जाती थी जिन्हें खरीदा बेचा जा सकता था ।[1]

वैदिक समाज में स्त्रियों की दशा इन सब से अच्छी थी । लड़के लड़कियों की अपेक्षा अधिक अच्छे समझे जाते थे । लड़कियां भी ब्रह्मचर्य धारणकर शिक्षा प्राप्त करती थी । 16, 17 वर्ष पर विवाह होता था । वे समाज में स्वतंत्रतापूर्वक घूम सकती थी । विवाह एक धार्मिक आवश्यकता थी बिना उसके वे स्वर्ग नहीं प्राप्त कर सकती थी ।[2]

यदि वे विधवा हो जाती तो स्वेच्छा से दूसरा विवाह कर सकती थी। ऋग्वेद में एक स्थल पर वर्णन है - ऐ स्त्री उठो तू उसके लिए विलाप कर रही हो जो मृत्यु को प्राप्त हो चुका है । तू नये पति का वरण करो, जो तुझे स्वीकारने के लिए तैयार है ।[3] वे नियोग अपना सकती थी । उनका कोई धन नहीं था , न ही वे पैतृक धन पा सकती थी । भारत में आर्य धीरे-धीरे अपना

1- डेविस - ए शार्ट हिस्ट्री आॅव वूमेन, पृ० 172

2- दृष्टव्य डा० अल्टेकर - द पोजीशन आव वूमेन, 337

3- ऋग्वेद 10.18.8 उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोक गतासुमेतमपु शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि स बभूथ ।।

विस्तार कर रहे थे वे ही नियमों के आदि प्रणेता थे अपनी जनसंख्या बढ़ाने के लिए वे ही नियम बनाते थे नियोग और विधवा पुर्नविवाह भी उनमें से एक था । जो ऋग्वैदिक समाज में प्रचलित था ।[1]

प्रो० इन्द्रा ने वैदिक काल में स्त्रियों के स्तर निर्धारित करते समय ऐसी व्याख्या की है कि उस काल में भी स्त्रियों की दशा कोई बहुत अच्छी नहीं रही होगी क्योंकि ऋग्वेद में कहीं-कहीं स्त्रियों के सम्मान के विपरीत व्याख्यान उपलब्ध होते हैं जैसे एक स्थल पर वर्णन है कि राज ऋषि पुरुरवा कहते हैं कि उर्वशी स्वयं अपने लिंग की यातना भुगतेगी औरतों में हृदयहीनता होती है । उनकी कोई चिर मैत्री नहीं होती ।[2] प्रो० लुडविग का मत है कि वैदिक युग में स्त्रियां युद्ध के पुरस्कार के रूप में ग्रहण की जाती थी । विजय के बाद स्त्रियों का बंटवारा युद्ध की सामग्रियों की भांति होता था । विजेता पक्ष के कैम्पों में वे सुसज्जित व अलंकृत अवस्था में पहुंचायी जाती थी ।[3]

अथर्ववेद का विश्लेषण करते हुए डा० राजक्षत्र मिश्र का मत है कि तत्कालीन समाज में पुत्री का जन्म पुत्र की अपेक्षा निश्चित रूप से अच्छा नहीं समझा जाता था क्योंकि इस काल में पुत्र प्राप्ति के लिए एक संस्कार विशेष का प्रचलन हुआ जिसे पुंसवन संस्कार कहा जाता था । उसमें कहा गया है कि प्रजापति अनुमति और सिनीवाली तुम्ही ने इस गर्भ को बनाया है । स्त्री का जन्म कहीं और हो परन्तु इस गर्भ में पुरुष संतति आवे ।[4] गर्भ संरक्षण के विषय में कहा गया है कि

1- डा० अल्टेकर - द पोजीशन आव वूमेन इन एंशियण्ट इण्डिया, पृ० 339

2- ऋग्वेद 10.95.15 पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उक्षन् ।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता ।।

3- ऋग्वेद 8.46.33 अध स्या योषणा मही प्रतीची वशमश्व्ययम् ।
अधिरुक्मा वि नीयते

दृष्टव्य प्रो० इन्द्रा - द स्टेटस आव वूमेन इन एंशियण्ट इण्डिया, पृ० 9

4- अथर्ववेद 6. 11.3 प्रजापतिरनुमति: सिनीवाल्यचीक्लृपत् ।
स्त्रैषूयमन्यत्र दधत्पुमांसमु दधादिह ।।

दृष्टव्य - डा० राजक्षत्र मिश्र - अथर्ववेद में सांस्कृतिक तत्व, पृ० 65 ।

हे पति उत्पन्न होनेवाले पुत्र की रक्षा करो उसे स्त्री न बनाओ[1] लेकिन जन्म के बाद कहीं भी पुत्री फेंकने का प्रकरण नहीं प्राप्त होता है ।

स्त्रियों को कुल रक्षक समझा जाता था । अथर्ववेद में एक स्थल पर वर्णन प्राप्त होता है कि हे राजन यह कन्या तुम्हारी वधू बने, यह तुम्हारे कुल की रक्षा करनेवाली है । हम इसे तुम्हें प्रदान करते हैं ।[2] सन्तान उत्पन्न करने के कारण माता को जनित्री कहा जाता था ।[3] पुत्र को जन्म देनेवाली माता का समाज में श्रेष्ठ स्थान था ।[4] राजा के घर में पुत्रों को जन्म देनेवाली स्त्री को महिषी का पद मिलता था ।[5] पत्नी पति के साथ शान्ति प्रिय वचन बोलती हुई प्रदर्शित की गयी है ।[6] वह वर के साथ सामाजिक उत्सवों में भाग लेती थी ।[7] और वह विदथ नामक संस्था में भाषण भी करती थी ।[8] इससे ज्ञात होता है कि पर्दा प्रथा नहीं थी । स्त्रियां सभाओं में भाषण कर सकती थी तथा सामाजिक उत्सवों में स्वतन्त्रता पूर्वक भाग ले सकती थी । इस काल में भी विधवा विवाह का प्रचलन था, नियोग प्रथा थी । अथर्ववेद में एक स्थल पर वर्णन प्राप्त होता है कि - मृत पति को प्राप्त होकर पुन: पतिगृह को चाहती हुई विधवा स्त्री नियोग विधि द्वारा हे जीवित पुरुष तुझे प्राप्त होती है, इस विधवा स्त्री के लिए तू इस गृहस्थलोक में प्रजोत्पादन कर इस विधवा में उत्तम धन वीर्य का आधान कर ।[9] इस प्रकार के कृत्यों को तत्कालीन समाज में पुराण धर्म की संज्ञा दी गयी थी ।

1- अथर्ववेद 8.6.25 - पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन् ।

2- ,, 1.14.2,3 एषा ते राजन्कन्या वधूर्नि धूयतां यम ।
एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परिदद्मसि ।

3- ,, 6.110.3 स मा वधीत्पितरं वर्धमानो मा मातरं प्रमिनीज्जनित्रीय ।

4- ,, 3.23.3 पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान ।

5- ,, 2.36.3 सुवाना पुत्रान्महिषी भवाति ।

6- ,, 3.30.2 जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ।

7- ,, 2.36.1 जुष्टा वरेषु समनेषु ।

8- ,, 14.1.20 गृहान गच्छ गृहपत्नी यथासो त्वं विदथमा वदासि ।

9- ,, 18.3.1 इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्यप्रेतम् -
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ।

ब्राह्मण ग्रंथों के काल में लड़कियों का भी उपनयन होता था । उन्हें उच्च शिक्षा दी जाती थी । शतपथ ब्राह्मण में गार्गी के विद्वता का वर्णन प्राप्त होता है, वह कहती है कि मैं याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न करना चाहती हूँ यदि वह उत्तर दे देगा तो अजय रहेगा नहीं तो इसका सिर पतित हो जायेगा ।[1] इस काल में भी वीर पुत्रों की कामना ज्यादे की जाती थी । उन्हें लड़कियों से ज्यादे अच्छा समझा जाता था । एक स्थल पर वर्णन है तू मित्रवरुणी इडा है । तूने वीरों में वीर को उत्पन्न किया है सो तू वीर वती हो तू ने हमको वीर युक्त किया है ।[2] कहीं-कहीं पर वीर पुत्र तथा विद्वान पुत्री दोनों की ही समान रूप से कामना की गयी है । उनके उत्पन्न होने की विधियों की चर्चा है ।[3]

(1500 ई०पू० से 500 ई०पू०) धीरे-धीरे स्त्रियों की शिक्षा में गिरावट आयी क्योंकि गुरुकुल में उनका जाना बन्द हो गया । घर पर ही पिता भाई या चाचा उन्हें शिक्षा देते थे । सभ्य शिक्षित उच्च वर्ग के परिवारों में स्त्रियां वैदिक प्रार्थना कर सकती थी, पति जब बाहर गया हो (व्यवसाय, शिक्षा के लिए) तो उसकी अनुपस्थिति में उनके ओर से यज्ञ भी कर सकती थी जैसे रुद्रयज्ञ, सीतायज्ञ ।

विवाह में स्वयंवर प्रथा क्षत्रियों में थी । विवाह विच्छेद भी हो सकता था । आज्ञा की आवश्यकता नहीं थी । सति प्रथा अज्ञात थी । विधवा विवाह देवर या परिवार के बाहरी व्यक्ति से भी हो सकता था । पर्दा प्रथा नहीं थी फिर भी स्त्रियों का स्थान घर के अन्दर ही था । वे बाहर विशेष अवसरों पर जाती थी । स्त्रियों को समाज में सम्माननीय स्थान प्राप्त था । परिवार में शांति तथा युद्ध में विजय में के लिए उनका सहयोग आवश्यक था । इस समय औरतें खेती,

---

1- शतपथ ब्राह्मण - 14.6.8.1 अथह वाचक्नव्युवाच -------- गार्गीति ।

2- शतपथ ब्राह्मण - 14.9. 4. 27 अथास्य मातरमभिमन्त्रयते ----------
-------- यास्मान्वीरवतोऽकरदिति ।

3- ,, - 14. 9. 13-16.

युद्ध के अस्त्र-शस्त्र धनुष बाण और वस्त्र निर्माण में सक्रिय सहयोग देती थी ।

ग्रीक समाज में 1000 ई०पू० होमर काल में स्त्रियों को ज्यादे सम्मान प्राप्त था । अपेक्षाकृत पेरिक्लिज युग (500 ई०पू०) के जिसका प्रमुख कारण था कि होमर काल में स्त्रियाँ समस्त घर के कार्य करती थी, पुरुषों के समान परिश्रमी थी, ग्रीक के वस्त्र व्यवसाय उन्हीं के संरक्षण में पनपते थे । घर के प्रमुख कार्यों में वस्त्र धोना, पानी भरना, खाना पकाना, उनका प्रमुख कार्य था, किन्तु पेरिक्लिज युग में दासों का एक संघ बन गया तथा समस्त घरेलू कार्य उन्हीं से कराया जाता था जिसके परिणाम स्वरूप धीरे-धीरे समाज में स्त्रियाँ अपने कार्य तथा सम्मान दोनों ही खोने लगी ।

नियोग और पुर्न विवाह इस काल में भी था । हिटलर और मुसोलिनी की तरह से वैदिक मुखिया भी विधि-निर्माता थे जिनका लक्ष्य था ज्यादे से ज्यादे वीरों को पैदा करना । ऐसी लोकोक्ति है कि वैदिक आर्य 10 पुत्रों की कामना करते थे । आर्यों का लक्ष्य अनार्यों को समाज से बहिष्कृत करने का था । सती प्रथा थी ही नहीं क्योंकि वैदिक आर्य विधवा पुर्न विवाह नियोग आदि के माध्यम से प्रजोत्पादन के पक्ष धर थे । धार्मिक कार्यों के लिए भी स्त्री की आवश्यकता थी बिन उसके यज्ञ अपूर्व समझा जाता था ।[1]

<u>500 ई०पू० - 500 ई०</u>

यह काल धर्मसूत्रों, बौद्ध जैन ग्रंथों कौटिल्य अर्थशास्त्र मनुस्मृति तथा महाकाव्यों का था । इन्हीं ग्रंथों के परिप्रेक्ष्य में इस काल की नारी दशा और उनके आपद्धर्मों का चित्रण किया गया है ।

(600 ई०पू० से 300 ई० पू०) इस काल में धर्मसूत्रों का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में अंर्तजातीय विवाहों, नियोग, विधवा पुर्न विवाहों का प्रचलन बड़े जोर शोर से था, इसके फलस्वरूप विविध अर्न्तजातियों

1- डा० ए० एस० अल्टेकर - द पोजीशन आव वूमेन इन एंशियण्ट इण्डिया, पृ0341-42

उप जातियों का प्रादुर्भाव हुआ तथा इस काल में वर्ण व्यवस्था कर्मगत से जन्मगत हो चुकी थी । सभी धर्मसूत्रकारों ने वर्णसंकर सन्तानों को वर्ण व्यवस्था में ग्रहित करने के लिए उनकी अलग-अलग जातियों का निर्धारण कर उन्हें सामाजिक व्यवस्था में वैधता प्रदान किये ।

गौतम धर्मसूत्र में वर्णन है कि यदि पति विहीन नारी पुत्र की अभिलाषा रखे तो अपने देवर द्वारा पुत्र प्राप्त कर सकती थी । किन्तु उसे गुरुजनों से आज्ञा लेनी चाहिए और संभोग केवल ऋतुकाल में करना चाहिए । जब देवर न होतो वह सपिण्ड सगोत्र , स-प्रवर या अपनी जाति वाले से पुत्र प्राप्त कर सकती है ।[1] ऐसी दशा में वह दो से अधिक पुत्र नहीं प्राप्त कर सकती । बाद के धर्मसूत्रों में भी इसी मत को प्रामाणिकता दी है । बौधायन ने पौनर्भव पुत्र उस स्त्री के पुत्र को कहा है जो नपुंसक या जातिच्युत पति को छोड़कर अन्य पति करती हो ।[2] आपस्तम्ब धर्मसूत्र में भी इसी प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है कि पति के कुल में प्रवेश करनेवाली (पति के गोत्र वाली) स्त्री को दोत्रज पुत्र की इच्छा से उस गोत्र से भिन्न गोत्रवाले पुरुष से नियोग संबंध नहीं करना चाहिए अर्थात् भरसक देवर या सगोत्री से ही नियोग करे क्योंकि कन्या एक कुल को दी जाती है ।[3] इसी प्रसंग में विविध वर्ण संकर सन्तानों का वर्णन भी विवेचनीय है जिसकी विस्तृत व्याख्या तृतीय अध्याय के (ब) व (स) खण्डों के अन्तर्गत की जा चुकी है ।

कौटिल्य अर्थशास्त्र (300 ई०पू० से 100 ई०) में भी नियोग प्रथा के प्रचलन के साक्ष्य प्राप्त होते हैं ।[4] ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह मौर्य

1- गौतम धर्मसूत्र 18 .4 .8 अपतिरपत्यलिप्सुर्देवरात् । गुरु प्रसूता नर्तुमतीयात् । पिण्ड गोत्रर्षिसम्बन्धेभ्यो योनिमात्राद्वा । नादेवरादित्येके नातिद्वितीयम् ।
डा० उमेश चन्द्र पाण्डे, चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी ।

2- बौधायन 2. 2 13

3- आप० धर्मसूत्र 2. 26. 2-3 सगोत्र स्थानीया न परेभ्यसमाच क्षीत । कुलाय हि स्त्री प्रदीयत इत्युपदिशान्ति ।।

4- कौटिल्य अर्थशास्त्र 62.6.4 दोत्रे वा जनयेदस्य नियुक्त: क्षेत्रजं सुतम् ।

काल था (4 शताब्दी ई०पू०) इस काल के पूर्व यूनानियों का भारत पर आक्रमण हो चुका था वे भारतीय सामाजिक व्यवस्था में धुल मिल रहे थे ऐसे समय में राजनीतिशास्त्र के प्रकाण्ड पंडित आचार्य कौटिल्य ने विविध नियमों का सृजन कर उन विदेशियों को भी भारतीय समाज में ग्रहित किया ।

विविध प्रकार के वर्ण संकर सन्तानों की कोटियां कौटिल्य अर्थशास्त्र में प्राप्त होती है । अन्तर्जातिय विवाहों के परिणामस्वरूप विविध जातियों उपजातियों का सृजन हुआ जो सवर्ण या अन सवर्ण दोनों ही प्रकार के हो सकते थे इनसे अम्बष्ठ, निषाद, पारशव, उग्र, क्षुद्र, आयोगव, चण्डाल, रथकार, वैदेहक, मागध, सूत, कुक्कुट, कुशीलव आदि थे ।[1] इसका विस्तृत वर्णन पिछले अध्याय 3 स ` खण्ड में किया जा चुका है । तत्कालीन समाज में पुत्र न होने की अवस्था में पुरुष दूसरा विवाह कर सकता था[2] तथा स्त्री पुरुष परस्पर विवाह विच्छेद भी कर सकते थे । विवाह विच्छेद दोनों पक्षों में पारस्परिक विद्वेष होना आवश्यक था । किसी एक के सहमति से छुटकारा नहीं मिल सकता था ।[3]

चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में स्त्रियों को दण्ड देने का भी विधान बनाया था । उनके अनुसार दाम्पत्य नियमों का उल्लंघन करनेवाली स्त्री को पहले नंगी, अधनंगी, लूली, लंगड़ी, मां मरी, बाप मरी आदि गालियां न देकर उसे भले ढंग से नम्रता तथा सभ्यता सिखानी चाहिए यदि इससे कार्य न सधे तो उसकी पीठ पर बांस की खपाची, रस्सी तथा हथ्पण से तीन बार चोट करे फिर भी वह सीधी राह पर न आये तो वाक्पारुष्य या दण्डपारुष्य का आधा दण्ड दिया जाय ।[4]

1- कौटिल्य अर्थशास्त्र 3.63.7.7-8 ब्राह्मणस्य वैश्यायामम्बष्ठ ------ वैश्यस्य वैश्यान्मागध -------- ---- रथकार:
अनु० वाचस्पति गैरोला, पृ० 283-284

2- कौटिल्य अर्थशास्त्र 3.58.2.6.7
अनु० वाचस्पति गैरोला, पृ० 264

3- कौटिल्य अर्थशास्त्र 59.3.5 अमोक्ष्या ---------- द्वेषान्मोक्ष:

4- ,, ,, 59. 3. 4 नग्ने विनग्ने न्यङ्गे अपितृके अमातृके इत्यनिर्देशेन विनयग्राहणम । वेणुदल रज्जुहस्तानां अन्यतमेन वा पृष्ठे त्रिराघात: । तस्यातिक्रमे वाग्दण्डपारुष्यदण्डाभ्यामर्धदण्डा: ।

दृष्टव्य - प्रो० इन्द्रा : द पोजीशन आव वूमैन इन एंशियण्ट इण्डिया, पृ० 16 स्टेट्स

अर्थात् – इस काल में स्त्रियों के साथ भी दण्ड विधान था । उन्हें कड़े अनुशासन में रहना पड़ता था ।

मनुस्मृति का काल 200 ई० पू० से 200 ई० तक का था । इस काल में से मनु ने समाज के कुछ आदर्श निर्धारित किये जिससे नियोग की स्वच्छन्दता पर अंकुश लगा ।

मनु का मत था कि छोटा भाई बड़े भाई के स्त्री को गुरुपत्नी के समान तथा बड़ा भाई छोटे भाई की स्त्री को पुत्रवधू के तुल्य माने यह ऋषियों का मत है ।[1] बड़ा भाई छोटे भाई की स्त्री के साथ और छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री निरापद स्थिति में नियुक्त होकर यदि समागम करे तो वह पतित होता है ।[2] द्विजातियों की विधवा स्त्री का नियोग दूसरे से नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से वह सनातन धर्म (पतिव्रता धर्म) का नाश हो जाता है ।[3] यहाँ पर यह विवेचनीय तथ्य है कि अथर्ववेद[4] में नियोग को एक स्थल पर पुराण धर्म, सनातन धर्म कहा गया है और मनु ने इसे जघन्य माना और नियोग को सनातन धर्म का नाश करनेवाला बताया । अर्थात् धर्म की परिवर्तन शीलता युगानुरूप हो रही थी । मनु का पुन: यह मत है कि विवाह के वेदोक्त मंत्रों में नियोग कहीं नहीं लिखा है और न तो विवाह विधायक शास्त्रों में ही कहीं विधवा विवाह का उल्लेख है ।[5] ऐसा संभव है कि उस समय के प्रचलित समाज में उच्च वर्णों में यह प्रथा निन्दनीय हो गयी हो क्योंकि मनु का मत है कि विद्वान ब्राह्मणों ने इस पशु धर्म की अत्यन्त

1- मनुस्मृति 9.57 भ्रातुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्न्यनुजस्य सा ।
यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ।।

2- ,, 9.58 ज्येष्ठो यवीयसो भार्यां यवीयान्वाग्रजस्त्रियम् ।
पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ।।

3- ,, 9.64 नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभि: ।
अन्यस्मिन्हि नियुञ्जाना धर्मं हन्यु: सनातनम् ।।

4- अथर्ववेद 18.3.1

5- मनुस्मृति 9.65 नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोग: कीर्त्यते क्वचित ।
न विवाह विधावुक्तं विधवावेदन पुन: ।।

निन्दा की है, मनुष्यों में भी वेनराजा के समय से यह पशु धर्म प्रचलित हुआ है ।[1] उस समय से जो लोग विधवा स्त्री को सन्तानोंत्पत्ति के लिए नियुक्त करते हैं उनकी अच्छे लोगों की मण्डली में निन्दा होती है ।[2] किन्तु मनु ने भी दूसरे विवाह को समर्थन दिया है । उनका मत है कि वाग्दान हो जाने के बाद जिस कन्या का पति मर जावे ऐसी कन्या के साथ (आगे वर्णित विधि के अनुसार) उसका देवर विवाह करे ।[2ए]

ऐतिहासिक तिथि क्रम से यह काल ब्राह्मण वंशों का था । (185 ई0 पू0- 78 ई0पू0) जिसमें शुंग सातवाहन कण्व प्रमुख थे । इसी काल में आक्रमण भी हुए थे । ब्राह्मणों की पवित्रता को ध्यानगत करते हुए ही मनु ने नियोग प्रथा की भर्त्सना की, साथ ही साथ उन्होंने अंर्तजातीय विवाहों की भी निन्दा की है । मनु का मत है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय को सर्वथा स्त्री न मिलने पर भी शूद्रा का स्त्री बनाने का किसी भी इतिहास में आदेश नहीं पाया जाता ।[3] जो द्विज मोहवश हीन जाति (शूद्र) की कन्या से विवाह करते हैं वे सन्तान सहित अपने वंश को शीघ्र शूद्र बना देते हैं ।[4] शूद्रा से ब्याह करनेवाला ब्राह्मण पतित होता है यह अत्रि और उतथ्य पुत्र गौतम का मत है । शूद्रा से पुत्रोत्पन्न होने पर क्षत्रिय क्षत्रियत्व से गिर जाता है । यह शौनक का मत है । इसी प्रकार शूद्रों से सन्तान होने पर वैश्य भी पतित होता है ऐसा भृगु का मत है ।[5] ब्राह्मण शूद्रा के साथ शयन

1- मनुस्मृति 9.66 अयं द्विजैहि ------------------ प्रशासति ।।

2- ,, 9.68 तत: प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम् ।
नियोजयत्यपत्यार्थं तं निगर्हन्ति साधव: ।।

2ए - ,, 9.69 यस्या म्रियते कन्याया वाचा सत्ये कृते पति: ।
तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवर: ।।

3- ,, 3.14 न ब्राह्मण क्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतो: ।
कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते ।।

4- ,, 3.15 हीन जातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातय: ।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससंतानानि शूद्रताम् ।।

5- ,, 3.16 शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च ।
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगो: ।।

करने से अधोगति (नरक) को जाता है और उससे पुत्र उत्पन्न करके ब्राह्मणत्व से भी रहित हो जाता है ।[1]

यहां यह तथ्य विवेचनीय है कि वाह्य जातियां शूद्र वर्ण के अन्तर्गत भारतीय सामाजिक व्यवस्था में ग्राहित हुई थी । अतः मनु ने निम्न वर्ग की स्त्रियों से उच्च वर्ण के पुरुषों को सावधान करने के लिए इन नियमों की परिकल्पना की थी जिससे उनके वर्ण की शुद्धता व पवित्रता बनी रहे ।[2] इसी व्यवस्था को प्रामाणिकता देने के लिए मनु ने यह भी नियम बनाया कि यदि एक ही माता-पिता से उत्पन्न अनके भाइयों में से यदि एक ही भाई पुत्रवान हो तो उसी एक ही पुत्र से सभी पुत्रवान होंगे तथा इसी प्रकार सभी सपत्नियों में से यदि एक को ही पुत्र हो तो उसी से सभी पत्नीयां पुत्रवती होंगी ।[3]

उस काल में स्त्रियों की दशा बहुत अच्छी नहीं थी । मनु का मत है कि ब्रह्मा जी ने स्त्रियों का ऐसा स्वभाव बनाया है कि पुरुष को सदैव स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिए ।[4] सृष्टि में शैय्या आसन आभूषण, काम, क्रोध, कुटिलता द्रोह और दुराचार स्त्रियों के लिए ही परिकल्पित हुये ।[5] ये समाज में पुरुषों द्वारा ही जानी जाती थी । अधम योनि में उत्पन्न होनेवाली अक्षमाला और सारंगी क्रम से वशिष्ठ और मन्दपाल के साथ ब्याह होने से परम पूज्य हुई थी ।[6]

1- मनुस्मृति 3. 17 शूद्रां शयन मारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम् ।
अनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ।।

2- डा० ए०एस०अल्टेकर - द पोजीशन आव वूमेन इन एंशियण्ट इण्डिया, पृ० 345

3- मनुस्मृति 9. 182,183 भ्रातृणामेकजातानामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत् --------
------------------ पुत्रवतीर्मनुः ।।

4- ,, 9.16 एवं स्वभावं ज्ञात्वाऽसां प्रजापतिनिसर्गजम् ।
परम यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति ।।

5- ,, 9.17 शय्यासनमलंकार कामं क्रोधमनार्जवम् ।
द्रोह भावं कुचर्यां च स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ।।

6- ,, 9.23 अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा ।
शारंगी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ।।

मनु ने स्त्रियों के दण्ड की भी व्यवस्था की थी । यदि स्त्री, पुत्र, नौकर, दूत और सगे भाई लोग यदि कोई अपराध करें तो रस्सी या बांस की पतली छड़ी से ताड़ना देनी चाहिए ।[1]

प्रो० इन्द्रा ने स्त्रियों की दशा का वर्णन करते हुए इनकी तुलना ईसाई ग्रंथों से की है । ईसाई ग्रंथों में भी लगभग इसी प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है । जेनेसिस मिस हेकर ने अपनी पुस्तक ए शार्ट हिस्ट्री आव वूमेन्स राइट (पृ० 10) में कहा कि स्त्रियां ही मानवता के पतन का कारण है । सैंट जेम्स का मत है कि सभी दुर्गुण स्त्रियों से आते हैं । सैंट आगस्टिन ने कहा कि ईश्वर ने पुरुषों को कल्पना कर बनाया स्त्रियों को नहीं । स्त्री को पुरुष पर कभी भी शासन नहीं करना चाहिए न हो उन्हें कोई अधिकार या सुरक्षा मिलनी चाहिए ।[2]

स्त्रियों का सब से बड़ा आपद्धर्म सती प्रथा थी । इस प्रसंग में डा० काणे का मत है कि विष्णु धर्मसूत्र (100 ई० से 300 ई०) को छोड़कर किसी अन्य धर्मसूत्र में सती प्रथा का कोई संकेत नहीं प्राप्त होता है । इसमें वर्णन है कि अपने पति की मृत्यु पर विधवा ब्रह्मचर्य रखती थी या उसकी चिता पर चढ़ जाती थी (जल जाती थी)।[3] इस प्रसंग में मनु का मत विवेचनीय है कि रथ, घोड़े, हाथी छत्र, धन, धान्य, पशु स्त्री (दासी) गुण नमक द्रव्य, ताँबा, पीतल आदि द्रव्य जो जिस वस्तु को जीतकर लाता है वह उसी का होता है ।[4] अर्थात् संभव है कि इस समय विदेशी जातियां भारतीयों पर विजय प्राप्त कर उनकी स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार करते थे, अतः उनसे बचने के लिए यह प्रथा चल पड़ी हो । डा० अल्टेकर भी 200 ई०पू० से 300 ई० के समय को भारतीय इतिहास में बहुत ही अंधकारपूर्ण माना है । भारत

1- मनुस्मृति 8 . 299 - भार्या पुत्रश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः ।
प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा ।।

2- प्रो० इन्द्रा - द पोजीशन (स्टेटस) आव वूमेन इन एंशियण्ट इण्डया, पृ० 15

3- विष्णु धर्मसूत्र - 25.14 मृते भर्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं ।
द्रष्टव्य - पी०वी०काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1, पृ० 15, 348

4- मनुस्मृति 7 . 96 रथाश्वं ---------- तस्यतंत् ।।

में पहले ग्रीक आये । डेमेट्रियस और मिनेन्डर के नेतृत्व में (190 - 150 ई० पू०) पटना और बिहार के क्षेत्रों में फिरसिथियन और पार्थियनों का प्रवेश हुआ ।[1] (100 ई०पू० 50 ई०) इसी का अनुकरण कुषाणों ने भी किया । संभवत: सति प्रथा के प्रचलन का भी यही काल रहा होगा । जैसा कि डा० काणे का विचार है ।

इसके पश्चात भारतीय इतिहास में गुप्तों का शासन काल (320 ई०पू० से 550 ई०) दर्शित होता है । महाकाव्यों के कुछ खण्ड इस काल में भी लिखे गये ।[2] प्रो० हार्पिकिंस महाभारत की रचनाकाल 200 ई० पू० से 200 ई० तक का माना है । डा० एस० अल्टेकर ने महाकाव्यों के समय को 500 ई०पू० से 500 ई० तक का माना है ।[3]

रामायण में स्त्री जाति की बड़ी ही सम्मानपूर्ण स्थिति दर्शित होती है । रामायण में सीता और उर्मिला के चरित्र को बहुत ही उज्जवल दर्शित किया गया है । साथ ही साथ स्त्रियाँ पुरुषों की सहयोगी भी थी, जैसे कैकेयी ने दशरथ की रक्षा युद्ध में की थी। सीता ने बनवास में राम का साथ दिया किन्तु फिर भी कहीं-कहीं वर्णनों में विरोधाभास प्रतीत होता है । एक स्थल पर वर्णन प्राप्त होता है कि एक राजपुत्र को यदि चारों वर्णों की रक्षा(के हित) के लिए यदि स्त्री-हत्या भी करनी पड़े तो उसे मुँह नहीं मोड़ना चाहिए । राजा का सनातन धर्म उसी में है, रामायण में ही तारका वध, मन्थरा वध का वर्णन प्राप्त होता है ।[4]

इन वर्णनों से ऐसा ज्ञात होता है कि समाज में जहाँ उज्जवल चरित्र की स्त्रियों को सम्मान प्राप्त था वही समाज के लिए घातक स्त्रियों का वध भी नि:संकोच किया जाता था । सीता के उज्जवल चरित्र के होने के बावजूद भी

1- ए०एस०अल्टेकर - द पोजीशन आव वूमेन इन ऐंशियण्ट इण्डिया, पृ० 350 ।

2- आर०एस०शर्मा - शूद्राज इन ऐंशियण्ट इण्डिया, पृ० 246

3- ए० एस० अल्टेकर - द पोजीशन आव वूमेन इन ऐंशियण्ट इण्डिया, पृ० 336

4- वाल्मीकीय रामायण - बालकाण्ड, 25. 17-21

दृष्टव्य - प्रो० इन्द्रा , द (पोजीशन) स्टेटस आव वूमेन इन ऐंशियण्ट इण्डिया, पृ० 16 ।

राम ने उन्हें दोबारा वन त्याग दिये जहाँ वाल्मीकी आश्रम में लव कुश का जन्म हुआ । अतः इस समय भी स्त्रियों की दशा विवादास्पद थी । इस काल में सती प्रथा के प्रादुर्भाव के संकेत मिलते हैं । रामायण के उत्तर काण्ड में कुशध्वज की मृत्यु पर उनकी पत्नी उनके चिता के साथ जल मरी जो वेदवती की माता थी और वेदवती भी रावण द्वारा तिरस्कृत होकर अग्नि में कूद पड़ी ।[1] महाभारत में स्त्रियों को सम्मानित स्थान नहीं प्राप्त था ।

महाभारत में भी नियोग प्रथा के प्रचुर उदाहरण प्राप्त होते हैं । महाभारत के अधिकांश पात्र धृतराष्ट्र, पाण्डु, विदुर, कर्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव सभी का जन्म इसी विधि से हुआ था ।[2] महाभारत के आदि पर्व में सती प्रथा के भी उदाहरण दर्शित होते हैं जैसे पाण्डु की प्यारी रानी माद्री ने पति के शव के साथ अपने को जला दिया ।[3] विराट पर्व में कीचक के साथ सौन्ध्री का जलना ।[4] मौसल पर्व में वसुदेव का चार रानियों ने अपने को जला दिया ।[5] शान्ति पर्व में कबूतर के साथ कपोती का जलना ।[6] सती प्रथा के ज्वलन्त उदाहरण हैं । डी० एच० मीज का मत है कि प्राचीन काल के ग्रंथों में इस प्रथा का कहीं भी उल्लेख नहीं है । रामायण और महाभारत में सती प्रथा का वर्णन राज घरानों तक सीमित थी[7] किन्तु बाद में यह प्रथा सभी के लिए मान्य हो गयी ।

इस काल में विधवाओं की स्थिति भी बड़ी ही सोचनीय थी । महाभारत में वर्णन है कि अनेक पुत्रों से युक्त होने पर भी विधवा का जीवन बड़ा ही शोचनीय था ।[8]

1- वाल्मीकीय रामायण, उत्तर काण्ड, 17.15,30
2- महाभारत, आदि पर्व 100.2, 15, 26 ; 114.6,9,27 ; 115.16,17
3- महाभारत, आदि पर्व 116.31
4- ,, , विराट पर्व, 23.8
5- ,, , मौसलपर्व 8. 18
6- ,, , शान्तिपर्व, 148.1,2
7- डी०एच०मीज - धर्म एण्ड सोसायटी, पृ० 202
8- महाभारत शान्तिपर्व 148.2 सर्वापि विधवा नारी बहुपुत्रापि शोचते ।

भास कृत प्रतिमा नाटक में कैकेयी के जीवन को धिक्कारा है । जिसने राज्य के लोभ से अपना वैधव्य बुलाया था ।[1] स्वप्न वासवदत्ता से भी विदित होता है कि विवाह के अवसर पर उदयन मगधराज के अन्त:पुर में प्रवेश कर रहे थे । वहाँ से विधवाओं को हटा दिया गया था ।[2]

500 ई० ———————— 1200 ई०

डा० काणे ने विविध अभिलेखीय साक्ष्यों को प्रस्तुत किया है जिससे सिद्ध होता है कि तत्कालीन समाज में सती प्रथा प्रचलित थी । इनमें सब से प्राचीन गुप्त संवत् 191 (510 ई०) का है । एरण प्रस्तर स्तम्भ लेख में गोपराज की पत्नी का पति के साथ सती होना उत्कीर्ण है । नेपाल अभिलेख (705 ई०) में धर्मदेव की विधवा राज्यवती अपने पुत्र महादेव को शासन भार संभालने को कहती है और अपने को सति कर देना चाहती है । बेलतुरु अभि० (979 शक संवत्) में देकब्बे नामक शूद्र स्त्री अपने पति की मृत्यु पर माता पिता के मना करने पर भी भस्म हो जाती है और उसके माता-पिता उसकी स्मृति में स्तम्भ खड़ा करते हैं ।[3] कुछ अभिलेख विधवाओं की दशा का चित्रित करते हैं जैसे मन्दसोर के अभिलेख में बन्धु वर्मा के पराक्रम के फलस्वरूप अरिसुन्दरिया वैधव्य दु:ख झेल रही थी ।[4] पेहोवा अभिलेख में विधवा नारियों के बिखरे बालों का उल्लेख है ।

वराहमिहिर (500 ई० - 550 ई०) ने बृहत्संहिता में तत्कालीन समाज में स्त्रियों की दशा और उनके आपद्धर्म का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है । उनका मत है कि स्त्रियों पर ही धर्म एवं अर्थ आश्रित है । उन्हीं से पुरुष लोग

1- प्रतिमा नाटक अंक 4 - त्रिजया अटो अत्याहितं
 राजलुब्ध्या ----- आत्मनो वैधव्यमादिष्टम् ।

2- स्वप्न वासवदत्त, अंक 3 - चेटी त्वरता त्वरताभार्या ।
 एष जामाता अविधवाभिरन्तश्चतु: शालं प्रवेश्यते ।
 द्रष्टव्य - एस०एन०राय - पौराणिक धर्म एवं समाज ,पृ० 281

3- डा० काणे - धर्म शास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग,पृ० 349

4- डा० एस०एन०राय - पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ० 281

इन्द्रिय सुख एवं सन्तान प्राप्त करते हैं ये घर की लक्ष्मी हैं । इनको सदैव सम्मान एवं धन देना चाहिए । वे स्त्री निन्दकों से पूछते हैं सच बताओ, स्त्रियों में कौन से दोष हैं जो तुम लोगों में नहीं पाये जाते हैं ---------------- अपनी माँ और पत्नी भी स्त्री ही है । पुरुषों की उत्पत्ति उन्हीं से होती है,ओ, कृतघ्नी एवं दुष्ट तुम जब इस प्रकार उनकी भर्त्सना करते हो तो तुम्हें सुख क्योंकर मिलेगा ? शास्त्रों के अनुसार वे पति एवं पत्नी दोनों ही पापी हैं यदि वे विवाह के प्रति सच्चे नहीं होते । पुरुष लोग शास्त्रों की बहुत कम परवाह करते हैं, किन्तु स्त्रियाँ शास्त्रों की बहुत परवाह करती हैं अतः वह पुरुषों से उच्च है । वाराह मिहिर पुनः कहते हैं, दुष्ट लोगों की धृष्टता कितनी बढ़ी है, ओह ! वे पवित्र एवं निरपराध स्त्रियों पर गालियों की बौछार करते हैं। यह तो वैसा ही है जैसा चोरों के साथ देखा जाता है ; जैसे चोर स्वयं चोरी करते हैं ; पुनः शोर गुल करते हैं, ठहरो ओ चोर ! अकेले में पुरुष स्त्री की चाटुकारी करते हैं किन्तु उसके मर जाने पर उनके पास इसी प्रकार के मीठे शब्द नहीं होते किन्तु स्त्रियाँ कृतज्ञता के वश में आकर पति के शवों का आलिंगन करके अग्नि में प्रवेश कर जाती हैं ।[1]

(500 ई० से 1200 ई०)

इस काल खण्ड के अन्तर्गत पुराणों तथा उत्तरकालीन ग्रंथों का वर्णन किया गया है । डा० काणे ने वायु० विष्णु० मार्कण्डेय, मत्स्य तथा कूर्म० पुराणों की तिथि 300 ई० से 600 ई० के अन्तर्गत की है तथा अग्नि और गरुण पुराण की तिथि 600 ई० से 900 ई० तक निर्धारित की है ।[2]

मत्स्य पुराण में एक स्थल पर वर्णन है कि सृष्टि का संचालन स्त्री विरहित स्थिति में संभव नहीं है ।[3] इसी में एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि

1-वाराह मिहिर बृहत्संहिता 74.5,6,11,15,16
येप्यङ्गनानां प्रवदन्ति ----------------
------------------ प्रविशन्ति सप्तजिह्वम् ।।
द्रष्टव्य - डा० काणे , धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1,पृ० 327

2- डा० काणे - धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1,पृ० 15

3- मत्स्य पुराण - 154, 156 स्त्रियां विरहिता सृष्टिर्जन्तूनां नोपपद्यते ।

गर्भ धारण तथा परिपोषण करने से माता का स्थान श्रेष्ठ है पतित होने पर भी उसका गौरव अंश को नहीं प्राप्त होता है । अतएव उसका परित्याग किसी भी दशा में उचित नहीं है ।[1] इस काल में स्त्रियां उच्च शिक्षा प्राप्त करती थी । वे आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक दोनों ही प्रकार की शिक्षा प्राप्त कर सकती थी । शिक्षित स्त्रियों में एकपर्णा, अपर्णा, एकपाटला, मेना, धारिणी, संनति, शतरूपा उमा, पीवरी आदि को ब्रह्मवादिनी, ब्रह्मचारिणी, तपस्विनी आदि नामों से अलंकृत किया गया है ।[2] इस काल में स्त्रियों को युद्ध कला का भी ज्ञान था । ऐसा आख्यात है कि श्री कृष्ण ने स्वजन सुरक्षार्थ द्वारका में जिस दुर्ग की रचना संपन्न किया था उसमें पुरुष सैनिक तो युद्ध कर ही सकते थे । इसके अतिरिक्त स्त्रियां भी योद्धा रूप में नियुक्त थी ।[3]

इस काल में स्त्रियों की अवध्यता के प्रसंग प्राप्त होते हैं । वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में वर्णन है कि जब कंस देवकी के वधार्थ उद्यत हुआ उस समय वासुदेव ने स्त्री अवध्यता पर उसका ध्यान आकर्षित किया था ।[4] पृथ्वी का वध करने के लिए उद्यत वैन्य के विषय में यह आख्यात है कि गाय के रूप में पृथ्वी ने उन्हें रोकते हुए कहा कि स्त्री का वध करना अधम है ।[5] मत्स्य पुराण में वर्णन है अग्नि ज्वाला से त्रस्त त्रिपुरवासिनी स्त्रियां स्त्री-वध को पाप निर्दयता व निर्लज्जता की कोटि में रखती है । इसी वर्णन क्रम में शत्रु पक्ष की

1- मत्स्य पुराण 227.150 पतिता गुरवस्त्याज्या न तु माता कथञ्चन ।
गर्भधारण पोषाभ्यां तेन माता गरीयसी ।।
दृष्टव्य - एस०एन०राय, पौराणिक धर्म एवं समाज, 262-286

2- ब्रह्माण्ड 3.2.28, 3.1.124, 3,10,15,16
वायु 66. 27, 72. 13-15
विष्णु 3. 10. 19

3- विष्णु पुराण 5. 23.11 तस्माद् दुर्गं करिष्यामि ------ पर्नवृष्णिपुङ्गवाः ।

4- वायु पुराण - 96.225) - न स्त्रियं क्षत्रियो जातु हन्तुमर्हति कश्चन ।
ब्रह्माण्ड पुराण -3.71.231)

5- वायु पुराण 62.159) - अवध्याश्च स्त्रियः प्राहुस्तिर्यग्योनिगतेष्वपि ।
ब्रह्माण्ड पुराण 2.36.185)

स्त्रियों को भी अवध्य घोषित किया गया है ।[1] चारों पुराणों में यह स्पष्ट विहित मिलता है कि स्त्री वध की अधिकता उस समय रहती है जबकि सामाजिक व्यवस्था के ह्रास होने पर कलियुग का समारम्भ होता है ।[2]

इसके विपरीत कहीं-कहीं स्त्री वध का भी दृष्टान्त पुराणों में मिलता है जैसे परशुराम ने अपनी जननी का वध किया था । इस कथा में पितृभक्ति की पराकाष्ठा की व्यंजना सन्निहित है । संभवत: उस समय सामाजिक और धार्मिक दृष्टिकोण से उस कुकृत्य का घोर विरोध हुआ हो, जिस समय परशुराम तपस्या कर रहे थे उन्हें भर्त्सना पूर्ण शब्दों में ऋषियों ने धिक्कारा था तथा उनके घातक कर्म को गुरु और ब्राह्मण की हत्या की कोटि में रखा था ।[3] एक अन्य उदाहरण भृगु की पत्नी का है जिसका वध देवासुर संग्राम में विष्णु ने किया था इस कारण विष्णु को सात बार दैवी स्तर से च्युत होकर मानवीय स्तर पर आना पड़ा था ।[4]

पुराणों में भी विधवाओं के हीन और प्रसन्नता रहित जीवन का चित्रण प्राप्त होता है । विष्णु पुराण में मारिषा की कथा का वर्णन है जो बाल्यकाल में ही विधवा हो गयी थी, उसके लिए मन्दभागिनी शब्द प्रयुक्त किया गया है जिसका जन्म विफल था ।[5] ब्रह्माण्ड पुराण में रेणुका की

1- मत्स्य पुराण 188.94 पाप निर्दय ------------ शत्रुयोषित: ।

2- विष्णु पुराण 4. 24.71 - स्त्री बाल गोवध कर्तार: ------ भविष्यन्ति ।
वायु पुराण 58. 67)
ब्रह्माण्ड पुराण 2.31.68)- स्त्री वध -------- परस्परम्
मत्स्य पुराण 144.43)

3- ब्रह्माण्ड पुराण 3.23.66, 9 गुरु स्त्री ब्रह्महत्योत्थ ------------
-------- सर्वलोक विगर्हितम् ।

4- वायु पुराण 97.141 यस्मान्ते ------- प्रपत्स्यसि ।
(दृष्टव्य - एस०एन०राय - पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ० 264)

5- विष्णु पुराण 1.15.63 भगवन्बालवैधव्याद् ---------- च जगत्यते ।

कथा से दर्शित होती है कि वैधव्य दुःख का वह प्रकार है जो असह्य है ।[1] पुराणकार ने विधवा के म्लान वस्त्र एवं केशों का उल्लेख किया है कि वैधव्य के कारण रति ने आभूषणों को उतार दिया तथा उसके केश बिखरे हुए थे ।[2] विधवा को दीन अनाथों की कोटि में रखते हुए उनकी रक्षा करना राजा का परम कर्त्तव्य माना गया है ।[3]

संभवतः इस काल में विधवा विवाह का प्रचलन नहीं था क्योंकि सावित्री के भावी पति के मृत्यु की सूचना से उसके पिता चिन्तित हो गये थे ।[4] विष्णु पुराण की मारिषा का बाल वैधव्य के कारण उसका जन्म व्यर्थ हो गया और भावी जन्म में श्लाघनीय पति के लाभार्थ उत्सुक रहती थी ।[5]

इस काल में सति प्रथा का प्रचलन था । विष्णु पुराण में वर्णन है कि श्रीकृष्ण के मृत्यु के उपरान्त रुक्मिणी आदि रानियों ने उनके मृत देह का आलिंगन करते हुए अग्नि में प्रवेश किया था ।[6] रेवती ने बलराम के शरीर का आश्लेष कर उनके अंगस्पर्श के कारण शीतलीकृत अग्नि की शरण ली थी ।[6ए] ब्रह्माण्ड पुराण में रेणुका ने अपने पति को मृत पाकर भावी अपमान से रक्षार्थ सती होने का निश्चय किया था ।[7] किन्तु कहीं-कहीं इसके विपरीत दृष्टान्त प्राप्त होते हैं

1- ब्रह्माण्ड पुराण 3.30.25,37 रुदतीं वत वैधव्यवशंका हत चेतनाम् ।
असह्य दुःख

2- मत्स्य पुराण 154.19 नारी -------- म्लान वस्त्रशिरोरुहा ।
ब्रह्माण्ड पुराण 4. 30.44 सा पर्यश्रुमुखी कीर्णकुन्तला धूलिधूसरा ।
---------- वैधव्यत्यक्तभूषणा ।

3- मत्स्य पुराण 215.61 कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम् ।

4- ,, 208.13 संवत्सरेण क्षीणायुर्भविष्यति नृपात्मजः ।
सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते चिन्तायित्वा नराधिपः ।।

5- विष्णु पुराण 1.15.54 भगवन्बालवैधव्याद् वृथाजन्माहमीदृशी ।
भवन्तु पतयः श्लाघ्यामम जन्मनि-जन्मनि ।।

6- विष्णु पुराण 5.38.2 अष्टौ महिष्यः कथिता रुक्मिणी प्रमुखास्तु याः ।
उपगुह्य हरेर्देहं विविशुस्ता हुताशनम् ।।

6ए- विष्णु पुराण 5.38.3 रेवती चापि रामस्य देहमाश्लिष्य सत्तमा ।
विवेश ज्वलितं वह्निं तत्संगाह्लादशीतलम् ।।

जैसे कामदेव के मृत्यु के बाद रति को सति होने से शंकर ने रोका था ।[1] राजा बाहु की पत्नी माधवी को गर्भवती अवस्था में सति होने से और्व मुनि ने रोका था ।[2] बाण के कादम्बरी में उसे अविद्वानों का लक्षण माना है[3]।

पूर्व कालों की भाँति पुराणों में कहीं-कहीं पर्दा प्रथा के अनुकूल और कहीं प्रतिकूल वर्णन प्राप्त होते हैं । जैसे नृप निमि अपनी स्त्रियों के साथ धूतक्रिड़ा कर रहे थे वहाँ वशिष्ठ ऋषि भी थे ।[4] बाणासुर की पत्नी नारद मुनि से खुले रूप में धर्म विषयक चर्चा कर रही थी ।[5] मत्स्य पुराण में ही वर्णन है कि जब कृष्ण पौराणिक कथाओं का श्रवण करते थे उस समय वहाँ अनेक कुरुवंशीय और वृष्णिवंशीय राजाओं के साथ कृष्ण की स्त्रियाँ बैठी हुई थी ।[6]

कहीं-कहीं पर्दा प्रथा के प्रचलन से संबंधित दृष्टान्त भी उपलब्ध होते हैं जैसे ययाति नृप की स्त्रियों का दर्शन चन्द्रमा, इन्द्र, वायु, यम तथा वरुण भी नहीं कर सकते थे तो मनुष्य की तो बात ही नहीं है ।[7] अन्यत्र वर्णन है हिमवान की पत्नी जब नारद के सामने आयी तो घूँघट निकालकर प्रणामांजलि की थी ।[8]

1- मत्स्य पुराण 154.274 मरणव्यवसायान्तु निवृता हराज्ञया ।

2- विष्णु पुराण 4.3.33 नैवमतिसाहसाध्यावसायिनी भवती भर्वात्वित्युक्ता सा तस्मादनुमरण निर्बन्धाद्विरराम ।

3- डा० एस०एन०राय - पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ० 282

4- मत्स्य पुराण 61.32

5- ,, 187.26 अनौपम्योवाच- भगवन्मानुषे लोके ------

6- ,, 69.10,11 तस्यां ---------- धर्मसम्बन्धिनीषु ।

7- मत्स्य पुराण 31.12 सोमश्चेन्द्रश्च वायुश्च यमश्च वरुणश्च वा । तव वा नाहुष गृहे कः स्त्रियं दृष्टुमर्हति ।।

8- मत्स्य पुराण 154.131 ववन्दे गूढवन्दना पाणिपद्मकृतांजलिः ।।

याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर (जिसकी तिथि (1080 ई० - 1100 ई०) तथा अपरार्क शिलाहार राजा द्वारा लिखित याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका जिसकी तिथि 1100 ई० - 1130 ई० है । इन ग्रंथों में भी सति प्रथा का वर्णन है जिसका समर्थन शुद्धितत्व के लेखक रघुनन्दन ने किया है (1520 ई० - 1575 ई०) । इन ग्रंथों में भी सति प्रथा के प्रमाण मिलते हैं इनमें वर्णन है । जो नारी पति की मृत्यु का अनुसरण करती है वह मनुष्य के शरीर पर पाये जानेवाले रोमों की संख्या के तुल्य वर्षों तक स्वर्ग में बिराजती है अर्थात् 311 करोड़ वर्ष । जिस प्रकार सँपेरा साँप को उसके बिल से खींच लेता है उसी प्रकार सति होनेवाली स्त्री अपने पति को (चाहे जहाँ भी वह हो खींच लेती है और उसके साथ कल्याण पाती है । ------ सती होनेवाली स्त्री अरुन्धवती के समान स्वर्ग में यश पाती है ।[1] मिताक्षरा में बाल बच्चेवाली स्त्री को सति होने से रोका गया है ।[2]

डा० अल्टेकर का मत है कि 11वीं० सदी में ब्राह्मणी विधवा भी सति हो जाती थी । वे पुर्न विवाह नहीं कर सकती थी । कुछ विधवा बहुत ही संघर्षपूर्ण जीवन बिताती थी । कुछ विधवाओं के रिश्तेदार उन्हें जबरदस्ती आग में फोंक देते थे । उनकी यह धारणा थी कि वे उनके कुल का पतन कर देंगी या धन में हिस्सा लेंगी । 1200 ई० तक यह पूरे देश में लागू हो चुकी थी । बंगाल में दाय भाग का प्रचलन हो चुका था कि यदि पति मृत्यु के पूर्व संयुक्त परिवार से अलग नहीं हुआ है तो विधवा का भी पैतृक धन में हिस्सा लगेगा, ऐसे समय में परिवार के अन्य लोग पति की मृत्यु पर पत्नी की पति भक्ति पर्याप्त मात्रा में उत्तेजित कर देते थे जिससे वह पति की चिन्ता पर जलकर भस्म हो जाय । यह मानव की सम्पत्ति मोह की पराकाष्ठा थी ।[3]

1- याज्ञवल्क्य 1.86 पर मिताक्षरा, अपरार्क पृ० 110 शुद्धितत्व, पृ० 234
तिस्त्र: कोट्योऽर्धकोटी ------------------

2- ------------------ स्त्री शरीरात्कथंचन ।।

इस प्रकार से 4000 ई० पू० से 1200 ई० तक स्त्रियों की दशा सदैव पुरुषों से निम्न ही रही जैसा कि विविध ग्रंथों के अवलोकन से ज्ञात होता है । उन्हें सदैव पुरुषों का अनुगामी बनना पड़ा । स्त्रियों का धर्म , आपद्धर्म ये सब पुरुषों द्वारा ही नियोजित किया जाता था जिनका पालन करना स्त्रियों का परम कर्तव्य था ।

प्राचीन भारतीय सामाजिक गतिशीलता में आपद् राजधर्म का ऐतिहासिक विश्लेषण-

4000 ई० पू० - 1000 ई० पू०

यह काल वैदिक काल या उस काल खण्ड के अन्तर्गत वेदों, ब्राह्मण ग्रंथों और संहिताओं का सृजन हुआ । इस काल में राजधर्म का क्रमश: विकास दृष्टिगत होता है । इस काल खण्ड को 2 वर्गों में बांटा जा सकता है । ऋग्वैदिक काल, उत्तर वैदिक काल ।

ऋग्वेद में राजा शब्द कई स्थलों पर प्रयुक्त किया गया है । एक स्थल पर वर्णन है जहां पौधे उसी प्रकार साथ आते हैं जिस प्रकार भद्र लोग सभा में आते हैं । यहां पर राजान: शब्द की तुलना भद्र व्यक्ति से की गयी है ।[1] एक अन्य स्थल पर राजा शब्द वरुण, वृहस्पति, इन्द्र अग्नि के साथ प्रयुक्त किया गया है तथा राष्ट्र को धारण करनेवाला कहा गया है ।[2] एक स्थल पर वर्णन है कि दस राजाओं का मण्डल भी सुदास को पराजित नहीं कर सके । इन्द्र वरुण ने दस राजाओं से घिरे सुदास की सहायता की थी ।[3] ऋग्वेद में समिति शब्द भी प्रयुक्त किया गया है एक स्थल पर राजा प्रार्थना करता है कि उसके प्रतिद्वंदियों का विनाश हो इसमें उसके व्यक्ति तथा समिति हिस्सा लेते थे ।[4]

1- ऋग्वेद 10.97.6 यत्रौषधी: समग्मत राजान: समिताविव ।
विप्र: स उच्यते भिषग रक्षोहामीव चातन: ।।

2- ऋग्वेद 10.173.5 ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो वृहस्पति: ।
ध्रुवं त इन्द्र श्चाग्नि राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ।।

3- ऋग्वेद 7.83.7-8 दश राजान: समिता अयज्यव: सुदासमिन्द्रा वरुणा न युयुधु: ।
------ दाशराज्ञे परियताय विश्वत: सुदास इन्द्रा वरुणाव शिक्षतम्

4- ऋग्वेद 10.166.4 अभिमूरहमागमं विश्वकर्मेण धाम्ना ।
आ पश्चित्तमा वो व्रतमा वोहं समितिं ददे ।।
दृष्टव्य - यू०एन०घोषाल-स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० 354 ।

इन राजाओं के अतिरिक्त बहुत से गणों तथा गणराज्यों के भी नाम ऋग्वेद में आये हैं उनमें अनु, द्रुह्य, तुर्वसु, पुरु तथा यदु प्रमुख हैं । ये सभी शब्द कहीं-कहीं एक वचन तथा कहीं-कहीं बहुवचन में प्रयुक्त हुए हैं । एक वचन वाले शब्द राजा या प्रमुख के द्योतक हैं ।[1]

डा० अल्टेकर का मत है कि ऋग्वैदिक काल का राज्य प्राचीन यूनान के नगर राज्यों की भाँति छोटा होता था, उसका विस्तार आजकल के एक जिले से प्राय: अधिक न था । अधिकांश राज्यों की उत्पत्ति भी एक विशेष जन या कबीले से सम्बन्ध थी राज्य के नागरिक अपने को यदु पुरु तुर्वसु जैसे किसी पौराणिक पुरुष की संतान समझते थे । शासक वर्ग में विभिन्न कुलों के गृहपति सम्मिलित थे । कई कुटुम्बों को मिलाकर विश की रचना होती थी जिसका अध्यक्ष विशपति होता था, कई विशों को मिलाकर जन की रचना होती थी जिसका प्रधान जनपति या राजा होता था ।

संयुक्त कुटुम्ब पद्धति से राजपद उत्क्रांत हुआ था इसलिए वह प्राय: आनुवंशिक था । ऋग्वेद में इस विषय में पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं । वहाँ ऐसे कई वंश का उल्लेख है जहाँ राजपद लगातार चार पीढ़ियों तक था । जैसे वह्र्यश्व, दिवोदास, पिजवन, सुदास, दुर्गहण, गिरिक्षित, पुरुकुत्स त्रसदस्यु आदि । कुछ स्थलों पर राजा के निर्वाचन का भी उल्लेख मिलता है ।

राजा जनपतियों (विशपतियों) के मण्डल का प्रमुख था तथा उसका पद आनुवंशिक होने लगा था । उसमें मुख्यत: सफल सेनापतित्व की अपेक्षा की जाती थी । अनार्यों के साथ हमेशा युद्ध चलता रहता था । आर्य राज्यों में भी आपसी झगड़े प्राय: होते रहते थे । विशपतियों या जनपतियों में जो कुशल व यशस्वी सेनापति हो सकता था उसका प्रथम राजपद के लिए चुनाव होता था तथा बाद में उसके कुल में राजपद आनुवंशिक हो जाता था । राजत्व के विकास का यह प्राथमिक कारण था अर्थात् युद्धमय परिस्थितियों के ही नेतृत्व का परिणाम राजा था इस प्रकार राजा का चुनाव आपद्‌कालीन परिस्थितियों में हुआ था ।

1- डा० पी०वी०काणे : धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 2, पृ० 605
(ऋग्वेद , 1 : 108.8, 7.18.6, 8.6.46)

इस काल में सरकार को कर देने की प्रथा अस्तित्व में नहीं थी । इसलिए राजा की आमदनी शांतिकाल में प्राय: उसकी जमींदारी से होती थी । उसको उपहार (बलि) भी मिलता था, यह देना न देना ऐच्छिक था । युद्धकाल में राजा को लूट से धन प्राप्त होता था जिसका कुछ भाग सैनिकों में बांट दिया जाता था ।

राजा के 3 प्रमुख कर्मचारी होते थे (1) सेनानी (सेनापति) (2) ग्रामणी (गांव का मुखिया) (3) पुरोहित । सेनापति राजा के आदेशानुसार युद्ध में काम करता था । सेना का युद्ध में मार्ग-दर्शन करता था । लड़ने के शस्त्र बाण, तलवार, भाले थे । ऋग्वेद में ग्राम के दो अर्थ हैं - (1) गांव (2) (युद्ध) सैन्य समूह । अर्थात् ग्रामणी गांव का मुखिया और सैनिक पदाधिकारी भी होता था । पुरोहित याज्ञिक कार्यों के अतिरिक्त युद्ध भूमि में राजा के विजय के लिए देवताओं से प्रार्थना करता था ।[1]

डा० आर० एस० शर्मा की बात भी लगभग इसी प्रकार की है । इनका मत है कि ऋग्वैदिक आर्य अयश नामक धातु से परिचित थे जो लाल रंग का होता था संभवत: वे तांबा रहा है जिसका वे तीर बनाते हो जिसे अयोमुख कहते थे । कुछ इसी प्रकार के धातु का प्रयोग परसियां में 1200 ई० पू० में होता था । लेकिन मात्र ये अस्त्र शस्त्र ही ऋग्वैदिक राजत्व का प्रमुख कारण नहीं था । उस काल में परिभ्रमण दशा थी तथा मवेशी पालन ही जीविकोपार्जन का प्रमुख साधन था । एक ही गोत्र के व्यक्ति एक ही कुल वंशीय अपने गायों के साथ रहते थे । गायों की रक्षा के लिए ही घूमते थे तथा युद्ध करते थे । ऋग्वेद में जन शब्द 275 बार तथा विश शब्द 170 बार प्रयुक्त किया गया है । वैदिक जन ही सर्वोच्च सामाजिक संगठन था जिसकी तुलना शर्मा ने रोमन ' जेन्स ' तथा ग्रीक शब्द ' जेनोस ' से की है । वैदिक विश शब्द ,रोमन ट्राइब्स तथा ग्रीक ' फिले ' शब्द का समकक्षी था । इसमें कोई संशय नहीं है कि ऋग्वैदिक विश युद्ध करनेवाली एक संगठनात्मक ईकाई थी जिस प्रकार से होमरकालीन और प्राचीन जर्मनी में सेनानायकों की ईकाइयां हुआ करती थी । उन्होंने भी ग्राम को परिभ्रमण युद्ध करनेवाली ईकाई माना है तथा

1- ए० एस० अल्टेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 237-239 ।

संग्राम कहा है जिसका प्रयोग ऋग्वेद में 13 बार किया गया है । इस प्रकार से ऋग्वैदिक राजनैतिक संगठन का राजा कबीलेवाले समाज का प्रधान सेनानायक था ।[1]

डा० बन्दोपाध्याय ने वैदिक राजत्व की संस्थाओं का अवलोकन करते हुए कहा है कि पूर्व वैदिक राजा एक प्रशासकीय वर्ग था जो सामान्य व्यक्तियों के मध्य ज्यादे शक्ति संपन्न था । यह राजनैतिक गति का एक पहलू था और यही तत्व उत्तर वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रंथों में भी दर्शित होता है । इस प्रकार से एकतंत्र का यह प्राथमिक चरण था जिसके कण ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में भी प्राप्त होते हैं । इन्होंने वैदिक परंपराओं को मनु और पृथु से जोड़ा है जो वेन के पुत्र थे तथा बहुत बड़े योद्धा नायक थे । डा० वी० एम० आप्टे का मत है कि राजत्व ऋग्वैदिक काल में अत्यन्त स्वाभाविक प्रक्रिया थी क्योंकि वैदिक आर्य अपने पड़ोसियों से युद्ध का बर्ताव करते थे ।[2]

वैदिक संहिता और ब्राह्मण ग्रंथों में ऐसे प्रसंग प्राप्त होते हैं जिसमें मनु को मानव मात्र का पिता कहा गया है तथा मानव सभ्यता का जनक माना गया है जिन्होंने मनुष्य को यज्ञ एवं कृषि कर्त्तव्यों का बोध कराया जब वे वेन पुत्र पृथु को याद कर रहे थे जो कृषि के प्रणेता थे । कहीं-कहीं पृथु को प्रथम राजा माना गया है किन्तु मनु को कहीं भी प्रथम राजा नहीं कहा गया है । ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णन है कि देवताओं ने सोम को अपना राजा बनाया जो असुरों के विरुद्ध उनका नेतृत्व करे किन्तु दूसरे कथानकों में इन्द्र को राजा चुने जाने का वर्णन प्राप्त होता है जो बहुत ही योग्य, बहादुर तथा अच्छे थे । इन प्रथाओं के अनुसार राजा में देवत्व की कल्पना की गयी । डा० जायसवाल का मत है कि इन्डो आर्यनों ने यह राजत्व की प्रथा द्रविणों से ग्रहित की जो ऐतरेय ब्राह्मण के देव दानुज युद्धों का समकक्षी है उन्होंने इसके तीन प्रमाण दिये हैं (1) राजा पूर्व आर्यों के समय में द्रविणों के राजा थे ।(2) आर्य द्रविणों के संपर्क में आये (3) इन्डो आर्यनो ने राजत्व की प्रथा द्रविणों से सीखी थी ।[3]

1- डा० आर० एस० शर्मा - एसपेक्ट्स आव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इंस्टीट्यूशन्स इन ऐंशियण्ट इण्डिया, पृ० 263-267

2- यू०एन०घोषाल - स्टडीज़ इन इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० 339-341

इस काल में राज्य का विस्तार बढ़ने लगा । अनेक विश, जन या कबीले एक राज्य में सम्मिलित होने लगे । कुरु पांचालों का एक राज्य हुआ व उसी तरह और जन भी सम्मिलित हुए होंगे । हो सकता है कि इस समय एक राज्य का विस्तार सामान्यत: आधुनिक कमिश्नरी के बराबर हुआ होगा । कभी-कभी राजाओं को महाराजा सम्राट ऐसी पदवी दी जाती थी । कुछ राजा बड़े विजेता और विजय के पश्चात वाजपेय व अश्वमेध इत्यादि यज्ञ करते थे किन्तु ऐसे सम्राटों के राज्य का विस्तार कितना विशाल था यह कहना कठिन है । इस काल में राज्य शब्द से एक विशिष्ट भू-भाग निर्दिष्ट होने लगा ।[1]

धातु प्रयोग के आधार पर भी ऋग्वैदिक समाज उत्तर वैदिक समाज से भिन्न था । उत्तर वैदिक काल में आर्य अब धीरे-धीरे पश्चिमी उत्तर प्रदेश के भूभागों की ओर अग्रसर हो रहे थे । (ताँबे से बने अस्त्र-शस्त्रों के अवशेष 16 स्थलों से प्राप्त हुए हैं जिनका काल 1700- 1000 ई० पू० का है) ।

धीरे-धीरे लौह निर्मित औजारों के अवशेष बहुसंख्या में प्राप्त होने लगे । पश्चिमी उत्तर प्रदेश के एटा जिले के अतरंजी खेरा नामक स्थल से प्राप्त अवशेषों (लौह निर्मित औजार) की तिथि संभवत: 1000 ई० पू० से 800 ई०पू० तक की होगी । उत्तर वैदिक ग्रंथों में कुरु,पंचाल का वर्णन प्राप्त होता है । पश्चिमी उत्तर प्रदेश में प्रयुक्त श्याम अयस शब्द लोहे के लिए प्रयुक्त होता था । इसी प्रकार से विदेह उत्तर बिहार में भी वैदिक आर्य अग्रसारित हुए अत: ऋग्वैदिक काल के समाप्त होने तथा लौह औजारों के प्रयोग के समय तक आर्य उत्तर तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेशों में फैल चुके थे । कृषि के विकास तथा लौह औजारों के कारण उनके परिभ्रमण जीवन में स्थिरता का बीजारोपण हुआ ।[2]

1- डा० ए० एस० अल्टेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 239 ।

2- आर० एस० शर्मा : आस्पेक्ट्स ऑव पोलिटिकल आइडियाज़ एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एंशियंट इंडिया, पृ० 272 ।

उत्तर वैदिक काल में राजत्व से संबंधित बहुसंख्यक प्रमाण हमें अथर्ववेद में उल्लिखित विविध मंत्रों के विश्लेषण से प्राप्त होते हैं । अथर्ववेद में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का भी पर्याप्त विवरण उपलब्ध होता है यद्यपि ये विवरण क्रमबद्ध नहीं हैं तथापि इन बिखरे हुए मंत्रों के कारण ही अथर्ववेद को शतपथ ब्राह्मण में क्षत्रवेद कहा गया है ।[1]

<u>राजनीतिक शब्दावली</u> - अथर्ववेद में विविध राजनीतिक शब्दावलियाँ प्रयुक्त हुई हैं जिससे राज्य के विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है -

<u>राष्ट्र</u> - राष्ट्र शब्द का प्रयोग राज्य या साम्राज्य के लिए कई स्थलों पर हुआ है । एक स्थान पर पुरोहित राजा को राष्ट्र की रक्षा के लिए आशीर्वाद देता है ।[2] तत्कालीन राष्ट्रों में परीक्षित का राष्ट्र अत्यन्त कल्याणप्रद माना गया है ।[3]

<u>क्षत्र</u> - क्षत्र का अर्थ है प्रभुत्व, शासन, शक्ति । यह देवताओं तथा मनुष्यों दोनों के शासन के लिए प्रचलित था । उन लोगों की धारणा थी कि राजा द्वारा अपमानित ब्राह्मण राजा की शक्ति (क्षत्र) और तेज को समाप्त कर देता था ।[4] एक मंत्र में क्षत्र का प्रयोग शासक के अर्थ में हुआ है ।[5] एक स्थान पर क्षत्र शब्द राज्य के लिए प्रयुक्त हुआ है । हे इन्द्र यह राजा अन्य शासकों में बलवान हो, तुम इस दैवी प्रजा पर शासन करो, तुम्हारा राज्य अजर और दीर्घायु हो ।[6] बड़े राज्य को महाक्षत्र कहा गया है ।[7] क्षत्र शब्द जब ब्रह्म के साथ प्रयुक्त होता था तो उसका अर्थ लौकिक और ब्रह्म का अर्थ पारलौकिक था ।[8]

1- ब्लूम फील्ड, सेक्रेड बुक्स आव द ईस्ट, भाग 42, पृ० 25 (भूमिका)
शत ब्रा० 18.4.141
द्रष्टव्य - डा० राजक्षत्र मिश्र, अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 1

2- अथर्ववेद - 6.87.1 मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत ।

3- ,, 20.127.9 जनः स भद्रमेधति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ।

4- ,, 5.18.4 निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चो ------- ।

5- ,, 4.22.2 वर्ष्मन्क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र ।

6- ,, 6.98.2 त्वं दैवीर्विशं इमा वि राजायुष्मत् क्षत्रमजरं ते अस्तु ।

7- ,, 15.10.3 अतो ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठतां ।

8- यू०एन०घोषाल, इण्डियन हिस्टारिकल क्वाटरली, 1944 पृ० 104

विश - विश शब्द राजा के साथ प्रजा का द्योतक है ।[1] कभी-कभी जन के लिए विश शब्द प्रयुक्त होता है ।[2] कहीं-कहीं पर विश शब्द सम्बन्धियों तथा वंशजों के लिए प्रयुक्त हुआ है[3] । जहाँ विश शब्द प्रजा के लिए प्रयुक्त हुआ है वहाँ विशपति का तात्पर्य राजा है । विशों के स्वामी को एकराट् कहा गया है ।[4]

संसद - अथर्ववेद में संसद शब्द भी प्रयुक्त हुआ है । हे इन्द्र इन सभी संसदों का मुझे भागी बनाओ ।[5] यहाँ संसद एक ऐसी संस्था थी जिसमें सभा और समिति दो परिषदें सम्मिलित थी । ह्विटने ने इसका समीकरण जन समुदाय से किया है ।[6] ग्रिफिथ ने इसे परिषद् कहा है ।[7] सभा और समिति प्रजापति की दो पुत्रियाँ कही गयी हैं ।[8]

सभा - हाप्किंस ने सभा शब्द की तुलना जर्मन शब्द 'सिप्पे' से की है जो कबीले, परिवार तथा प्रशासक वर्ग का समूह था । बन्द्योपाध्याय का भी यही मत है । प्रारंभ में स्त्रियाँ इनमें भाग लेती थी किन्तु बाद में उनका जाना बंद हो गया डा० शर्मा का मत है कि कबीलेवाले समाज में (ऋग्वैदिक काल) सभा का प्रादुर्भाव तब हुआ जब कोई उस समय प्रभुत्वशाली वर्ग नहीं था । धनी-निर्धन में कोई अन्तर नहीं था फिर भी उस समय सभा के पदाधिकारी उच्च समझे जाते थे उनके

1- अथर्ववेद 3.4.2 त्वां विशो वृणतां राज्याय ।
2- ,, 14.2.27 स्योनास्यै सर्वस्यै विशो स्योना पुष्टायैषां भव ।
3- ,, 15.8.2 सविश: सबन्धूनमन्नमन्नाधमभ्युदतिष्ठत् ।
4- ,, 3.4.1 विशांपतिरेकराट् त्वं विराज ।
5- ,, 7.13.3 अस्या: सर्वस्या संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ।
6- ह्विटने, अथर्ववेद का अनुवाद पृ० 397 मंत्र 7.13.3
7- ग्रिफिथ द हिम्स आव द अथर्ववेद, पृ० 230, भाग 2, बनारस 1917
दृष्टव्य - डा० राजदात्र मिश्र, अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 2-3
8- अथर्ववेद 7.12.1 सभा च मा समितिं रचनावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।

पास घोड़े, रथ, दास आदि होते थे । उनकी बातों का सभा में महत्व था । राजा उनके विमर्श पर आश्रित थे । कहीं-कहीं सभा का वर्णन धूत क्रीड़ा, नृत्य गान आदि के प्रसंग में भी प्रयुक्त किया गया है । इसके पक्ष में शर्मा का तर्क है कि आदि आर्य पुरुषों को खेलकूद , राजनीति और धर्म में अन्तर नहीं ज्ञात था । अथर्ववेद में सभा भूत प्रेत जादू-टोनों से जुड़ गयी थी ।[1]

समिति के आपदकालीन कर्तव्य - अथर्ववेद में वर्णन है कि राजा अपने शासन में तभी सफल हो सकता था जब समिति उसके अनुकूल हो इसलिए पुरोहित आशीर्वाद देता था कि समिति सदैव राजा के अनुकूल रहे ।[2] सभा व समिति के साथ उसे पुत्री के समान व्यवहार करना पड़ता था ।[3] समिति को प्राचीन साहित्य में युद्ध या संग्राम से समीकृत किया गया है । अथर्ववेद में संग्राम शब्द समिति के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया है । समिति प्रमुख रूप से युद्ध कालीन सभा है । इसका संगठन किस प्रकार होता था यह अज्ञात है किन्तु राज्य की सुरक्षा से इसका संबंध होने के कारण राजा को उसकी अनुमति स्वीकार करनी पड़ती थी । ब्राम्हण पर आतंक करनेवाले शासक के लिए घोर शाप दिया जाता था कि समिति उसके विरुद्ध रहे ।[4] समिति के सदस्यों को साभित्य कहा जाता था ।

डा० एन०सी०बन्दोपाध्याय का मत है कि समिति आम लोगों का संगठन था जिसका राज परिवार के व्यक्तियों से घनिष्ठ संबंध था जो विशेषतः राष्ट्रीय आपदाओं की स्थिति में बुलायी जाती थी ।

के० पी० जायसवाल का मत है कि समिति राष्ट्रीय सभा थी जिसमें सभी व्यक्ति भाग ले सकते थे । यह सर्वोच्च अधिकार प्राप्त संस्था थी जो राजा का निर्वाचन पुर्ननिर्वाचन करती थी । राजा का यह कर्तव्य था कि वह समिति

1- आर० एस० शर्मा - आस्पेक्ट्स आव पोलिटिकल इंस्टीट्यूशन इन ऐंशियण्ट इण्डिया, पृ० 97-98

ऋग्वेद 34.6

अथर्ववेद 31.6

2- अथर्ववेद 6.88.3 ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिहि ।

3- ,, 7.12.1 सभा च मासमितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने ।

4- ,, 5.19.15 नास्मै समितिः कल्पते ।

में हिस्सा ले । यह इन्डो आर्यनों की लोक सभा थी ।[1]

डा० अल्टेकर का मत है - समाज में प्रमुख स्थान रखनेवाले व्यक्ति योद्धा, प्रतिष्ठित परिवारों के गृहपति तथा पुरोहित भी समिति के सदस्य रहे हों । उस युग में पुरोहित भी युद्ध क्षेत्र में महत्व रखता था अत: वह भी इसका सदस्य रहा होगा । समितियों की स्थिति परवर्ती कालीन सामन्तों के सदृश्य थी ।[2]

ग्राम की आपदकालीन भूमिका - ग्राम शासन की ईकाई थी । राजा गांवों को जीत लेता था ।[3] वह गांव की संपति से भाग पाता था ।[4] ग्राम का प्रधान ग्रामणी होता था । त्सिमर ने ग्रामणी को सैनिक कर्मचारी तथा हिवटने ने सेना की टुकड़ी का नायक स्वीकार किया है । अत: ग्रामणी गांव का प्रधान होता था जो नागरिक तथा सैनिक दोनों कार्य करता था । ग्रामणी भी राजाओं, राजकर्त्ताओं तथा सूतों के श्रेणी में उल्लिखित है ।[5] अत: सम्भव है कि यह भी राजा के चुनाव में भाग लेता रहा हो ।

राज्य के उत्पति के सिद्धान्त - सूक्तो व मंत्रों की व्याख्या से राज्य उत्पति के विविध सिद्धान्तों पर भी प्रकाश पड़ता है ।

दैवी उत्पत्ति : इसमें राजा की तुलना देवताओं से की गयी है । राजा परीक्षित मनुष्यों में देव है ।[6] राजा देवों का अंश प्राप्त करनेवाला है ।[7] एक स्थल पर वर्णन है देवगण राजा को अभिषेक के लिए बुलाते हैं ।[8] राजा को इन्द्र का मित्र कहा

1- यू०एन०घोषाल - स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० 349-50 ।

2- अल्टेकर - प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 140

3- अथर्ववेद 9 . 97 . 3 ग्रामजित गोजित वज्रबाहु जयन्तमज्य प्रमृणन्तमोजसा ।

4- ,, 4 . 22 . 2 एमं भज ग्रामे अश्वेषु ।

5- ,, 3 . 5 . 7 ये राजानो राजकृत: सूताग्रामण्यश्च ये ।

6- ,, 20 . 127 . 7 राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवो मर्त्यां अति ।
वैश्वानरस्य सुष्टुतिमा सुनोता परिक्षित ।

7- ,, 1 . 6 . 86 देवानामर्धभागसि त्वमेक वृष्ण भव ।

8- ,, 4 . 9 . 2 आतिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधिब्रुवन ।

गया है ।[1] इन्द्र स्वर्ग में दैवी विश (प्रजा) का शासक था तथा राजा पृथ्वी पर सांसारिक विश का[2] । शासक वर्ग की उत्पत्ति विराट पुरुष के बाहु से हुई है ।[3]

सामाजिक अनुबन्ध-सिद्धान्त - इस काल के राजत्व में सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त के भी तत्व थे । राजा का राज्य तभी तक स्थित था जब तक प्रजाजन का उसमें विश्वास था ।[4] उसका शासन तभी तक सफल हो सकता था जब तक वह समिति को अपने अनुकूल रखने में समर्थ होता था ।[5] इसके अतिरिक्त प्रजा ने उसे बदले में कर (बलि) देना स्वीकार किया था ।[6] काशी प्रसाद जायसवाल ने इस प्रकार के राजतन्त्र को अनुबन्धिक राजतन्त्र (कान्ट्रैक्चुअल मोनार्की) कहा है ।[7]

विकासवादी सिद्धान्त - अथर्ववेद में वर्णन प्राप्त होता है कि निश्चय ही पहले विराटमय संसार था उसके उत्पन्न होते ही लोग डर गये कि सर्वदा उसी प्रकार की अवस्था रहेगी (इसके बाद) उसका पदार्पण क्रमशः गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नियों में हुआ । तत्पश्चात् उसका उत्क्रमण हुआ और वह सभा में प्रविष्ट हुई जो इस रहस्य को जानता था वह सभा का सदस्य होता है । पुनः वह समिति में प्रविष्ट हुई जो इस प्रकार इसे जानता था वह समिति का सदस्य बना अन्त में वह उछलकर आमंत्रण में गयी जो इसे जानता वह आमंत्रण के योग्य होता है ।[8]

1- अथर्ववेद 4.22.7 एक वृष इन्द्रसखा जिगीवाँ ।

2- ,, 6.98.2 त्वमिन्द्राधिराजः श्रवयुस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् ।
त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत् क्षत्र मजरं ते अस्तु ।

3- ,, 19.6.6 बाहूराजन्योऽभवत् ।

4- ,, 6.87.1 विशस्त्वा सर्वा वान्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत ।

5- ,, 6.88.3 ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ।

6- ,, 12.1.60 वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ।

7- काशी प्रसाद जायसवाल - हिन्दू पौलिटी, भाग 1।पृ० 191

8- अथर्ववेद 8.10.1-7 विराड वा इदमग्र आसीत् ------------

--------------- स एव वेद ।।

डा० अल्टेकर का मत है कि उपलब्ध प्रमाणों से स्पष्ट है कि अन्य आर्य जातियों की भाँति भारत में भी प्रागैतिहासिक काल में संयुक्त कुटुम्ब से ही शासन संस्था का विकास हुआ । कुटुम्ब में गृहपति का आदर व सम्मान स्वाभाविक था ग्राम के मुखिया और जनपति भी इसी सम्मान के भाजन हुए ।[1]

राज्य के घटक - अथर्ववेद में राज्य के संपूर्ण घटकों का यत्र-तत्र वर्णन उपलब्ध होता है ।

(1) स्वामी - अथर्ववेद में राज्य का राजा स्वामी होता था । इसका पद प्रतिष्ठित एवं उत्तरदायित्व पूर्ण होता था । वह विशपति व एकराट कहा जाता था ।[2]

(2) आमात्य)
(3) मित्र)- राज्य का दूसरा घटक आमात्य वर्ग होता था जो लोग राजा को समुचित मन्त्रणा देते थे । अथर्ववेद में सभा व समिति के पश्चात आमंत्रण नामक एक संस्था का प्रसंग है इसी में मित्र का भी वर्णन प्राप्त होता है ।[3]

(4) कोश - विशपति (प्रजापति) के दो कर्मचारियों (दातारों) का एक स्थान पर उल्लेख है इनमें से एक धन लानेवाला है दूसरा धन संग्रह करनेवाला है । ये दोनों बहुत साधन दिलानेवाले कहे गये हैं । अन्यत्र देवों की नगरी का वर्णन है जिसमें सोने के कोश का उल्लेख है ।[4]

(5) राष्ट्र - प्रत्येक दम्पति से राष्ट्र की उन्नति में योगदान की कामना की जाती थी ।[5]

1- डा० ए०एस०अल्टेकर - प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 29-30, 1954

2- अथर्ववेद 3.4.1 विशां पतिरेकराट् त्वं विराज ।

3- ,, 5. 19.15 न्वास्मै समिति: कल्पते न मित्रं नयते वशर्म ।

4- ,, 10.2 31 अष्टाचक्र नवद्वारा देवानां पु: अयोध्या ।
तस्या हिरण्यय: कोश: स्वर्गो ज्योतिषावृत: ।।

5- ,, 6. 78.2 अभिवर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम् ।

(6) दुर्ग - दुर्ग के अर्थ में पुर शब्द प्रयुक्त होता था । दुर्ग को लोहे के समान अभेद्य बनाया जाता था ।[1]

(7) बल - प्रत्येक राष्ट्र में सेना (बल) रहती थी । विश (प्रजा) का अनुगमन करनेवाले राजा की सेना उसका अनुगमन करती थी ।[2]

राजा के सामान्य व आपत् कर्तव्य - (राजा, राजत्व निर्वाचन व प्रतिबन्ध)

अथर्ववैदिक राजसत्ता कठोर नहीं थी । शासक प्रजा पर मनमाना शासन नहीं कर सकता था ।[3] इसका एक मात्र[4] कारण उसका प्रजा द्वारा[5] निर्वाचन था । राजा की प्रतिष्ठा प्रजा[6] पालन में थी । वह सत का पोषक था । वह ब्राह्मणों से शुल्क नहीं लेता था । वह ब्राह्मणों को संपत्ति को बड़ी सावधानी से संरक्षित करता था । वह ब्राह्मण का वध[7] नहीं कर सकता था क्योंकि ऐसा करने से उसके राज्य का नाश संभावित था ।

इस काल में राजा का चुनाव होता था । एक मंत्र में वर्णन है कि प्रजाजन एवं दिशाओं प्रदिशाओं से राजा के चुनाव की प्रार्थना की गयी है ।[8] राजा कई उपाधियां धारण करता था उनमें एकराट, अधिराज, सम्राट, प्रजापति व विशपति प्रमुख थे । राजाओं में श्रेष्ठ राजा को अधिराज कहा जाता था ।[9]

1- अथर्ववेद 19.58.4 पुर: कृणुध्वं आयसी अधृष्टा: ।

2- ,, 15.9.1-2 स विशोनु व्यचलत् । तं ---- सेना सुराचानुव्यचलत् ।

3- ,, 3.4.2 त्वां विशोवृणतां राज्याय ।

4- यजुर्वेद 20.9 विशि राजा प्रतिष्ठित: ।

5- अथर्ववेद 7.25.1 सत्य धर्मा प्रजापति: ।

6- ,, 5.19.3 ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन ये वास्मिन्छुल्कमीषिरे ।
अनस्ते मध्ये कुल्याया: केशान् खादन्त आसते ।।

7- ,, 5.19.6 उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मण यो जिघत्सति ।
परातत् सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणों यत्र जीयते ।।

8- ,, 3.4.2 त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमा: प्रदिश: पञ्च देवी ।

9- ,, 6.98.1 इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयाते ।

राजा पर पुरोहित - प्रजाजन व सभा समिति का अंकुश रहता था क्योंकि वे उसके चुनाव में प्रमुख हिस्सा लेते थे ।[1]

<u>पुरोहित के आपद्कालीन कर्तव्य</u> - पुरोहित युद्ध भूमि में सेना को इस प्रकार प्रोत्साहित करता था " हे वीरो आगे बढ़ो तुम्हारी भुजाएं उग्र रूप धारण करें । तुम्हारे तीक्ष्ण किये हुए बाणों से निर्बल धनुंधारियों का वध हो और अपने उग्र आयुध और प्रचण्ड भुजाओं से निर्बलों को आहत करो ।[2]

पुरोहित के महत्व के विषय में डा० अल्टेकर का मत है कि पुरोहित का वैदिक काल के रत्नियों में प्रमुख स्थान था और वह मंत्री परिषद् का सदस्य था वह राजा का गुरु तथा अपने चमत्कार युक्त अभिचारों द्वारा शत्रुओं से राज्य की रक्षा करनेवाला था ।[3]

प्रो० ए० सी० दास के मत में वह एक शक्तिशाली और योग्य व्यक्ति था । वह दैविक शक्तियों से मानव कल्याण देखता था । उसने बिखरे हुए गांवों का एक संघ बनाया और उसका निर्देशन किया ।[4]

<u>सेना के आपद्कालीन कार्य</u> - राजा सेना का प्रमुख था । वह अपने पराक्रम से ही शासन कार्य करता था । वह शत्रुओं के लिए वह व्याघ्र के समान भयावह था । राज्याभिषेक के समय वह व्याघ्र चर्म पर बैठता था ऐसा विश्वास था कि व्याघ्र चर्म के संपर्क से वह व्याघ्र के समान अजय हो जायेगा ।[5] राजा अपनी सेना को शत्रु सेना से पृथक करने के लिए उसका एक निश्चित ध्वज या केतु रहता था । एक स्थल पर ध्वज धारिणि सेना के पृथक जयघोष का विवरण है ।[6] दूसरे मंत्र में

1- डा० राजनाथ मिश्र : अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 15

2- अथर्ववेद 3.19.7 प्रेता जयतां नर उग्रा वः सन्तु बाहवः । तीक्ष्णेषवोबल धन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्र बाहवः ।

3- डा० अल्टेकर, स्टेट्स एण्ड गवर्मेण्ट इन ऐंशियण्ट इण्डिया, पृ० 168

4- ए०सी०दास - ऋग्वैदिक कल्चर, पृ० 304

5- डा० अल्टेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 240

6- अथर्ववेद 4.19.6 पृथग घोषा उलुलयः केतुमन्तः उदीरताम् । देवा इन्द्र ज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ।

सूर्यपताका वाली देवसेना के विजय की अभिलाषा प्रकट की गयी है ।[1]

युद्ध में कूट, इन्द्रजाल आदि का प्रयोग होता था । एक मंत्र में कूट को विरोधी सेना को हजारों टुकड़ों में बाँट कर वध करनेवाला कहा गया है ।[2]

प्रो० दीक्षितार कूट को छिपकर युद्ध करने की एक विधि मानते हैं।[3]

600 ई० पू० 320 ई०पू० तक

500 ई०पू० में प्रचलित चाँदी और ताँबे के सिक्के उस काल के व्यवसाय और व्यापार का प्रतिनिधित्व करते हैं । उस समय पंचमार्क सिक्कों का प्रचलन था और जो तत्कालीन राजनीति के अन्तर्गत व्यापार विनिमय के परिचायक है । इसी समय समाज के उच्च वर्गों में नार्थ ब्लैक पालिशडवेयर का भी प्रचलन हुआ, ये व्यापार और वाणिज्य के आय के प्रमुख स्रोत थे । इसी काल में व्यापारियों का एक वर्ग सेठी कहलाया जिनको तत्कालीन समाज व राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता है ।[4]

उस काल में मगध कोशल दो बड़े शक्तिशाली राज्य थे जहाँ पर परंपरागत रूप से क्षत्रिय वर्ण शासन कर रहा था । ई०पू० 450 तक अंग विदेह काशी व कोशल देश मगध में सम्मिलित हो चुके थे । सिकन्दर के अभियान के समय नन्द साम्राज्य में पूरा उत्तर प्रदेश, बिहार व बंगाल अन्तर्भूत हो चुके थे । नन्द अपने लिए सम्राट व एकराट की उपाधि धारण करते थे । इस प्रकार उनके राज्य में शासन सत्ता का केन्द्रियकरण हुआ । उसकी सेना में 3,000 हाथी, 20,000 घुड़सवार 2,00,000 पादचारी सैनिक थे ।[5]

1- अथर्ववेद 5.21.2 एता देवसेना: सूर्यकेतव: सचेतस: ।
अभित्राननो जयन्तु स्वाहा ।

2- ,, 8.8.16 अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रश: ।

3- दीक्षितार - वार इन एंशियंट इण्डिया, पृ० 86
द्रष्टव्य - डा० राजदात्र मिश्र, अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 91.

4- डा० आर०एस०शर्मा : आस्पेक्टस आव पोलिटिकल इंस्टिट्यूशन्स इन एंशियण्ट इंडिया, पृ० 276

5- ए०एस० अल्टेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 242

इस काल में वैदिक परिषदें सभा व समिति तथा कबिलाई समाज लुप्त प्राय हो चुके थे उनका स्थान वर्ण व्यवस्था नृपतंत्र व गणतंत्रात्मक व्यवस्था ले चुकी थी यद्यपि धर्मसूत्रकारों ने ब्राह्मणों की परिषदों का उल्लेख किया है किन्तु वे परिषदें छोटे गणराज्यों में थी जैसे शाक्य वलिच्छिवि गणराज्यों में थी। छोटे-छोटे गणराज्यों के राजा अपने को राजन कहते थे उनका अलग-अलग स्वतन्त्र अस्तित्व था । किन्तु ब्राह्मणों का इन गणराज्यों में कोई विशेष महत्व नहीं था और ब्राह्मण विधि निर्माताओं ने अपने धर्मसूत्रों में इनका कोई जिक्र नहीं किया है । मौर्य काल तक गण राज्य व्यवस्था कमजोर हो चुकी थी ।जबकि बुद्ध काल में गण राज्यों का शासन तंत्र में प्रमुख स्थान था ।[1]

धर्मसूत्रों की तिथि भी 600 ई0 पू0 से 300 ई0 पू0 है, इसमें भी राजा के कर्तव्यों का वर्णन है जिससे राजतन्त्र का आभास मिलता है । आपस्तम्ब धर्मसूत्र में वर्णन है कि राजा को अपने गुरुओं तथा मंत्रियों की अपेक्षा अधिक आराम का जीवन नहीं व्यतीत करना चाहिए । उसके राज्य में अभाव के कारण अथवा जान बूझकर किसी को भूख, रोग, शीतताप आदि का कष्ट नहीं पहुँचना चाहिए ।जिस राजा के राज्य में ग्राम में अथवा वन में चोरों का भय नहीं होता वही कल्याणकारी राजा होता है ।[2] इसमें आगे वर्णन है कि इन सीमाओं के भीतर जो भी सम्पति चोरी हो उसे इन्हीं रक्षा पुरुषों से चुकता कराया जाय ।[3] इस प्रकार से राज्य कर्मचारियों को भी बड़े अनुशासन का पालन करना पड़ता था । कर व्यवस्था के बारे में वर्णन है कि विद्वान श्रोत्रिय ब्राह्मण तथा स्त्रियाँ

1- आर0 एस0 शर्मा - आस्पेक्ट्स ऑव पोलिटिकल इन्स्टट्यूशन इन एंशियण्ट इण्डिया, पृ0 282-283

2- आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2.25.10.10,11,15 गुरुनमात्यांश्च नातिजीवेत् ।
न चास्य विषये क्षुधा रोगेण हिमातपाभ्यां वाऽवसीदेदभावाद्बुद्धिपूर्वं वा कश्चित् ।
क्षेमकृद्राजा यस्य विषये ग्रामेऽरण्ये वा तस्कर भयं न विद्यते ।

3- ,, ,, 2.26.10.8 तत्र यन्मुष्यते तैस्तत्प्रतिदाप्यम् ।

(सभी वर्णों की) कर मुक्त थे ।[1] इस काल में दण्ड व्यवस्था भी थी यदि कोई पुरुष किसी स्त्री के साथ मैथुन व्यवहार बिना उसकी अनुमति से करता तो उसे कड़े अंग भंग का दण्ड या आर्थिक दण्ड देना पड़ता था और ऐसी स्त्रियों की रक्षा राजा करता था ।[2]

300 ई०पू० - 300 ई०

इस काल के अन्तर्गत कौटिल्य अर्थशास्त्र तथा मनु स्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति की चर्चा की जायेगी । प्राचीन भारतीय राजनैतिक घटनाओं के दृष्टिकोण से इस समय मौर्य वंश , ब्राह्मण वंश तथा (विदेशी आक्रमणों) कुषाणों के राज्यकाल का विवरण प्राप्त होता है । डा० अल्टेकर ने 200 ई० पू० से 300 ई० तक के भारतीय राजनैतिक इतिहास को अंधकार युग की संज्ञा दी है ।[3]

सिकन्दर के अभियान के समय पंजाब, सिन्धु, कोशल व उत्तरी बिहार में अनेक गणतन्त्र राज्य थे किन्तु अर्थशास्त्र में उसकी विशेष चर्चा नहीं की गयी है केवल एक ही अध्याय में उनमें फूट डालकर कैसे विनाश किया जा सकता है इसका वर्णन आया है । यह बहुत संभव है कि मौर्य साम्राज्य में अल्पसंख्यक गणतन्त्र राज्य विलीन हुए होंगे इसलिए अर्थशास्त्र उनके विषय में विस्तृत वर्णन नहीं करता । कौटिल्य अर्थशास्त्र में नन्दराजा के विनाश का उल्लेख अन्तिम अध्याय में प्राप्त होता है वर्णन है कि " जिसने शास्त्र शस्त्र और नन्दराजा के अधीनस्थ भूमि का शीघ्र उद्धार अपने क्रोध से किया उसी विष्णुगुप्त कौटिल्य ने इस अर्थशास्त्र विषयक ग्रंथ की रचना की है । यही अर्थशास्त्र धर्म,अर्थ तथा काम में प्रवृत करता है उनकी रक्षा करता है और अर्थ के विरोधी अधर्मों को नष्ट करता है ।[4]

1- आपस्तम्ब धर्मसूत्र 2.26.10,10,11 अकर: श्रोत्रिय ।
सर्व वर्णानांच स्त्रिय: ।

2- ,, 2.26.10.18-23 अबुद्धि पूर्व मलङ्कृतो युवा -------
--------- उर्ध्व मैथुनात्

3- डा० ए०एस०अल्टेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति,पृ० 255

4- कौटिल्य अर्थशास्त्र 18०.1.2 येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भू: ।
अनु० वाचस्पति गैरोला अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम् ।
पृ० 771
18०.1.1 धर्ममर्थं च कामं च प्रवर्तयति पाति च ।
अधर्मानर्थ विद्वेषानिदं शास्त्रं निहन्ति च ।।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में एक पूर्ण व स्वतन्त्र राजतंत्र की अभिव्यंजना प्राप्त होती है इसके वर्णनों से यह परिलक्षित होता है कि राज्य के नीति निर्धारण में धर्म के आदर्शात्मक रूप का महत्व कम था । धार्मिक पाखण्डों से ज्यादे प्रमुखता राजनीति निर्धारण तथा कूटनीति को दिया । इसमें धर्म का महत्व अपेक्षाकृत न्यून था तथा राज्य का महत्व ज्यादे थे ।[1]

कौटिल्य का मत है कि चारों वर्ण चारों आश्रम सम्पूर्ण लोकाचार और नष्ट होते हुए सभी धर्मों का रक्षक राजा है इसलिए उसे धर्म का प्रवर्तक माना जाता है । धर्मपूर्वक प्रजा पर शासन करना ही राजा का निजी धर्म है वही उसको स्वर्ग तक ले जाता है । इसके विपरीत प्रजा की रक्षा न कर उसे पीड़ा पहुंचानेवाला राजा कभी भी सुखी नहीं रहता है ।[2] कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजनीति का बड़ा ही व्यवहारिक रूप प्राप्त होता है वैसे तो सभी ग्रंथों में राजा की तुलना देवताओं से की गयी है किन्तु अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने राजा को वेतनभोगी नौकर कहा है अर्थात् वह प्रजा का सेवक है एक स्थल पर वर्णन है कि विजिगीषु को चाहिए कि वह अपनी संगठित सेना से कहे कि मैं भी आपके ही समान वेतनभोगी नौकर हूं । आप लोगों के साथ ही मैं इस राज्य का उपयोग कर सकता हूं । इसलिए जिसको मैं शत्रु बताऊं वह आप लोगों के हाथों अवश्य मारा जाना चाहिए । इस प्रकार सेना को उत्साहित करना चाहिए । जो फल यज्ञानुष्ठान के बाद और दक्षिणा दिये जाने पर यजमान को मिलता है वही फल वीर गति प्राप्त सैनिकों को मिलता है । इस प्रकार से सेना को उत्साहित करे (आपत्तिकाल में आह्य युद्धों के समय) । अनेक यज्ञों को करके कठिन तप करके और अनेक सुपात्रों को दान देकर ब्राह्मण लोग जिस उच्च गति को प्राप्त करते हैं ।[3] शूरवीर क्षत्रिय धर्म युद्ध करके प्राणोत्सर्ग कर उस उच्च गति को प्राप्त करते हैं ।

1- डा० आर०एस०शर्मा : आस्पेक्टस आव पोलिटिकल आइडियाज़ एण्ड इंस्टीट्यूशन इन एंशिएण्ट इंडिया, पृ० 192

2- कौटिल्य अर्थशास्त्र 56.57.1 1.4 चतुर्वर्णाश्रमस्यायं लोकस्याचाररक्षणात् ।
नश्यतां सर्वधर्माणां राजधर्म प्रवर्तकः ।।
अनु० वाचस्पति गैरोला, पृ० 259 राज्ञः स्वधर्मः स्वर्गाय प्रजा धर्मेण रक्षितुः ।
अरक्षितुर्वा क्षेप्तुर्वा मिथ्यादण्डमतोऽन्यथा ।।

3- ,, ,, 150.152 5,6 संहत्य दण्डं ब्रूयात् ---------
पृ० 646 -------------- परित्यजन्तः ।।

इस प्रकार से मंत्री और पुरोहित द्वारा सैनिकों को प्रोत्साहित किया जाय । कौटिल्य अर्थशास्त्र राजनीति विषयक कूटनीतिक आख्यानों से भरा एक वृहद तथा प्राचीन ग्रंथ है इसमें हर प्रकार के छल कपट, प्रपंच, रहस्यों का व्याख्यात्मक विवरण आचार्य कौटिल्य ने प्रस्तुत किया जो एक राजा के लिए अति आवश्यक था इसी के माध्यम से वह अपने देश की वाह्य तथा अभ्यान्तरिक आपत्तियों से रक्षा कर प्रजा के दैहिक दैविक भौतिक कल्याण कर सकता था । कौटिल्य के ही संरक्षण में चन्द्रगुप्त मौर्य ने एक विस्तृत तथा सुसंगठित साम्राज्य की स्थापना की थी जो उसके बुद्धि प्रखरता का परिचायक है । यही ग्रंथ बाद के कालों में भी राजनीति विषयक ग्रंथों की नींव साबित हुई । एक स्थल पर इसमें वर्णन प्राप्त होता है कि राजा उसको कहते हैं कि जो नीतिशास्त्र के अनुसार राज्य का संचालन करे । अपने देश से जुड़ी हुई राज्य सीमा का राजा अपना शत्रु है । एक राज्य के बाद अगला राजा अपना मित्र है किसी कारणवश कोई राजा शत्रु या मित्र बनता है । कमजोर को संधि कर लेनी चाहिए तेज से ही कार्य सिद्ध होता है । मनुष्य अपनी विपत्तियों का निवारण अपने कौशल से करना चाहिए । किसी कार्य में विपत्ति के आ जाने पर मूर्ख व्यक्ति उसमें दोष दिखाते हैं ।[1] इस प्रकार के विविध कूटनीतिक आख्यान कौटिल्य अर्थशास्त्र में उपलब्ध होते हैं जिनका पालन कर एक राजा अपने देश की विपत्तियों से रक्षा कर सकता है ।

मौर्य काल में सर्वत्र नृपतंत्र ही विद्यमान था । राजपद आनुवंशिक हुआ करता था । उस समय के किसी भी ग्रंथ या विदेशी वृत्तान्त में राजा के निर्वाचन का उल्लेख नहीं आता । राजा के राज्य कार्यों में सहयोग देने के लिए मंत्री, कोष, बल, सेना, मित्र, दुर्ग आदि थे (जिनके आपत्कर्त्तव्यों का

1-कौटिल्य अर्थशास्त्र (चाणक्य प्रणीतसूत्र 48-53, 124-125)

नीतिशास्त्रानुगो राजा । अनन्तर प्रकृति: शत्रु: एकान्तरितं मित्रमिष्यते । हेतुत: शत्रुमित्रे भविष्यत: । हीयमान: संधि कुर्वीत । तेजो हि सन्धानहेतुस्तदर्थनाम् ।
मानुषो कार्य विपत्तिं कौशलेन विनिवारयेत् ।
कार्य विपत्तौ दोषान् वर्णयन्ति बालिशा: ।

वर्णन पिछले अध्याय 3 के " ड " खण्ड में किया जा चुका है यहाँ मात्र सामाजिक गतिशीलता को दर्शित करना ही मूल ध्येय है)

२०० ई०पू० से 300 ई० तक हिन्दुस्तान में अनेक राज्य हुए । इस काल खण्ड में शुंग, कण्व, सातवाहनों का राज्य था तथा विदेशी राजा भी राज्य किये जैसे इन्डोबैक्ट्रियन , इंडोसिथियन, इंडोपार्थियन, कुषाण आदि । विदेशी राजा थोड़े ही समय में हिन्दू संस्कृति से प्रभावित हो जाते थे । इसलिए उनकी शासन पद्धति हिन्दू शासन पद्धति से विशेष भिन्न नहीं थी । (रुद्रदामन के गिरिनार शिलालेख से हमें हिन्दू संस्कृति के प्रभाव की रूपरेखा विदित होती है । विदेशी होते हुए भी शक शासक रुद्रदामन ने हिन्दू नीतिशास्त्र के सिद्धान्त अपनाये थे और वह इसलिए प्रयत्नशील रहता था कि उसकी शासन पद्धति हिन्दू सिद्धान्तों के अनुकूल हो ।[1]

मौर्य वंश के अन्तिम निर्बल शासक वृहद्रथ का वध कर उसके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग (185 ई०पू०) ने शुंग वंश की स्थापना की । शुंग लोग साधारणत: भरद्वाज गोत्रिय ब्राह्मण थे । कालिदास ने अपने ग्रंथ मालविकाग्निमित्रम् में पुष्यमित्र को बैम्बिक कुल का कश्यप गोत्रिय ब्राह्मण बताया है । पाणिनी ने शुंगों को भरद्वाज गोत्रिय ब्राह्मण माना है ।[2] इस काल खण्ड के अन्तर्गत राज्य करनेवाले शुंग,कण्व तथा सातवाहन शासक ब्राह्मण वंशिय थे, ब्राह्मणों द्वारा राज्य शासन करना उनका आपद्धर्म था जैसा कि धर्मसूत्रों में कहा जा चुका है । इस काल में ब्राह्मण धर्म की दुन्दुभी बज रही थी । ब्राह्मण धर्म तथा विदेशी शासकों द्वारा अपनाये गये बौद्ध धर्म का स्तर शीर्षस्थ था ।[3] इस काल की रचना मनुस्मृति में भी ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का प्रमाण मिलता है । दस वर्ष का ब्राह्मण और सौ वर्ष का क्षत्रिय दोनों को पिता पुत्र समझना चाहिए, दोनों में ब्राह्मण पिता के समान है ।[4]

1- डा० ए०एस०अल्टेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 235

2- डा० विमल चन्द्र पाण्डेय - प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 111

3- डा० आर०एस०शर्मा : आस्पेक्टस आव पालिटिकल इन्स्टीट्यूशन इन एंशियण्ट इण्डिया, पृ० 291

4- मनुस्मृति 2. 135 ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम् ।
पिता पुत्रौ विजानीयाद् ब्राह्मणस्तु तयो: पिता ।।

मनुस्मृति (200 ई०पू० से 200 ई०) में विदेशियों का भी वर्णन प्राप्त होता है कि पौड्रक, औड्र, द्रविण, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश - ये क्रियालोपादि के कारण शूद्रत्व को प्राप्त हो गयी है ।[1] इसमें यह भी कहा गया है कि शूद्र द्वारा शासित देश में स्नातक को नहीं रहना चाहिए अर्थात् यह संभव है कि विदेशी राजाओं को मनु ने शूद्र कहा है जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कुषाणों का शासन काल रहा होगा ।

मौर्ययुगीन विशाल साम्राज्य के महान सम्राट चन्द्रगुप्त और अशोक ने अपने लिए केवल राजा की पदवी धारण की थी, अशोक के अभि० में उसे देवानां प्रिय प्रियदर्शी कहा गया है, किन्तु इस काल में कनिष्क जैसे विदेशी शासक अपने को "महाराजाधिराज" "देवपुत्र" कहता था । कुषाण राजाओं की "देवपुत्र" पदवी (इसका वर्णन गुप्त अभिलेखों में भी प्राप्त होता है समुद्र गुप्त के प्रयाग प्रशस्ति में "देवपुत्रशाहि" कहा गया है) यह दर्शित करती है कि इस समय राजा में देवत्व की कल्पना दृढ़ मूल होने लगी थी । मथुरा में कुषाणों का एक देवकुल भी था जिसमें मृत राजाओं की मूर्तियां रखी जाती थी व संभवतः पूजा की जाती थी । यह प्रथा इस समय रोमन साम्राज्य में भी प्रादुर्भूत थी ।[2] इसी तरह की मनुस्मृति में भी वर्णन प्राप्त होता है कि ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण चन्द्रमा और कुबेर इन आठ देवताओं का सारभूत अंश लेकर राजा को उत्पन्न किया है ।[3] उसे इन्हीं के तेज के समान व्यवहार भी करना चाहिए ।[4]

मनुस्मृति में भी राजा के आपत्कर्तव्यों की बड़ी सुन्दर विवेचना की गयी है । इसमें वर्णन है कि शत्रु उसके छिद्र को न जाने किन्तु वह शत्रु के छिद्र को जान ले, कछुआ जैसे अपने अंगों को छिपाता है वैसे ही राजा भी अपने आमात्यादि अंगों को (दान-सम्मान से) अपने हाथ में रखते हुए अपने छिद्र को न प्रकट होने दे । बगुले की तरह धन लेने की चिन्ता करे, सिंह के समान पराक्रम करे

1- मनु० 10.44 पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः ।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ।।

2- डा० ए०एस०अल्टेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 255

3- मनुस्मृति 7.4 - इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्र वित्तेश योश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ।।

4- ,, 9.303 -- तेजोवृत्तं नृपश्चरेत् ।

भेड़िये के समान अवसर पाकर शत्रु को मार डाले और शत्रुओं से घिर जाने पर खरहे की तरह से भाग निकले । इस प्रकार विजयी राजा सामादि उपायों से अपने सभी शत्रुओं को वश में ले ।"[1]

मनुस्मृति में राजा को ही युग कहा गया है । राजा सुप्तावस्था में कलि होता है, सोने से जागने पर द्वापर, कर्म करने में उद्यत होने पर त्रेता और कर्म करता हुआ सत्ययुग होता है ।[2] अर्थात् एक राजा अपने कर्मों द्वारा ही राज्यकाल में सत्ययुग से कलियुग और कलियुग से सत्ययुग में परिवर्तित कर सकता है जो उसके राजा के उत्थान व पतनोन्मुख दशाओं के सूचक हैं ।

याज्ञवल्क्य स्मृति (100 ई०-300 ई०) में भी मनु के मतों का समर्थन किया गया है । इसमें भी राजा के सामान्य एवं आपत्कर्तव्यों का वर्णन संक्षिप्त रूप से उपलब्ध होता है । इसमें राजा को यह सुझाव दिया गया है कि सन्धि-विग्रह (अपकार) यान (चढ़ाई) उपेक्षाभाव, बलवान का आश्रय तथा अपनी सेना का द्विधा विभाजन इन गुणों का यथोचित देशकाल शक्ति, मित्र आदि का विचार कर आलम्बन करे । जब शत्रु का राज्य अन्नादि से भरा पूरा हो शत्रु की सेना दुर्बल हो और अपनी सेना के अश्वादि वाहन एवं सैनिक प्रसन्न हो तब आक्रमण करे ।[3] कोष संग्रह के विषय में वर्णन है जो राजा अन्यायपूर्वक अपनी प्रजा से धन लेकर अपने कोश को भरता है वह शीघ्र ही श्रीहीन होकर बान्धवों सहित नष्ट हो जाता है ।[4]

300 ई० - 600 ई०

इस काल खण्ड में गणतन्त्रों का धीरे-धीरे लोप हो गया । पंजाब व राजस्थान में पहले के समान इस समय भी कुणिंद यौधेय, आर्जुनायन, मालव

1-मनुस्मृति 7.105-107 नास्य छिद्रं परो ----

---------- सर्वान्सामादिभिरुपक्रमै ।।

2- ,, 9.302 कलि: प्रसुप्तो भवति स जाग्रद्द्वापरं युगम् ।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ।।

3- याज्ञवल्क्य स्मृति 13.347,348 संधिं च विग्रहं.

....

....

.... हृष्टवाहनपूरुष: ।।

4- ,, ,, 13.340 अन्यायेन नृपो .... सबान्धव: ।

इत्यादि गण थे । प्रार्जुन, सनकानीक काक व अभीर गणतन्त्र मध्य भारत में थे । वे आकार में बहुत छोटे थे । लिच्छवियों का प्राचीन गणतन्त्र इस समय नृपतंत्र बन गया था । गुप्त साम्राज्य में मिल जाने से उसका 350 ई० के लगभग अन्त हो गया ।[1] ऐतिहासिक कालक्रम की दृष्टि से यह काल समुद्र गुप्त का था इसकी पुष्टि उसके प्रयाग प्रशस्ती से भी होती है कि इन गणराज्यों को समुद्रगुप्त ने अपने अधीन किया था ।[2] इस प्रकार से गणतन्त्रों का लोप होने पर इस काल में सर्वत्र नृपतंत्र ही विद्यमान था ।

यह काल पूर्ण रूप से युद्धमय था । महाराजाधिराज सम्राट समुद्रगुप्त ने अनेकों विजयश्री की उपाधियाँ अर्जित की थी । इसके प्रबल साक्ष्य उसकी प्रयाग प्रशस्ति है जिसमें उसे विविध युद्धों का विजेता तथा सर्व पृथ्वी विजयी कहा गया है ।[3] समुद्रगुप्त ने अश्वमेध किया था जिसका प्रभाव उसके परगामी वंशजो के लेख में उसके लिए' चिरोत्सन्नाश्वमधाहर्तु:' शब्द लिखा गया है जिसका अर्थ है दीर्घकाल से परित्यक्त अश्वमेध यज्ञ का उद्धार समुद्रगुप्त ने किया था तथा इसका दूसरा प्रमाण उसकी अश्वमेधपराक्रम: लिखित स्वर्ण मुद्राएं हैं ।[4] अन्य गुप्त नरेशों के अभिलेखों में युद्धों का वर्णन प्राप्त होता है अर्थात् राज्य शासन में स्थिरता तथा सुरक्षा और सीमा विस्तार के लिए युद्ध एक आवश्यक क्रियाकलाप थी ।

इस काल में रानियाँ व राज कन्याएं राज संचालन में हाथ बंटाती हुई प्रत्यक्षत: नहीं दिखती हैं । प्रथम चन्द्रगुप्त की रानी, कुमारदेवी संभवत: सहाधिकारिणी थी । यद्यपि उसका नाम पति के नाम के साथ सिक्कों पर आता है तथापि वह प्रत्यक्ष शासन कार्य करती हुई नहीं दीखती हैं । द्वितीय चन्द्रगुप्त की

1- ए०एस०अल्टेकर , प्राचीन भारतीय शासन पद्धति ,पृ० 258

2- गुप्ताभिलेख संग्रह फ्लीट (अभि०) 'मालवार्जुनायनयौधेयमाद्रकाभीर प्रार्जुनसनकानीक काक खरपरिकादिभिश्च सर्वकर दानाज्ञाकरण प्रणामागमन परितोषित प्रचण्ड शासनस्य' ।

3- ,, तस्य विविध समर शतावतरण दक्षास्य स्वभुज बल पराक्रमैकबन्धो ।'
सर्वपृथ्वी विजय ....

4- डा० विमल चन्द्र पाण्डेय - प्राचीन भारत का इतिहास , पृ० 64

रानी भी ऐसा शासन कार्य नहीं करती थी । किन्तु राजा नाबालिग हो, तो विधवा, राजमाता राज संचालन का भार संभालती थी जैसे वाकाटकवंशीय रानी प्रभावती गुप्ता ने किया था । अर्थात् आपत्तिकाल में स्त्रियां भी शासन कार्यों में सहयोग देती थी ।

शासन विषयक, सेना विषयक व न्याय विषयक सब अधिकार राजा में केन्द्रित थे उसकी सहायता करने के लिए एक मंत्री मण्डल अवश्य था किन्तु अन्तिम निर्णय राजा लेता था । महत्व के युद्धों में राजा ही सेनापतित्व करता था जैसे कि समुद्रगुप्त ने दक्षिण विजय में, चन्द्रगुप्त ने शकों के साथ लड़ाई में व स्कन्दगुप्त ने पुष्य मित्रों के विद्रोह के समय किया था। बड़े व महत्व के स्थानों पर राजा ही नियुक्तियां करता था व वे अधिकारी उसी के प्रति ज़िम्मेदार रहते थे।[1]

इसी काल में महाभारत के कुछ अंशों की रचना हुई थी । महाभारत में राजधर्म से संबंधित एक अलग अध्याय ही है जिसमें राजा के सामान्य व आपत्कर्त्तव्यों का व्याख्यात्मक दृष्टान्तों के माध्यम से विश्लेषण किया गया है । कूटनीति, संधि विग्रह, शत्रु मित्र आदि के वर्णन करते समय अपने पूर्ववर्ती आचार्यों कौटिल्य और मनु के नियमों को मान्यता दी गयी है । यह बहुत संभव है कि दृष्टान्तों को कूटनीतिक व्याख्या में वातावरण व परिप्रेक्ष्य का विशेष महत्व रहा हो ।

महाभारत में राजा के आपद्धर्मों (कूटनीति, संधिविग्रह, शत्रुमित्र) का विवेचन विविध दृष्टान्तों तथा पशु पक्षियों के माध्यम से किया गया है जिनमें पूजनी चिड़िया और पालित चूहे का आख्यान बहुत ही मर्मस्पर्शी है । एक स्थल पर वर्णन प्राप्त होता है कि दुष्ट प्रकृति के लोग मन में बैर रखकर ऊपर से शत्रु को मधुर वचनों द्वारा सान्त्वना देते हैं तदन्तर अवसर पाकर उसे उसी प्रकार पीस डालते हैं जैसे कोई पानी से भरे घड़े को पत्थर पर पटककर चूर-चूर कर दे ।[2]
एक अन्य स्थल पर वर्णन है कि व्यक्ति को दुष्टभार्या, दुष्ट पुत्र, दुष्ट राजा,

---

1- डा० ए०एस०अल्टेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 260

2- महाभारतशान्ति पर्व आपद्धर्म पर्व 139 . 73

उपगुह्य तु वैराणि सान्त्वयन्ति नराधिपा ।

अथैनं प्रतिपिषन्ति पूर्व घटमिवाश्मनि ।।

दुष्ट मित्र, दुष्ट देश और दूषित संबंध को दूर से ही त्याग देना चाहिए ।[1] संधि विग्रह के विषय में वर्णन है वे मौके शुरू किया कार्य करनेवाले के लिए लाभदायक नहीं होता, वही उपयुक्त समय के आने पर आरंभ किया जाय तो महान अर्थ का साधक बन जाता है ।[2] बुद्धिमान विद्वान और नीतिशास्त्र में निपुण पुरुष भारी भयंकर विपत्ति में भी डूब नहीं जाते उससे छूटने की चेष्टा करते हैं । आचार्यों का कथन है कि संकट के समय जीवन रक्षा चाहनेवाले बलवान पुरुष को भी निकटवर्ती शत्रु से मेल-जोल कर लेना चाहिए । विद्वान शत्रु अच्छा होता है मूर्ख मित्र नहीं ।[3] शत्रु मित्र के परख के विषय में भी महाभारत में बहुत ही व्यवहारिक प्रसंग प्राप्त होते हैं इसमें वर्णन है कि न कभी कोई किसी का शत्रु होता है और न मित्र होता है । आवश्यक शक्ति के संबंध में लोग एक दूसरे के शत्रु मित्र हुआ करते हैं । मैत्री कोई स्थिर वस्तु नहीं है । शत्रुता भी सदा स्थिर रहनेवाली चीज़ नहीं है स्वार्थ के संबंध में शत्रु मित्र होते रहते हैं ।[4]

(300 ई० - 600 ई०) इस काल में ब्राह्मणों को भी दण्ड दिया जाने लगा था जो ब्राह्मण पूर्व युगों में धर्मादि कार्य करते थे । वे अब चौरवृत्ति तथा अन्य दुष्कर्मों में संलग्न होते हुए दर्शित होते हैं । पूर्व युगों के ब्राह्मण अपने अच्छे कर्मों के कारण अदण्ड्य, अवध्य पृथ्वी के देवता थे किन्तु अब उन्हें अनुशासन व दण्ड परिधि के अन्दर रहना पड़ा यह पूरे राज्य व समाज के पतनोन्मुख दशा का परिचायक है । कूर्म पुराण में वर्णन है सुवर्ण की चोरी करनेवाला ब्राह्मण राजा के समीप जाकर अपना कर्म बताते हुए यह कहे कि आप मेरा अनुशासन करें । राजा मूसल लेकर स्वयं उसे एक बार मारे । मार पड़ने से (वध) उस ब्राह्मण की चोरी के पाप से शुद्धि हो जाती है अथवा तपस्या द्वारा उसकी शुद्धि हो जाती है । राजा के शासन करने पर (मार, दण्ड देने पर) ब्राह्मणचोर का चोरीपन दूर हो जाता

1- महाभारतशान्ति पर्व आपद्धर्म पर्व 139 .93
कुभार्यां चकुमित्रं च कुराजनं कु सौहृदम् ।
कुसम्बन्ध, कुदेशं, वदुत: परिवर्जयेत् ।।

2- ,, ,, 138 .95 अकाले कृत्यमारब्ध कर्त्तर्नार्थाय कल्पते ।
तदेव काल आरब्ध महतेऽर्थाय कल्पते ।।

3- ,, ,, 138,39,40,46

4- ,, ,, 138-141 नास्ति मैत्री-स्थिरा नाम न च ध्रुवम्-सौहृदम् ।
अर्थयुक्त्यानुजायन्ते मित्राणी रिपवस्तथा ।।

है यदि राजा उसे ऐसा न करे तो चोर की चोरी का पाप राजा को लगता है ।[1]
पुराणों में बहुधा कलिकाल के अराजक राज्य के वृत्तियों का वर्णन प्राप्त होता है इससे ज्ञात होता है कि वर्ण व्यवस्था, वर्णशुद्धता, सदाचार आदि के कर्मों में शिथिलता आ गयी थी । उनके स्थान पर दुराचारी वृत्तियाँ और अराजकता का सर्वत्र बोलबाला था इससे प्रभावित होकर पुराणकारों ने तत्कालीन राजनैतिक व्यवस्था का वर्णन अपने ग्रंथों में किये ।

मत्स्यपुराण (300 ई० - 600 ई०) में वर्णन है कलियुग में विप्र अपने कर्मों से दूषित हो गये थे उनके ही कर्म दोषों के कारण बहुधा प्रजा में भय उत्पन्न हो गया था .... राजा वर्ग में प्राय: शूद्रों की अधिकता थी । चारों ओर पाखण्डी धूर्तों का समुदाय दिखायी देता है, सब का लक्ष्य केवल धर्मों का आडम्बर दिखाकर रोजी कमाना हुआ करता है । शूद्र योनि से समुत्पन्न राजा लोग इस कलियुग में अश्वमेध यज्ञों के द्वारा भजन किया करते हैं । शूद्र वेदों का अध्ययन करते हैं और वे ही धर्म तथा अर्थ के विद्वान होते हैं ।.... देश का उत्सादन होता है । .... इस कलियुग में समस्त वेद होकर भी नहीं हुआ करते अर्थात् निष्फल होते हैं केवल धर्म के हेतु यज्ञ उत्सीदमान हुआ करते हैं ।[2] यह कलिकाल की सामाजिक ,राजनैतिक विश्रृंखलता का परिचायक है । संभव है कि राज धर्म पूर्व युगों में क्षत्रियों का कर्म था और गुप्त युग में गुप्तों द्वारा राजा धर्म क्रियान्वित करने की प्रक्रिया से विक्षुब्ध होकर पुराणों में ऐसा वर्णन किया गया है । ऐलन आयंगर, अल्टेकर ने गुप्तों को वैश्य स्वीकार किया है जबकि डा० जायसवाल गुप्तों को शूद्र. (कारस्कर - कौमुदी महोत्सव में वर्णन है) स्वीकार किया है ।[3] यह भी संभव है कि इसके पूर्व भी कनिष्क आदि विदेशीयों राजाओं का सम्बोधन शूद्र राजा के अर्थ में किया गया हो ।

1- कूर्म पुराण 32.4 - 32.8 सुवर्णस्तेयकृद् विप्रो ....
.... किल्विषम ।।

2- मत्स्यपुराण 57.36-47 विप्राणां कर्म्म दोषैस्ते: प्रजानां जायते भयम्.....
.........उत्सीदन्ते तथा यज्ञा: केवलं धर्म हेतव: ।।

3- डा० विमल चन्द्र पाण्डेय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० 17-18

600 ई० - 1200 ई०

ऐतिहासिक कालक्रम की दृष्टि से यह काल वर्धन काल था, हर्ष के राज्यारोहण की तिथि 606 ई० ज्ञात की गयी है । हर्ष की शासन पद्धति मुख्यत: राजा पर ही अधिष्ठित थी । कौटिल्य व अशोक के समान हर्ष भी यह मानता था कि राजा को हमेशा शासन संचालन में अग्रसर रहना चाहिए । ह्वेनत्सांग कहता है कि राजा हर्ष पूरे दिन कार्य में मग्न रहता था । उसका यह विधान था कि राजा का 1/3 समय शासन संचालन व 1/3 समय धर्म कार्य में व्यतीत होता था , शायद हर्ष के शासन के अन्तिम भाग में यथार्थ था । युवावस्था में जब वह अनेक राज्यों को परास्त करने में कई प्रकार के प्रयत्न कर रहा था तब उसका इतना बड़ा समय धर्म कार्य के लिए रहना बिलकुल असंभव था ।[1]

पूर्व प्रथा के अनुसार मंत्रिमण्डल शासन कार्यों में राजा की मदद करता था । आपत्तिकाल में मंत्रीमण्डल की अहम् भूमिका होती थी किन्तु उसका उल्लेख अभिलेखों में नहीं प्राप्त होता है किन्तु ह्वेनत्सांग ने मौखरि मंत्रिमण्डल के कार्य का विस्तृत वर्णन किया है । जब मौखरि राजा गृहवर्मा की अकस्मात मृत्यु हुई तब मुख्य मंत्री ने मंत्रिमण्डल की एक विशेष बैठक बुलाई और कहा मौखरि-राज्य का भविष्य हमें आज निश्चित करना है । मेरा सुझाव है कि हम सब हर्षवर्धन को मौखरि राज्य समर्पित करें किन्तु मैं चाहता हूं कि आपमें से प्रत्येक अपना निजी मत जो कुछ हों प्रकट करें । सभी मंत्रियों ने मुख्यमंत्री के मत का समर्थन किया । अत: निष्कर्ष यह है कि आपत्तिकाल में मौखरि राज्य की सत्ता मंत्रियों के हाथ में आ गयी थी उनका नेता भी हर्ष बना । अत: हर्ष के काल में भी मंत्रीमण्डल काफी सक्रिय तथा सशक्त रहा होगा ।[2]

दण्ड के विषय में अल्टेकर का मत है कि मौर्य या गुप्त शासन कि तुलना में हर्ष का शासन कम कार्यक्षम था । क्योंकि एक बार स्वयं ह्वेनत्सांग

1- ए०एस० अल्टेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 267

2- वही, पृ० 268

डाकुओं के चंगुल में पड़ गया था जो उसकी बलि देने को तैयार हो गये थे किन्तु आकस्मिक आंधी से वे डाकू डरकर अपने निश्चय को बदल डाले । यह सत्य है कि गुप्त साम्राज्य की तुलना में खतरनाक अपराधों के लिए इस समय क्रूर दण्ड दिया जाता था जैसे कर्ण या नासिक या हस्त या पाद काछेद । ऐसे अपराधियों को देश के बाहर भी निकालने या जंगल में छोड़ देते थे । क्रूर दण्डों के डर से अपराधियों की संख्या कम थी । आर्थिक व भौतिक उन्नति के लिए सरकार सर्तक रहती थी किंतु उसकी व कार्यदामता गुप्त सरकार की तुलना में कम थी व उसमें मौर्यों के समान अनेक विध शासन विभाग भी न थे ।[1]

750 ई० - 975 ई० तक राष्ट्रकूट दक्षिण भारत में राज्य करते थे । इस काल में राजपद आनुवंशिक था । प्राय: ज्येष्ठ पुत्र युवराज होता था । योग्य शिक्षा दीक्षा के पश्चात उसका राज्याभिषेक किया जाता था । कभी-कभी ज्येष्ठ पुत्र के स्थान पर उसका छोटा भाई भी युवराज चुन लिया जाता था जैसे कि तृतीय गोविन्द के बारे में हुआ । लेकिन यह सामान्य परंपरा से सुसंगत नहीं था । युवराज अभिषेक के पश्चात भी गोविन्द को अपने बड़े भाई से लड़ना पड़ा जिसको अनेक राजाओं ने राज्य का योग्य उत्तराधिकारी समझकर मदद पहुंचाई थी । कभी-कभी जेष्ठ पुत्र अपने छोटे भाई द्वारा पदच्युत भी किये जाते थे जैसे कि ध्रुव चतुर्थ गोविन्द के बारे में हुआ था ।

राष्ट्रकूट शासन पद्धति में राजपुत्रियां अधिकार पद पर विराजमान नहीं दीखती है । इस विषय में हमें केवल एक अपवाद प्राप्त होता है, प्रथम अमोघवर्ष की पुत्री चन्द्रवेलब्बा रायचूर दोआब की शासनाधिकारिणी थी (837 ई०) उत्तर चालुक्य में (975 ई० 1150 ई० तक) राजवंशीय स्त्रियों की शासन संचालन में भाग लेने की प्रथा रूढ़ हो गयी । प्रथम सोमेश्वर की एक रानी मैलादेवी, तृतीय जयसिंह की भगिनी अक्कादेवी, षष्ठ विक्रमादित्य की पट्टरानी लक्ष्मीदेवी चालुक्य शासन प्रणाली में बहुत जिम्मेवारी के पद पर शासन संचालन करती हुई दीखती है । राष्ट्रकूट शासनकाल में ध्रुव की रानी शील भट्टारिका स्वयं एक ताम्रपत्र दान करती हुई दीखती है । उसमें उसके पति का नाम निर्देश नहीं मिलता है ।

1- डा० अल्टेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 270

राष्ट्रकूट साम्राज्य के कुछ भागों पर केन्द्रिय सरकार स्वयं शासन करती व कुछ भागों पर माण्डलिक सामन्तों के द्वारा शासन होता था । सामन्त राजा के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करते थे । युद्ध काल में उन्हें पूर्व निश्चित संख्या में सैनिक भेजने पड़ते थे, वे सम्राट के प्रतिनिधि को अपने दरबार में रखने को बाध्य थे । यदि वे विद्रोह करें तो उन्हें बर्बरता से राजा कुचलता था तथा उन्हें अनेकों अपमान सहन करना पड़ता था ।

राष्ट्रकूट सेना में सभी जातियों के सैनिक थे जिनमें ब्राह्मण व जैन भी अंतर्भूत थे, जैन सेनानियों में बंकेय, श्री विजय व भारसिंह प्रमुख थे ।[1]

700 ई० - 1200 ई० तक के राजनैतिक दशाओं का चित्रण करते हुए डा० अल्टेकर का मत है कि इस समय राजपद आनुवंशिक था । राजा के निर्वाचन की कल्पना लोगों को कितनी विचित्र व विक्षिप्त दीखती थी कि यह कल्हण की राजतरंगिणी (1150 ई० - 1160 ई०) से विदित होता है । इस काल खण्ड में युवराज के अभिषेक का वर्णन अनेक अभिलेखों में मिलता है । गढ़वाल अभिलेखों से विदित होता है कि कैसे मदन पाल, गोविन्द चन्द्र व आस्फोट चन्द्र अपने- अपने पिता द्वारा चुने गये थे । पालवंश में त्रिभुवन पाल व राज्यपाल के युवराज अभिषेक के उल्लेख मिलते हैं । पुत्र के अभाव में छोटा भाई या भतीजा युवराज पद पर बैठाया जाता था ।

स्त्रियों द्वारा राज्य शासन प्राय: समाज को मान्य नहीं था । किन्तु वे नाबालिग राजा की अभिभाविका या संरक्षिका हो सकती थी । जैसे काश्मीर की सुगंधा रानी, उड़ीसा के कर-राजवंश की त्रिभुवन महादेवी रानी, दण्ड महादेवी रानी व धर्म महादेवी रानी आदि केवल संरक्षिका ही थी । इसका अपवाद केवल कश्मीर का दीद्दा नामक रानी है जिन्होंने स्वयं अकेले बाईस वर्षों तक राज्य किया किन्तु इन्हें भी राज्य सिंहासन प्राप्त करने के लिए अदम्य उत्साह व कूटनीति का प्रदर्शन करना पड़ा । षड्यंत्र करके तीन राजाओं को परलोक भेजना

1- ए०एस०अल्टेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० 274 ।

राजा का देवत्व अब सर्वमान्य हो चुका था उसको परमेश्वर का अवतार भी मानते थे, राजस्थान के लंतिग देव राजा ने अपनी मूर्ति को प्रस्थापित करने के लिए एक मन्दिर भी बनवाया था ।

शासन कार्य में मंत्री मण्डल अपना हाथ बंटाता था । इस समय कोई-कोई मंत्री बड़े ही स्वामी भक्त होते थे । काश्मीर के एक मंत्री ने राजा को बचाने के लिए आत्म हत्या की थी, किन्तु ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि कुछ राजा मंत्रियों की सलाह नहीं मानते थे । पालवंश के मदन पाल ने मंत्रियों के उपदेश का अनादर किया जिसके फलस्वरूप उसका विनाश हुआ । कभी-कभी कामुक राजाओं की विचित्र लीलाओं तथा राजा की अस्पृश्य जाति की प्रेयसियों से पूरा मंत्री मण्डल संत्रस्त हो जाता था तब भी मंत्री कुछ कर नहीं पाते थे । परस्पर विरोधी उदाहरणों से यह कहना कठिन था कि इस काल का मंत्री मण्डल सशक्त था या दुर्बल । इनके संबंध पारस्परिक योग्यता व स्वभाव पर निर्भर था ।

पूर्वकालीन स्मृतियों व अभिलेखों में मंत्रियों में अपेक्षित गुण इस समय भी आवश्यक समझे जाते थे । इस काल में भी आनुवंशिक मंत्रित्व के उदाहरण अनेक मिलते हैं । चंदेल शासन में प्रभास मंत्री के सात वंशज विभिन्न पांच राजाओं के मंत्री थे । पाल अभिलेखों से ज्ञात होता है कि गर्ग व उसके चार वंशज दर्भपाणि, सोमेश्वर, केदार मिश्र व गौरव मिश्र - राजा धर्मपाल व उसके तीन उत्तराधिकारियों के मंत्री थे ।

शुक्रनीति (2. 140) के आधार पर इस काल को सैन्य संगठन शिथिल था कुछ दस्ते केन्द्रिय सरकार के कुछ सामन्तों के थे । सैन्य शिक्षण कुछ हद तक ग्रामों में दिया जाता था । मालव, खश, कर्णाट, लाट इत्यादि प्रान्त सैनिक शौर्य के लिए प्रसिद्ध था । जो राजा उनको अधिक वेतन देता था उसकी सेना में रहते थे । दस सैनिकों पर गौल्मिक , सौ पर शतानीक , हजार पर सहस्त्रानीक दस हजार पर आयुतिक नाम के अधिकारी थे किन्तु सामंतीय सेनाओं के मिलाने से ये संगठन प्रभावकारी नहीं रह पाता था ।

इस काल में किलों के इन्तजाम पर विशेष ध्यान दिया जाता था । बहुसंख्यक राजा मुसलमानी आक्रमणों के समय किले का आश्रय लेते थे । वहां से युद्ध संचालित करने का प्रयास करते थे ।

इस काल की दक्षिण भारतीय राजनीतिक गतिविधि का वर्णन करते हुए अल्टेकर, का विचार है कि स्मृतियों में यह आदेश है कि बढ़ई, लुहार, आदि धंधों के लोग सरकार के लिए महीने में एक या दो दिन मुफ्त काम करे उनसे शायद दूसरा कर नहीं लिया जाता था किन्तु दक्षिण भारत के तमिल अभिलेख यह दिखाते हैं कि जहाँ ऐसे धंधे के लोगों से कर वसूला जाता था । मालूम पड़ता है कि बेगारी का रूपान्तर आगे चलकर करों से हुआ ।

बाजार, शहर, ग्राम का द्वार नदी के घाट ऐसे स्थानों पर चुंगी ली जाती थी । ऐसा ज्ञात होता है कि नवीं दसवीं सदी में दक्षिण हिन्दुस्तान में भी करों का बोझ क्रमशः बढ़ता जा रहा था । एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि राजाराम के समय जुल्मी कर न देने के कारण एक स्त्री को दिव्य (Ordeal) करने की सजा हुई व उसने ऊबकर आत्म हत्या कर ली । कभी-कभी सब ग्रामवासी जुटकर अन्यायी करों का प्रतिकार भी करते थे व अपने उद्देश्य में सफल भी होते थे । एक अभिलेख में ज्ञात होता है कि तीसरे राजाराम के समय में पाँच नाडुओं के ग्रामीणों ने यह निश्चय किया कि अन्यायपूर्ण करों का वे मिलकर विरोध करे ।[1] एक अन्य अभिलेख में वर्णन है" अन्यायी करों से भाग जाने का विचार कर रहे हैं किन्तु हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हम सरकार द्वारा इस कारण पीसे जाते हैं कि हम मिलकर विरोध नहीं करते । अब हमने निश्चय किया है कि हममें से कोई भी अन्यायी कर नहीं देगा ।[2] यदि सरकार लोगों की न मानती तो लोग देश या गाँव छोड़ देने की धमकी देते थे ।[3] कृष्ण देवराय जैसा प्रबल सम्राट भी ऐसी घटना नहीं चाहता था । आमुक्तमाल्यद में वह कहता है, उस राजा की कभी भी तरक्की न होगी जिसके अधिकारी करो से ऊबकर भागनेवाली प्रजा को वापस नहीं बुलाते (437) ।

सरकारी आमदनी का चौथा भाग" गुप्त निधि में रखा जाता था जो केवल राष्ट्रीय आपत्ति के समय उपयोग में लाया जाता । इन निधियों के कारण ही मुसलमानों के अभियान के समय दक्षिण भारत में अपार संपत्ति मिली थी ।

1- साउथ इंडियन इंस्क्रिप्शन्स, भाग 6, नं० 48, 50, 59 ।
2- एपिग्राफिया कर्नाटिका, भाग 10
3- साउथ इंडियन एपिग्राफी रिपोर्ट, 1918, परिच्छेद 60
दृष्टव्य - डा० ए०एस०अल्टेकर, पृ० 276-286 ।

इस प्रकार से 2000 ई०पू० से 1200 ई० तक की राजनैतिक गतिशीलता में आपद् राजधर्मों के विविध प्रकार दृष्टिगत होते हैं जिससे राजा व प्रजा दोनों ही प्रभावित थे। ये आपद्धर्म राजनैतिक आपदाओं की दशा में अति आवश्यक एवं अनुपालनीय थे जिससे प्रजा की दैहिक, दैविक व भौतिक उन्नति हो सकी।

निष्कर्ष

प्राचीन भारतीय इतिहास में आपद्धर्म की अवधारणा का गहन अध्ययन करने के पश्चात मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि आपद्धर्म धर्म का ही (संकट) आपद्कालीन संशोधित तथा परिवर्धित स्वरूप है । विविध ग्रंथों का अवलोकन करने के पश्चात् हमारे समक्ष धर्म व आपद्धर्म का स्पष्ट रूप दर्शित होता है । ये ग्रंथ विविध कालों को द्योतक हैं तथा धर्म की परिवर्तनशीलता के व्याख्याता है ।

ऋग्वैदिक काल में धर्म पूजापाठ, यज्ञ-कृत्य, व्रत-नियम तथा सत्य से संबंधित था । इस काल में सामाजिक बन्धन, जटिलता तथा रूढ़िवादिता का सर्वथा अभाव था । एक ही परिवार के व्यक्ति विविध-कर्म करते थे । समाज में आपद्कालीन परिस्थितियों का सामना करने के लिए आपद्धर्म (सनातन धर्म) भी प्रचलित थे (नियोग जिसके द्वारा स्त्रियाँ वंश वृद्धि कर सके) किन्तु उनका प्रचलन सामान्यत: धर्म के ही अन्तर्गत था । अर्थात् आपद्धर्म के भी क्रियाकलाप धर्म की ही सामान्य दशा थी क्योंकि समाज पूर्णत: स्वतन्त्र था, कोई नियम, बन्धन नहीं था । ये मानव सभ्यता के प्रथम चरण थे ।

उत्तर वैदिक काल में धर्म का सम्बन्ध वर्णों के कर्म से जोड़ा गया । समाज में कर्मों का विभाजन वर्ण धर्म के अन्तर्गत किया गया । जो समाज के विविध कर्मों को सुसंचालित तथा सुव्यवस्थित करने की प्रक्रिया थी । इस समय वर्ण व्यवस्था कर्मगत थी । ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र होने के आधार विविध प्रकार के कर्म ही थे और अपने कर्म संपादन को ही धर्म कहा गया ।

सूत्रकाल में वर्ण व्यवस्था जन्मगत हो गयी । इस समय वर्ण व्यवस्था में रूढ़िवादिता दृष्टिगत होती है । अत: इस समय अति संकट की दशा में जीवन निर्वाह हेतु आपद्धर्मों की संकल्पना सूत्रकारों ने की जिसके अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति आपद्काल में अपने से नीचे वर्णों के कर्म कर सकता था जिससे

उसका जीवन सुरक्षित रह सके, जीविकोपार्जन हो सके । ये ही शास्त्रविहित आपद्धर्म थे । (इस काल में ब्राह्मणों के (आपद् स्थिति में) कृषि कर्म करने में कई प्रतिबन्ध थे। उन्हें व्यापार भी विशिष्ट दशाओं में ही करने की अनुमति थी) वर्णों द्वारा अविहित कर्म अपनाने पर दण्ड विधान की व्यवस्था थी ।

मनुस्मृति में भी आपत्कर्त्तव्यों का वर्णन उपलब्ध होता है, इसमें वर्णन है कि अत्यन्त संकट की दशा में ऋषियों ने मांस भक्षण भी किया था ।

महाभारत में ब्राह्मणों के विविध कर्मों में कृषि और अन्य निम्न स्तरीय कर्मों का वर्णन प्राप्त होता है जो वर्णों के आपत्कर्त्तव्यों के द्योतक हैं।

पुराणों में ब्राह्मणों को दण्डित करने का वर्णन है जो उनके निम्न स्तर का परिचायक है ।

पराशर स्मृति के काल में कुछ आपद्धर्मों के कर्म लगातार करने से वे कर्म वर्णों के सामान्य कर्म हो गये तथा वे युग धर्म के अन्तर्गत समाज में ग्रहित किये गये जैसे इस काल में ब्राह्मणों का कृषि कर्म करना सामान्य धर्म हो गया । (क्योंकि कुछ काल से ही ब्राह्मण वर्ग कृषि कर्म में संलग्न था)

इस प्रकार से विविध कालों में धर्म का परिवर्तन हुआ इसी आधार पर विद्वानों द्वारा युग विभाजन किया गया -

युग	धर्म की दशा	प्रमुख धर्म
सत्ययुग	धर्म चार पैरों से युक्त था	तपस्या
त्रेतायुग	धर्म तीन पैरों से युक्त था	ज्ञान
द्वापरयुग	धर्म दो पैरों से युक्त था	यज्ञ
कलियुग	धर्म एक पैर से युक्त रहता है	दान

यह धर्म का ह्रासोन्मुखी परिवर्तन है । जब धर्म का ह्रास होता है उस समय आपद्धर्म का स्वरूप स्पष्ट होने लगता है ।

मनुस्मृति में धर्म की परिवर्तनशीलता के विषय में कहा गया है कि सत्ययुग में दूसरे धर्म हैं तथा त्रेता द्वापर व कलि में दूसरे -दूसरे धर्म हैं ।

इस प्रकार युग के अनुसार धर्म का ह्रास होता रहता है । सत्ययुग में तपस्या, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ तथा कलियुग में दान प्रधान धर्म माना गया है । इस प्रकार से धर्म (गुण या वस्तुओं के स्वभाव) युग-युग में इसी प्रकार बदलते हैं जैसे ऋतु पर ऋतु । जो आचार एक युग में प्रचलित था दूसरे युग में वर्जनिय है ।

आचार्य पराशर ने भी मनु के बातों को प्रामाणिक माना है तथा धर्म की परिवर्तनशीलता के विषय में अपने उद्‌गार व्यक्त किये हैं ।[1]

पराशर ने भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न भिन्न ग्रंथों को धर्म का स्रोत माना है । सतयुग में मनुस्मृति, त्रेता में गौतमस्मृति , द्वापर में शंख लिखित स्मृति तथा कलि में पराशर स्मृति ही प्रधान मानी गयी है ।[2] कलि काल की विशेषताओं का वर्णन करते हुए आचार्य पराशर का मत है कि इस युग में अधर्म धर्म को जीत लेता है, झूठ सत्य पर विजयी होता है । चोर लोग राजा को अपने वश में कर लेते हैं तथा स्त्रियां पुरुषों को जीत लेती हैं । कलि में धर्म का एक ही पाद रह जाता है । तीन पाद नष्ट हो जाते हैं यही धर्म की पराजय और अधर्म की विजय है ।[3] युग-युग में जो धर्म है तथा युग-युग में जो ब्राह्मण है उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिए क्योंकि धर्म तथा ब्राह्मण युग के प्रतीक है ।[4]

आपद्‌धर्म भी धर्म का विषम परिस्थितिजन्य परिवर्तन है । धर्म की परिवर्तनशीलता की व्याख्या करते हुए राबर्ट लिंगट का मत है कि धर्म युग-युग में नहीं बदलता अपितु व्यक्ति के नैतिक मूल्य और चारित्रिक गुणों में एक समयान्तराल में परिवर्तन तथा परिवर्धन होता है । मेधातिथि ने मनु के (1.81)

1- पराशरस्मृति 1.22

2- ,, 1.24 कृते तु मानवा धर्मास्त्रेतायां गौतमाः स्मृताः ।
द्वापरे शंख० लिखिताः कलौ पराशराः स्मृताः ।।

3- ,, 1.30 जितो धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं चैवानृतेन च ।
जितश्चौरैश्च राजानः स्त्रीभिश्च पुरुषाजिताः ।।

4- ,, 1.33 युगे-युगे च ये धर्मास्तत्र तत्र च ये द्विजाः ।
तेषां निन्दा न कर्तव्या युगरूपाहिते द्विजाः ।।

श्लोक की व्याख्या करते हुए कहा है धर्म एक वृषभ है जो कृत युग में चार पैर वाला था किन्तु युग-युग में उसका एक-एक पैर विहिन होता गया । मेधातिथि के विचार से इसका तात्पर्य है कि बाद के युगों में मनुष्यों के चारित्रिक गुण और नैतिक भावना पतन की और अग्रसर होने लगी । इसी प्रकार के विचार कुल्लूक और नारायण के भी हैं जो मनु के टिप्पणीकार हैं ।

इस प्रकार से युग परिवर्तन का अर्थ व्यक्ति की धर्म संपादन शक्ति से है जो विभिन्न समयों में परिवर्तित होती रही है और यही युग परिवर्तन का प्रमुख कारण था ।

जो वेदों का धर्म है वो तो समय से परे नित्य, अटल एवं शाश्वत है किन्तु स्मृतिकारों ने समय-समय पर होनेवाली कठिनाईयों को ध्यान में रखते हुए उन नियमों में परिवर्तन के सुझाव व्यक्त किये हैं जिससे धर्म सब के लिए अनुपालनीय हो सके इसीलिए मनु ने राजा के क्रियाकलापों को धर्म से जोड़ा है । सोते हुए राजा कलियुग , उठने के समय द्वापर कार्य की तैयारी करते समय त्रेता तथा काम करने पर कृत युग की संकल्पना की है । इस प्रकार से राजा ही युग है । लिंगट का मत है कि बाद के युगों में धर्म संपादन की असमर्थता के कारण ही धर्म परिवर्तित होता है[1]। (जो युग परिवर्तन तथा आपद्धर्म संपादन का प्रमुख कारण है ।)

महा भारत में समय परिवर्तन के साथ-साथ धर्म परिवर्तन की बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की गयी है । काल चक्र परिवर्तन के विषम दशाओं में आपद्धर्म ही समाज को गति प्रदान करता है । मनुष्य समय के अधीन है जैसा समय आता है वैसे ही उत्तम , मध्यम और नीच कर्मों में मनुष्य की प्रवृत्ति हो जाती है[2]।

1- रार्बट लिंगट - द क्लासिकल ला आव इण्डिया, थामसन प्रेस, दिल्ली मनु० 3. 02 1973, पृ० 185, 186, 187 ।

2-महाभारत अनुशासन पर्व 62. 10 काल संचोदित: काल पर्याय निश्चित: ।
उत्तमाधममध्यानि कर्माणि कुरुतेवश: ।।

काल के कारण ही समाज की दशाओं में परिवर्तन होते रहते हैं और मनुष्य विषम परिस्थितियों में आपद्धर्मों का सहारा लेकर उन परिवर्तित परिस्थितियों से अपने को समायोजित करता है ।

काल के माता पिता नहीं है, उसका किसी पर अनुग्रह नहीं होता।[1] काल जीव के पाप और पुण्य कर्मों का साक्षी है । वह कर्म की डोर का सहारा लेकर भविष्य में होनेवाले सुख-दु:ख का उत्पादक होता है और वही समयानुसार कर्मों का फल देता है ।[2] जैसे लोहार या बढ़ई का बनाया हुआ यन्त्र सदा उसके चालक के अधीन होता है उसी प्रकार यह सारा जगत काल युक्त कर्म की प्रेरणा से ही सचेष्ट रहता है ।[3]

किसी समय धर्म ही अधर्म रूप हो जाता है और कहीं अधर्म रूप दिखनेवाला कर्म ही धर्म बन जाता है । इसलिए विद्वान पुरुष को धर्म और अधर्म का रहस्य अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए ।[4] समय और स्थान परिवर्तन के कारण ही धर्म अधर्म स्वरूप तथा अधर्म धर्म स्वरूप में परिवर्तित हो जाता है ।[5] आपत्तिकाल आने पर समाज द्वारा लगाये गये सामाजिक ,नैतिक बन्धन शिथिल होनेवाले बताये गये हैं । आपत्तिकाल में सामाजिक व्यवस्था में भी परिवर्तन करना अनुपयुक्त नहीं माना गया है । संकट में पड़कर जीवन रक्षा चाहनेवाले विद्वान पुरुष को

1- महाभारत अनुशासन पर्व 33.17 न तस्य मातापितरौ नाउग्राह्योहिकश्चन ।

2- महाभारत,शा०प०राज० अनु० प० 33. 19

कर्मसूत्रात्मकं विद्धि साक्षिणं शुभपापयो ।
सुख दु:ख गुणोदर्कं कालं कालफलप्रदम ।।

3- ,, ,, 33.22 त्वष्ट्रे व विहितं यन्त्रं यथा चेष्टयितुर्वशे ।
कर्मणा कालयुक्तेन तथेदं चेष्टेत् जगत् ।।

4- ,, ,, 33.32 अधर्मरूपो धर्मो हि कश्चिदस्ति नराधिप ।
धर्मश्चाधर्म धर्मरूपोऽस्ति तच्च ज्ञेयं विपश्चिता ।।

5- ,, ,, 78.31 भवत्यधर्मो धर्म हि धर्माधर्मावुभावपि ।
कारणाद्देश कालस्य देशकाल: सतादृश ।।

दीनचित्त न होकर कोई न कोई उपाय ढूंढ निकालना चाहिए और सभी उपायों द्वारा अपने आपकी आपत्तिकालीन परिस्थिति से उद्धार करना चाहिए ।[1]

इस प्रकार से आपद्धर्म धर्म को विकसित और सुनियोजित करने की एक सारगर्भित प्रक्रिया है । आपद्धर्म का मूलमन्त्र जीवन रक्षा, अस्तित्व रक्षा, अधिकार रक्षा की भावना से संबंधित है । इसी के द्वारा धर्म की अवरुद्ध गति को गति प्रदान किया जाता है जिससे पुनः जीवन सुनियोजित हो सके तथा धर्म का संवर्धन हो सके ।

1- महाभारत , शान्तिपर्व, आपद्धर्म पर्व 141.100

एवं विद्वानदीनात्मा व्यसनस्थो जिजीविषुः ।
सर्वोपायैरुपायज्ञो दीनमात्मानमुद्धरेत ।।

संकेत शब्द - सूची

अथर्व० वे०	- अथर्ववेद
अग्नि० पु०	- अग्नि पुराण
अभि० शा०	- अभिज्ञान शाकुन्तलम्
आ०ध०सू०	- आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आ०गृ०सू०	- आपस्तम्ब गृहस्थसूत्र
ईश० उ०	- ईश उपनिषद्
ई० आई०	- इपिग्राफिया इण्डिया
ऋग०	- ऋग्वेद संहिता
ऐ० ब्रा०	- ऐतरेय ब्राह्मण
कठ० उ०	- कठोपनिषद्
कौ० अ०	- कौटिल्य अर्थशास्त्र
केन०उ०	- केन उपनिषद्
कूर्म०पु०	- कूर्म पुराण
गौ० ध०सू०	- गौतम धर्म सूत्र
छा०उ०	- छान्दोग्य उपनिषद्
तै०सं०	- तैतरिय संहिता
बौ० ध०सू०	- बौधायन धर्मसूत्र
वृह०स्मृ०	- वृहस्पति स्मृति
वृह०उ०	- वृहदारण्यक उपनिषद्
मेधा०भा०	- मेधातिथि भाष्य
महा०अनु०प०	- महाभारत अनुशासन पर्व
महा०आ०प०	- महाभारत आदि पर्व
महा०शा०प०	- महाभारत शान्ति पर्व
शत०ब्रा०	- शतपथ ब्राह्मण

मूल ग्रन्थ सूची

अग्निपुराण : आनन्दाश्रम प्रेस, पुना, 1967 ई०

अर्थशास्त्र कौटिल्य और चाणक्य सूत्र : श्री वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1984

अथर्ववेद संहिता : दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, 1948

अमरकोष : भट्टोजी दीक्षित, निर्णय सागर प्रेस, 1929

अष्टाध्यायी पाणनी कृत : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1962

आपस्तम्ब धर्मसूत्र : अनु० उमेश चन्द्र पाण्डे, काशी संस्कृत सीरीज़, चौखम्बा, वाराणसी 1934

ऋग्वेद संहिता : दामोदर सातवलेकर, पारडी, 1957

एकादशोपनिषद् : डा० सत्यव्रत विद्यालंकार, विजयकृष्ण लखनपाल, दिल्ली तृतीय संस्करण, 1979

कृत्य कल्पतरु : लक्ष्मीधर, ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, 1943-44 ई०

गौतमधर्मसूत्र (मिताक्षरावृत्ति) : डा० उमेश चन्द्र पाण्डे, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 1966 ई०

छान्दोग्य उपनिषद् : स्वामी स्वाहानन्द, रामकृष्ण मठ, मद्रास, 1975

तैत्तिरिय उपनिषद् : राधाकृष्णन म्योर हैदु लाइब्रेरी, रस्किन हाउस, लन्दन, 1933 ई०

पाराशर स्मृति : पाराशर, बाम्बे संस्कृत सीरीज़, 1893 ई०

बौधायन धर्मसूत्र : उमेश चन्द्र पाण्डे, काशी संस्कृत सीरीज़ चौखम्बा, वाराणसी, 1934

बीस स्मृतियाँ : श्री राम शर्मा आचार्य, संस्कृत संस्थान, वेद नगर, बरेली, 1954 ई०

बृहस्पति स्मृति : गायकवाड़, ओरियण्टल सीरीज़, बड़ौदा, 1941

मत्स्य पुराण : वेंक्टेश्वर प्रेस, बम्बई, 1813 ई०

मनुस्मृति : (अनु०) गणेशदत्त पाठक, ठाकुर प्रसाद एण्ड संस, राजा दरवाजा, वाराणसी, सं० 2031

मनु पर मेधातिथि भाष्य : डा० गंगानाथ झा विवोलिथिका इण्डिया, नं० 256

मृच्छकटिक : शूद्रक, हरिदास ग्रंथमाला, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, 1954 ई०

महाभारत : दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड

,, आदिपर्व : 1968 ई०

,, अनुशासन पर्व : 1978 ई०

शान्तिपर्व : 1979 ई०

भीष्म पर्व : 1972 ई०

विराट पर्व : 1969 ई०

द्रोण पर्व : 1975 ई०

यजुर्वेद संहिता : दामोदर सातवलेकर, पारडी, 2003 संवत्

याज्ञवल्क्य स्मृति : आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रंथावली, 1903, 1904 ई०

रामायण : वाल्मीकि – टी०आर०व्यासाचार्य, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1905-1911 ई०

शतपथ ब्राह्मण : मूल संस्करण अल्वर्ट वेवर, अनु० गंगा प्रसाद उपाध्याय, गोविन्दराम, हासानन्द, दिल्ली, 1988.

सामवेद संहिता : दामोदर सातवलेकर, बलसाड, 1969

गौण ग्रंथ

अय्यर, पी०एस०शिवस्वामी : इवाल्युशन आव द हिन्दू मारल आइडियाज़, कलकत्ता युनिवर्सिटी, 1935 ई०

अल्टेकर, ए० एस० (1) सोर्सेज आव हिन्दू धर्म, शोलापुर, 1952 ई०
(2) प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, ग्रंथ सं० 1 भारतीय दर्पण ग्रंथमाला, भारतीय भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, संवत 2004 ।
(3) द पोजीशन आव वूमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, भारतीय भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद 1959 ई० ।

अग्रवाल, पी० सी० : कास्ट रिलिजन एण्ड पावर, श्रीराम सेण्टर, न्यू दिल्ली, 1972 ई०

अग्रवाल, वासुदेव शरण : (1) वेदविद्या, काशीपुरी, वाराणसी (वर्ष)
(2) प्राचीन भारतीय लोक-धर्म, ज्ञानोदय ग्रंथमाला, ग्रन्थ 3, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी-5, 1964 ई०
(3) पाणिनि कालीन भारतवर्ष, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, दिल्ली, वि०सं० 2012.

आयंगर, के०वी० आर० : सम आस्पेक्टस आव द हिन्दू व्यू आव लाइफ एकार्डिंग टु धर्मशास्त्र, युनिवर्सिटी आव बड़ौदा, 1952 ई०

आयंगर, पी०टी० एस० : लाइफ इन ऐंशियण्ट इण्डिया, मद्रास, 1912 ई०

आप्टे, वी० एम० : सोशल एण्ड रिलिजस लाइफ इन ग्रह्य सूत्राज, बाम्बे, 1954 ई० ।

एंटजिओनी, अभीताई : स्टडीज इन सोशल चेंज, हाल्ट रीनकर्ट एण्ड निस्टन, लन्दन 1966 ई०

उपाध्याय, बलदेव : वैदिक साहित्य और संस्कृति, शारदा संस्थान, वाराणसी, 1976 ई०

कुप्पूस्वामी, बी० : धर्म एण्ड सोसायटी, इण्डिया प्रेस, मद्रास- 600,002, 1977 ई०

कविराज, म०म० गोपीनाथ : भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम एवं द्वितीय खण्ड, राष्ट्रभाषा प्रकाशन, बिहार, 1963 ई०

कांग्ले, आर० पी० : स्टडीज आॅव कौटिल्य अर्थशास्त्र, युनिवर्सिटी आॅव बाम्बे, जिल्द 1,2,3, 1960-63 ई०

काणे, पाण्डुरंगवामन : हिस्ट्री आॅव द धर्मशास्त्र, गवर्नमेण्ट ओरिण्यटल सीरीज़, क्लास बी०, नं० 6, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना ।
जिल्द 1, 1963 ई०
हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र,
जिल्द 2, भाग 1, 1941 ई०
हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र,
जिल्द 2, भाग 2, 1941 ई०
हिस्ट्री आॅव धर्मशास्त्र,
जिल्द 2, 1946 ई०
हिस्ट्री आॅव धर्मशास्त्र,
जिल्द 4, 1953 ई०
हिस्ट्री आॅव धर्मशास्त्र,
जिल्द 5, भाग 2, 1958 ई०
हिस्ट्री आॅव धर्मशास्त्र,
जिल्द 5, भाग 2, 1962 ई०
सभी जिल्दों का प्रकाशन स्थान -
गर्वनमेण्ट ओरियण्टल सीरीज़, क्लास बी० नं० 6, भण्डारक ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना ।

कीथ, ए०बी० : द रिलिजन एण्ड फिलासफी आव द वेदज एण्ड उपनिषद्
हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1952 ई०

कार्लेटोन, ए०सी० : द ऋग्वेद एण्ड वैदिक रिलिज़न, बनारसीदास एंड को०, न्यू दिल्ली, 1913 ई० ।

खान, बेंजामिन : द कानसेप्ट आव धर्म इन वाल्मीकि रामायण, मुंशीराम मनोहरलाल, नई सड़क, दिल्ली -6, 1966 ई०

गुप्ता, एन० जी० सेन : सोर्सेज आँव ला एण्ड सोसायटी, कलकत्ता, 1974 ई०

गुप्ता, सुरमादास : डेवलपमेण्ट आव मारल फिलासोफी इन इंडिया, ओरियण्टल लांगमैन्स, कलकत्ता, 1966। ई०

गोपाल, लल्लन जी : द इकानामिक्स लाइफ आफ नार्दन इंडिया, प्र०सं०, मोतीलाल बनारसीदास, 1965 ई० दिल्ली

घूर्ये, जी० एस० : कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया, तृतीय संस्करण, पापुलर बुक डिपो, बाम्बे, 1957 ई०

कास्टर एण्ड रेस इन इण्डिया, लन्दन, 1968 ई०

घोषाल, यू० एन० : ए हिस्ट्री आवं द हिन्दू पोलिटिकल थियरीज़, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1959 ई०

हिस्ट्री आँव द हिन्दू पब्लिक लाइफ, भाग 1, कलकत्ता 1945 ई०

घोष जे०सी० : द प्रिंसिपल्स आफ हिन्दू ला, तृतीय संस्करण, कलकत्ता, 1917-19 ई० ।

घोष, बी० के० : हिन्दू आइडियल आव लाइफ, कलकत्ता, 1947 ई०

चटर्जी, सुनीत कुमार : द कल्चरल हैरेटेज आफ इंडिया, जिल्द 1, प्रथम संस्करण, कलकत्ता, 1958 ई०

चट्टोपाध्याय, के० : द ओरिजिन आव द कास्ट, विश्वभारती, 1925 ई०

चौधरी , आर० के० : स्टडीज़ इन एंशियण्ट इंडियन ला एण्ड जस्टिस, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1953 ई०

जायसवाल, के०पी० : मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, कलकत्ता, 1930 ई०

जाली, जे० : हिन्दू ला एण्ड कस्टम्स, भारतीय पब्लिशिंग हाउस, वाराणसी, 1975 ई०

झा, गंगानाथ : हिन्दू ला इन इट्स सोर्सेज़, इलाहाबाद, 1930 ई०

डेरिट, जे०डी०एम० : हिन्दू ला : पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट, कलकत्ता, 1957 ई०

डेरिट, जे०डी०एम० : रिलिजन ला एण्ड स्टेट इन इण्डिया, लन्दन, 1968 ई०

तिलक, बाल गंगाधर : गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र, वैभव प्रेस, गिरिगांव, बम्बई-4, 1933 ई०

दत्त, एम०एन० : द धर्मशास्त्र आर द हिन्दू ला कोड्स, तृतीय जिल्द, कलकत्ता, 1908 ई०

दत्त, बी० एन० : स्टडीज़ इन इंडियन सोशल पोलिटी, कलकत्ता 1986 ई०

दत्त, रोमेश चन्द्र : एंशियण्ट इण्डिया (जिल्द 5) कलकत्ता, 1986 ई०

दवे, जे० एच० : इंमारटल इण्डिया, जिल्द 2, भारतीय विद्या भवन, बाम्बे, 1959 ई०

दास, ए०सी० : ऋगवैदिक इण्डिया, कलकत्ता, 1921 ई०

नेल्सन, ई० डब्लू० : ए० व्यूव आव हिन्दू ला, मद्रास, 1887 ई०

पारसी वेल : द लैण्ड आव द वेद, लन्दन 1854 ई०

पुसालकर, ए०डी० : स्टडीज़ इन द एपिक्स एण्ड पुराणाज़ आॅव इण्डिया, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1955 ई०

पाण्डेय, जी०सी० : भारतीय संस्कृति, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर, 1962 ई०
स्टडीज़ इन द ओरिजिंस आव द बुद्धिज्म, इलाहाबाद युनिवर्सिटी, 1957 ई०

पाण्डेय, जी०सी० : बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, लखनऊ, 1963 ई०

पाण्डे, राजबली : भारतीय नीति का विकास, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1965 ई०
हिन्दू संस्कार, राष्ट्रभाषा ग्रंथमाला, 12 चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, 1957 ई०

प्रो० इन्द्रा : द स्टेटस आव वूमेन इन एंशियण्ट इण्डिया, बनारस, 1955

प्रभु०, पी० एन० : हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, द्वितीय संस्करण, बाम्बे, 1954 ई०

प्रसाद, बेनी : थियरी आॅव गवर्नमेण्ट इन एंशियण्ट इण्डिया, इलाहाबाद, 1927 ई०

बनर्जी, एस०सी० : धर्म सूत्राज़ (ए० स्टडी इन द ओरिजिन्स एण्ड डेवलपमेण्ट) पुन्थी पुस्तक, कलकत्ता, 1962 ई०

बनर्जी, ए०सी० : स्टडीज़ इन द ब्राह्मण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1963 ई०

बार्थ, ए० : रिलिजन्स आॅव इण्डिया, लन्दन 1882 ई०
ए० व्यू आॅव द हिन्दू लाज (रीव्यू) लन्दन, 1878 ई०

बसु, जोगीराज : इण्डिया आव द एज आव द ब्राह्मन्स, संस्कृत पुस्तक भण्डार, कलकत्ता, 1969 ई०

ब्लूम फील्ड, एम०एम० : रिलिजन आव द वेदाज़, पिटमैंस सन्स, न्यूयार्क एंड लन्दन, 1908 ई०
द रिलिजन्स आव द इण्डिया,

बेटलो, आन्द्रे : कास्ट क्लास एण्ड पावर, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, बाम्बे, 1969 ई०

बेले, एफ०जी० : कास्ट एण्ड इकानामिक फ्रंटियर, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, 1958 ई०

भण्डारकर, डी०आर० : सम आसपेक्ट्स आँव एंशियण्ट इंडियन कल्चर, मद्रास, 1940 ई०

भट्ट, गौरीशंकर : भारतीय संस्कृति एक समाज शास्त्रीय समीक्षा, साहित्य सदन, देहरादून, 1965 ई०

भट्टाचार्या, जे० : कमेण्टरीज़ आँव हिन्दू ला, कलकत्ता, 1909 ई०

महादेवन, टी०एम०पी० : आउट लाइन्स आव हिन्दूइज्म, मद्रास, 1960 ई०

मजूमदार, आर० सी० : कारपोरेट लाइफ इन एशियंट इंडिया, कलकत्ता युनिवर्सिटी, 1922 ई०

मीज, जी० एच० : धर्म एण्ड सोसाइटी, ग्रेट रसल स्ट्रीट, लन्दन, 1953 ई०

मिश्र, जयशंकर : ग्यारहवीं सदी का भारत, वाराणसी 1968 ई०

मिश्र, राजेन्द्र : अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन, इलाहाबाद, 1970

म्यूलर, मैक्स : इंडिया वाट कैन इट टीच अस, लागमेन्स ग्रीन एण्ड कं०, न्यूयार्क, 1899 ई०

मैक्डानेल, ए० ए० : वैदिक माइथालोजी, स्टेन बर्ग, 1897 ई०

मैत्र, एस० के० : ए एथिक्स आव द हिन्दूज़, कलकत्ता युनिवपर्सटी, 1925 ई०

मुकर्जी, संध्या : सम आस्पेक्ट्स आव सोशल लाइफ एन एशियंट इंडिया इलाहाबाद, 1976 ई०

मुकर्जी, राधाकुमुद : द फण्डामेण्टल यूनिटी आँव इंडिया,
द लाँगमैंस, लन्दन, 1914 ई०

मोटवानी, के० : मनु ए स्टडी इन हिन्दू सोशल थियरी,
मद्रास, 1934 ई०

मुल्ला० डी० एफ० : प्रिंसपल आँव हिन्दू ला, बाम्बे 1966 ई०

यादव, बी०एन० एस० : भारतीय संस्कृति,
सैंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1973 ई०

रगोजिन, जेड०ए० : वैदिक इंडिया, लन्दन, 1889 ई०

राय, एस. एन. : पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद, 1968.

राय चौधरी, एच०सी० : पोलिटिकल हिस्ट्री आव एंशियण्ट इंडिया,
कलकत्ता, 1950 ई०

राव, विजय बहादुर : उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति,
भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1966 ई०

राधा कृष्णन, एस० : धर्म और समाज,
राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, 1962 ई०
द हिन्दू व्यू आव लाइफ,
ऐलन एण्ड अनविन, लन्दन, 1927 ई०

राबर्ट लिंगट : द क्लासिकल ला आवं इंडिया,
युनिवर्सिटी आफ कैलिफोर्निया प्रेस, लन्दन, 1963 ई०

रानाकिन, जी० सी० : बैकग्राउण्ड आँव इंडियन ला,
कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी, 1946 ई०

राणा, रणजीत सिंह : धर्म की हिन्दू अवधारणा (छठी शताब्दी से 12 शताब्दी)
सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1977 ई०

राम, गोपाल : इंडिया आँव द वैदिक कल्पसूत्राज़,
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1951 ई०

राज, भारती : प्राचीन भारत में सामाजिक गतिशीलता, ब्राइट रेज पब्लिकेशन, साउथ मलाका, इलाहाबाद, 1985 ई०

रेनु, लुई : वैदिक इण्डिया, लन्दन, 1889 ई०
रिलिजन्स आँव एशियण्ट इण्डिया, लन्दन, 1953 ई०

ला, एन० एन० : सम आस्पेक्ट्स आँव एशियण्ट इंडियन पालिटी, आक्सफोर्ट, 1921 ई०

लुनिया, बी० एन० : लाइफ एण्ड कल्चर इन एशियण्ट इंडिया, आगरा, 1975 ई०

विद्यालंकार सत्यकेतु : प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, श्री सरस्वती सदन, मंसूरी, 1977 ई०

वेस्टरमार्क, ई० : ओरिजिन एण्ड डवलपमेण्ट आव मारल आइडियाज़, जिल्द 1,2 लन्दन 1912 ई०

बोरा, धैर्यवल पी० : इवाल्यूशन आँव द मारल्स इन द एथिक्स, बम्बई, 1966 ई०

स्टोक्स, डब्ल्यू० : हिन्दू ला बुक, मद्रास, 1865 ई०

सेटलर, एफ० : हिन्दू ला बुक आव इनहेरिटेनस, मद्रास, 1911 ई०

स्पेलमैन, जे० डब्ल्यू० : पोलिटिकल थियरी आँव एशियण्ट इंडिया, आक्सफोर्ड, 1964 ई०

सरकार, शास्त्री जी०सी० : ए ट्रीटीज आव हिन्दू ला, कलकत्ता, 1933 ई०

सरकार, एस० सी० : सम आस्पेक्ट्स आव द अर्लीयेस्ट सोशल हिस्ट्री आँव इंडिया, लन्दन, 1928 ई०

सरकार, डी०सी० : सोशल लाइफ इन एंशियण्ट इंडिया, कलकत्ता, 1971 ई०

सिन्हा, एच०एन० : सावरेनटी इन एशियण्ट इंडियन पोलिटी, लन्दन, 1938 ई०

सेन गुप्ता, एन०सी० : सोर्सेज आव ला एण्ड सोसायटी इन एंशियण्ट इंडिया, कलकत्ता, 1914 ई०

सेनार्ट, ई० : कास्ट इन इंडिया, लन्दन, 1939 ई०

सेन, ए० के० : स्टडीज़ इन हिन्दू पोलिटिकल थाट, कलकत्ता, 1926 ई०

शर्मा, आर० एस० : शूद्राज़ इन एशियण्ट इंडिया, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1958 ई०

सम आस्पेक्टस आॅव द [illegible] पोलिटिकल आइडियाज, दिल्ली, 1959 ई०

हापकिन्स, ई०डब्ल्यू० : द ग्रेट इपिक आव इंडिया, लन्दन, 1909 ई०

द म्युचुअल रिलेशन आव द फोर कास्टस एकाडिंग टु मानव धर्मशास्त्र, लीपजिग, 1881 ई०

हाजरा, आर० सी० : स्टडीज़ इन द पुराणिक रिकार्ड एकार्डिंग टु हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, ढाका, 1946 ई०